

कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन



आचार्य स्ल श्री कनकनन्दीजी

कर्म का दार्शनिक-वैज्ञानिक विवेचन

Karm kaa Darshnik-Vaigyanik Vivechan

लेखक - Author

आचार्यरत्न श्री कनकनन्दीजी महाराज

Acharya-Ratna Shree Kanaknandiji Maharaj

प्रकाशक - Publisher

धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान

Dharm-Darshan-Vigyan Shodh Sansthan

धर्म दः
कर्म व
लेखक
आशीर
सहयोग
अध्यक्ष
कार्या
वरिष्ठे
उपाध्य

मानद
मन्त्री
संयुक्त
प्रचार
परम

संस्क
मूल्य
प्रति
द्रव्य

प्रक
(1
(2
(3
(4
4-
लें
6,
अ
*

ग्रन्थ प्रकाशन सन्दर्भ

अहमदाबाद से 17-11-96 से 5-1-97 तक तीर्थ यात्रा एवं पोदनपुरी के चातुर्मास की स्मृति में हमारे परम पुण्य कर्म के उदय से श्री प. पू. गणधराचार्य कुन्थुसागरजी का संघ सहित अहमदाबाद से पालीताणा, गिरनारजी व तारंगंजी तीर्थक्षेत्र की यात्रा करवा करके तथा महेसाणा तक यात्रा कराने हेतु व बम्बई नगरी में पोदन पुर में चातुर्मास में सेवा करने की स्मृति में यह शास्त्रजी छपाने का शुभ अवसर आचार्य श्री कनकनन्दी की कृपा से प्राप्त हुआ है। आचार्य श्री कनकनन्दी का दर्शन प्राप्त करने का शुभअवसर अहमदाबाद में प्राप्त हुआ। उनकी प्रवचन एवं लिखने की शैली जो आज के जमाने के अनुसार विज्ञान को साथ में लेकर नई पीढ़ी को समझाने का है बहुत ही उच्च कोटि की है। इसी प्रयास से प्रभावित होकर मेरी भी भावना उनके साहित्य छपाने की हुई तथा गुरुदेव के शुभ आशीर्वाद से यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ। इससे मैं श्री गुरुदेव का आभारी हूँ।

इस “कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचना” में जो कर्म के विषय में गुरुदेव ने वर्णन किया वह अद्भुत है। जीवों को सुख-दुःख कैसे प्राप्त होता है व किन कारणों से आते हैं उस कर्म की थ्योरी समझाई है। इसे पढ़ने से नई पीढ़ी कोई कार्य करेगी तो सोच समझकर करेगी जिससे अशुभ आस्रव न हो। यह पुस्तक मुझे बहुत पसन्द आयी।

शान्तादेवी रमेशचन्द्रजी कोटडिया
मुंबई

(धर्म-दर्शन-विज्ञान शोध संस्थान के परम संरक्षक)

आशीर्वाद

वर्तमान काल बड़ा निकृष्ट है, प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान शून्य होता जा रहा है। ज्ञान बिना व्यक्ति एक प्रकार का अन्धा होता है। उसकी चर्म चक्षु तो रहती हैं किन्तु ज्ञान चक्षु नहीं रहती। जीव स्वार्थ वश कुछ करना ही नहीं चाहता, दूसरों को सिखाना तो चाहता है लेकिन स्वयं नहीं सीखना चाहता, इसलिए ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। पुस्तकीय ज्ञान तो बहुत बढ़ रहा है लेकिन सभ्यता नहीं आ रही है। विनय नहीं आ रहा है, जिधर देखें उधर अशांति का वातावरण है। ऐसे अशांति के वातावरण में विज्ञान के साथ कर्म की परम आवश्यकता है और वैसी ही पुस्तकें भी चाहिये। पुस्तकें तो बहुत हैं लेकिन धार्मिक एवं वैज्ञानिक परक नहीं हैं।

इसलिए हमारे उपाध्याय मुनि कनकनदीजी सद् साहित्य का प्रचार हो इस भावना से पुस्तकें लिख रहे हैं, लोगों के वृद्धिगत हो, विनय आवे ऐसा पुरुषार्थ कर रहे हैं। यह एक सद् पुरुषार्थ है, जीवों का उपकारी है, ज्ञान वृद्धि का कारण है। आपके सामने अच्छा-अच्छा साहित्य आ रहा है। आपके साहित्य की सब जगह प्रशंसा हो रही है, बहुत अच्छी बात है। महाराजश्री के साहित्य को सबको खूब पढ़ना चाहिये। वास्तव में आबाल वृद्धों के पढ़ने योग्य है। वर्तमान विज्ञान युग में इस प्रकार के साहित्य की परम आवश्यकता है। वस्तु स्वरूप क्या है? लोगों को मालूम ही नहीं है। उपाध्याय जी के साहित्य की बहुत आवश्यकता है। अब आपके सामने एक और पुस्तक आ रही है। पुस्तक का नाम: "कर्म का दार्शनिक-वैज्ञानिक विवेचन" है। पुस्तक बहुत अच्छी है इस पुस्तक में अच्छी व्याख्या की गई है, लेखक को मेरा आशीर्वाद है। यह पुस्तक छपवाने वाले को भी मेरा आशीर्वाद है। आप इसी तरह अपने द्रव्य का सदुपयोग सत् साहित्य प्रचार में लगाते रहें। इस पुस्तक के लेखन कार्य में सहयोग करने वाले साधु, साध्वी, बच्चियाँ, लेखकार, प्रोफेसरों को भी मेरा मंगलमय आशीर्वाद है। आप सभी सत्यधर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए पूर्णसत्यस्वरूप बनें यही मेरी वीर प्रभु से कामना है।

गणधराचार्य कुन्धुसागर
दिनांक : 25-10-90

आ. कनकनन्दी कुण्डली की दृष्टि में

आचार्य श्री कनकनन्दीजी की मुनिदीक्षा - कुण्डली

12	सू. 10 च.	9
1	के. शु.	8
	म. 11 बु.	7
2	ने.	6
	8 ह.	5
3		4 रा.
	5	3
4 रा.	गु. 6 श.	

म. 11 बु.	सू. 9	ह.
12	के. 10 च.	8
	शु.	7
1		6
	7 प्लू.	5
2	4 रा.	4
	5	3
3		
	गु.	श.

मुनि दीक्षा 5 फरवरी 1981 प्रातः 9.25 श्रवणबेलगोला जि. हासन, कर्नाटक

अथ फलितं लिख्यते जातक ग्रन्थानुसारेण :- गुरुदेव की मुनिदीक्षा 5 फरवरी 1981 को प्रातः 9.25 मीन लग्न घनिष्ठा नक्षत्र के प्रथम चरण मकर राशि में हुई है। मीन लग्न पर लग्नेश गुरु तथा राशिश शनि की सप्तम भाव से पूर्ण दृष्टि है। मीन लग्न वाले जातक का स्वभाव सरल निरुपद्रवी, परोपकारी, न्यायवृत्ति वाला, विचार शील, अभ्यासी, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी तथा अनुशासन प्रिय होता है। मन जिज्ञासु अधिक विषयों की जानकारी प्राप्त करने की लालसा तथा रुचि होती है। मन अस्थिर किन्तु उत्पादक होता है। जातक प्रत्येक प्रकार के विषयों की जानकारी की महत्त्वकांक्षा रखता है। मुनिराज उदारदिल, धार्मिक क्रियावन्त, तत्वज्ञानी विश्वासपात्र तथा तपस्वी होते हैं। मीन लग्न में बुध सप्तमेश होने तथा शुक्र तृतीयेश व अष्टमेश होने से मारकेश बनता है। अतः शुक्र एवं बुध की दशा अन्तरदशा में समाधि से सल्लेखना का योग बनता है जो सन् 2009 से स्वास्थ्य खराब 2012 तथा 2023 से 2027 के मध्य आता है। गुरुदेव को ऊष्णता तथा लीवर सम्बन्धी व्याधियाँ विशेष होने की संभावना है। मीन लग्न वाले जातक श्रद्धालु, ईश्वर में विश्वास रखने वाला, अतिथि प्रिय, सामाजिक रुढ़ियों (मर्यादायें) एवं नियम का पालन करने वाले, प्रवचन व बातचीत में प्रवीण, अहंवादी (आत्मगौरवशील) और समझदार होते हैं। सहिष्णु, भलाई करने वाले होते हैं। अधिकतर ये अपने आप में ही केन्द्रित रहते हैं। आर्थिक मामलों में ये लचीले होते हैं। लेखन कार्य में ये विशेष रुचि रखते हैं तथा संगीत, नाटक काव्य तथा विज्ञान

आदि में विशेष आस्था रखते हैं। आत्मविश्वास इनमें भरपूर होता है तथा जीवन में ये अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। न्याय का पक्ष लेते हैं तथा कानून का सम्मान करते हैं। स्वभाव से इतने सौम्य होते हैं कि भले ही कोई उनके साथ दुष्टता का व्यवहार करे किन्तु ये बदले में भलाई ही करेंगे, बुराई नहीं। शरीर रुक्ष तथा शीतल होता है। गर्मी सहन नहीं कर पाते हैं। इनका कद मझोला व रंग फीका श्याम होता है। ऐसे जातक वस्तुओं का उपभोग करते रहने पर भी त्यागी एवं निर्लिप होते हैं। जातक लोक कल्याण के लिए सदा तत्पर रहता है तथा मिलनसार, आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति का इच्छुक एवं विद्वान होता है। आयु के पूर्वार्ध में ऐसा जातक भारी कष्ट उठाता है किन्तु अपने आत्म-विश्वास, उद्योग, उद्यम शीलता एवं धैर्य से जीवन के उत्तरार्ध में सफलता प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य तथा रत्नत्रय सुरक्षित रहता है। शनि की दृष्टि जातक को निर्मलमति तथा वात-पित्त प्रधान रोग देता है। गुरु जातक को चिरायु, सदाचारी धर्म के प्रति आस्थावान एवं विद्वान बनाता है। संघस्थ सहचारी साधुओं के प्रति हार्दिक स्नेह युक्त अनुशासन व कठोरता का पालन करते हैं। अहंवादी (स्वाभिमानी), शोधकर्ता एवं गंभीर पैनी दृष्टि के साथ-साथ तार्किकज्ञान तथा वाणी देता है, प्रवचन प्रिय किन्तु कटुभाषी (कटुसत्य) बनाता है। जनवरी 98 से फरवरी 99 तक स्वास्थ्य में गिरावट, रोग-प्रकोप तथा शारीरिक पीड़ा का योग बनता है। उक्त काल में शरीर व स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। ज्ञानपिपासुओं व शिष्यों के प्रति व्यवहार श्रीफलवत् रहता है। इच्छित कार्य में सफलता मिलती है। धनाभाव नहीं रहता है किन्तु धन के प्रति मोह भी नहीं रहता है। यशलिप्सा (प्रभावना की भावना) बनती है। कर्मक्षेत्र में सफलता मिलती है तथा दीक्षा के 16 एवं 36 वर्ष में विशेष सफलता प्राप्त होती है। गुरु एवं शनि की युति विवाह न करने की इच्छा तथा त्यागी वृत्ति व ब्रह्मचर्य धारण का योग बनाता है जो गुरुदेव के लिए श्रेष्ठ है। मुनिराज को उदार, स्नेही, अनुशासन प्रिय, विश्वासपात्र तत्वज्ञानी, मेहनती लेखक बनाता है। दीक्षा के पश्चात् 16, 20, 22, 24, 25, 27, 29, 32, 34, 36 तथा 41 वर्ष की आयु इष्टानिष्ठ फलदायी रहेगी। ज्ञान प्राप्ति में बाधाएँ आती हैं तथा लीवर सम्बन्धी व्याधियाँ, अत्यधिक पसीना आना, पीलिया, गैस कब्जी, अल्सर, सर्दी-जुकाम आदि का विशेष प्रकोप होता है। कुण्डली तप त्याग तथा मुनि दीक्षा की दृष्टि से योग्य है मात्र ज्ञान प्राप्ति में बाधाएँ तथा धनाभाव के योग बनते हैं। कुण्डली उत्तम है।

बसन्तीलाल जैन, M.A.B.Ed.R.E.S. देवज्ञ भूषण

आ. श्री कनकनन्दी कुण्डली की दृष्टि में उपाध्याय श्री कनकनन्दी की आचार्य पदारोहण - कुण्डली

च. 4	3	मं. 1	सू. 12	श. के.
	बु. शु.	2		
	5भाग्य		11	
6 रा.	प्लू. 8		ह. 10	ने.
	7	गु.		

रा. 6	5भाग्य	3	बु. 2	शु.
	च. 4		मं. 1	सू.
	7		ह. 10	श. 12
प्लू. 8	ने. 10		गु. 9	के. 11

आचार्य पदारोहण दि. 25 अप्रैल 1996 को उदयपुर में प्रातः 8.35 गुरुवार को गुरु पुष्यामृत योग में हुआ है। वृषभ लग्न के द्वितीय द्रेष्कोण में लग्नेश शुक्र की स्थिति में पुष्य नक्षत्र के प्रथम चरण में तथा कर्कराशिस्थ स्वगृही चन्द्रमा की उपस्थिति में अमृत सिद्धि योग में हुआ है। अतः यह कुण्डली पूर्व मुनिदीक्षा की कुण्डली की अपेक्षा श्रेष्ठ बन गई है। स्वगृही शुक्र, उच्चराशिस्थ मेष का सूर्य स्वगृही कर्क का चन्द्रमा, स्वगृही मेष का भौम, धनु राशिस्थ स्वगृही बृहस्पति के प्रभाव से स्वगृही पंच ग्रही योग बन गया है। जो गुरुदेव को मुनिदीक्षा की अपेक्षा यश, सम्मान, ज्ञान गरिमा एवं समाज में प्रतिष्ठा तथा तप एवं त्याग वृत्ति में महती सफलता प्राप्त करता है। इन ग्रहों के प्रभाव से विशिष्ट राजयोग हुआ है। अतः निरन्तर प्रगति तथा उन्नति के योग बनते हैं। अभीप्सित फल की प्राप्ति, विज्ञान के प्रति समर्पण व शोध वृत्ति, तार्किक बुद्धि, गहन-गम्भीर विषयों के प्रति रुचि, निरन्तर लेखन कार्य एवं संघ वृद्धि तथा दीक्षा देने के योग बनते हैं। वृषभ लग्न में पदारोहण होने से गुरुदेव मायालु, आग्रही विरोध सहन नहीं करने वाले, शान्त, अभिमानी (स्वाभिमानी) तथा संघ त्यागी वृत्ति वाले शिष्यों अर्थात् व्रति कुटुम्ब का भार उठाने में सक्षम, प्रेमी, भावनाशील, कल्पनाशील, भावुक, शांत, निर्णय करने वाले, छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देने वाले, व्यवहार कुशल धर्म के प्रति दृढ़ निश्चयी, कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, रत्नत्रय के धारक तथा पोषक

अत्यधिक परिचितों के प्रति जानकारी व स्नेह रखने वाले, स्नेह भाव वाले, दृढ़ निश्चयी, प्रवचन पटु तथा महत्वाकाँक्षी होते हैं। लीवर सम्बन्धी बीमारियाँ बनी रहेगी। आयु सुखपूर्ण है। वृषभ लग्न में आचार्य पदारोहण होने से गुरुदेव हर समय नवीन शोध में प्रवृत्त रहते हैं। तथा स्वभाव से यह गम्भीर एवं कम मित्र या परिचित रखने वाले होते हैं। प्रथम तो कोई अनुचित निर्णय या कार्य करते नहीं, यदि भूल या प्रमादवश अनुचित कार्य हो जाय तो उसके बाद घण्टों पछताते रहते हैं। अपने आप में मस्त और धुन के पक्के होते हैं। जिस काम को एक बार छेड़ लिया है उसके पीछे पूरी तरह लग जाना इनका स्वभाव होता है। ये निरन्तर योजनायें बनाते रहते हैं तथा अपने ही विचारों को मूर्त रूप देने में सदा तत्पर रहते हैं। इनका व्यक्तित्व भव्य और कार्य करने की शैली नूतन होती है। अति महत्वाकाँक्षी, उत्तम चरित्रवान, कठोर अनुशासन प्रिय किन्तु मृदु स्वभावयुक्त साधु, ज्ञानदान देने में सदा तत्पर रहते हैं। दीक्षा देते समय पात्र-कुपात्र का पूर्ण ध्यान रखते हैं। तथा अकारण भीड़ एकत्रित करने के बजाय सुपात्र के प्रति विशेष लग्नशील होते हैं। पदारोहण के बाद से 24 से 28 वर्ष की आयु में मारकयोग बनता है। उक्त काल में स्वास्थ्य के प्रति विशेष ध्यान रखना आवश्यक है। स्वास्थ्य नरम ही चलता रहेगा। शोध प्रवृत्ति के कारण नित नवीन खोज में लगे रहते हैं। अडियल (सत्य-निष्ठा) स्वभाव के होते हैं। जो मन में ठान लिया सो ठान लिया। जब तक अपने विचारे हुए कार्य को पूरा नहीं कर लेते चैन से नहीं बैठते हैं। शासन करने की इनमें क्षमता होती है किन्तु अहंवादी (स्वाभिमानी) प्रवृत्ति के कारण अपने शिष्यों के प्रति कभी असहिष्णु (दोष न सहने वाले) हो जाते हैं। तेजस्वी, तपस्वी तथा उच्च पदारूढ़ होते हैं।

कुण्डली में स्वगृही अष्टमस्थ धनुराशि का गुरु दीर्घायु योग बनाता है तथा समाधि के समय उच्चाभिलाषी स्थिति में ऊर्ध्वगमन की स्थितियाँ बनाता है। शान्त अवस्था में सल्लेखना की स्थिति में दृढ़चित्त होकर त्यागवृत्ति अपनाने के बाद मृत्यु का आलिङ्गन करते हैं क्योंकि जीवन के लक्ष्य को उन्होंने प्राप्त कर लिया होता है। दीर्घायुयोग है 9-4-2027 से 18-7-2029 तक का काल इस कुण्डली से समाधिकाल बनाता है। संक्षेपतः कुण्डली श्रेष्ठ है।

बसन्तीलाल जैन देवज्ञभूषण (M.A. भूगोल, हिन्दी) ऋषभदेव (राज.)

पुरोवाक्य

(कर्म सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण)

विश्व शाश्वतिक अनादि-अनंत है। इस शाश्वतिक विश्व में संचरण करने वाले जीव भी अनादि से हैं। विश्व में जीव को परिभ्रमण कराने का जो कारण है वह है "कर्म"। बिना कर्म के संयोग से जीव की विचित्रपूर्ण विभिन्न अवस्थायें, गतिविधियाँ नहीं हो सकती। संसार अनादि होने के कारण संसार में संसरण करने वाले संसारी जीवों के कर्म भी अनादि हैं। परन्तु जो भव्य है, वह अनादि परम्परा से प्रवाहमान कर्म को सम्पूर्ण रूप से नष्ट करके निष्कलंक, सिद्ध, बुद्ध बन जाता है। इसलिए भव्य जीव की अपेक्षा कर्म अनादि होते हुए भी सान्त है। परन्तु जो अभव्य जीव हैं, जो कभी भी कर्मों के बन्धन से विमुक्त होकर शाश्वतिक सुख का अनुभव नहीं कर सकते, उनकी अपेक्षा कर्म अनादि अनंत है।

कर्म को प्रायः प्रत्येक दार्शनिक एवं धार्मिक परम्परा स्वीकार करती है। कोई कर्म को भाग्य कहता है, तो कोई अदृष्ट, अन्य एक पूर्वकृत। अन्यान्यदर्शन कर्म को स्वीकार करते हुए भी और उसका प्रतिपादन करते हुए भी जैन धर्म में जो सूक्ष्म वैज्ञानिक तर्कपूर्ण गणितीय ... विस्तृत वर्णन पाया जाता है, वैसा वर्णन मुझे अन्य किसी दार्शनिक या धार्मिक साहित्य में देखने को नहीं मिला। जैन दर्शन कर्म को केवल एक भावात्मक संस्कार स्वीकार नहीं करता है, अपरञ्च भौतिक (पौद्गलिक, जड़त्मक, रासायनिक, जैविक-रासायनिक) संस्कार (संश्लेष-बन्धन, संयोग) भी मानता है। जिस समय में जीव अज्ञान, ईर्ष्या, काम-क्रोधादि के वशीभूत होकर कुछ मन, वचन या काय से कार्य करता है, उस समय में जीव के सम्पूर्ण आत्म प्रदेश में परिस्पंदन होता है। उस परिस्पंदन से आकर्षित होकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त कर्मवर्गणाओं में से कुछ वर्गणायें आकर्षित होकर आती हैं, इसको कर्मास्रव कहते हैं। यह कर्मण वर्गणा भौतिक (पौद्गलिक परमाणुओं के समूह स्वरूप) होती है। रागद्वेषादि कषाय भाव से आकर्षित हुई कर्म वर्गणाएँ आत्मा के असंख्यात प्रदेश में संश्लेष रूप से मिल जाती हैं, इसको

कर्मबन्ध कहते हैं। जैसे, धनविद्युत एवं ऋणविद्युत से आवेशित होकर के लौह खण्ड, चुम्बक रूप जब परिणमन करता है तब स्वक्षेत्र में स्थित योग्य लौह खण्ड को आकर्षित करता है। उसी प्रकार राग (धनात्मक आवेश, आसक्ति, आकर्षण) द्वेष (ऋणात्मक आवेश, विद्वेष, विकर्षण) से आवेशित होकर, जीव भी स्वयोग्य कर्माण-वर्गणाओं को आकर्षित करके स्वप्रदेश में संश्लेष रूप से बाँधता है, और कुछ यहाँ ध्यातव्य विषय यह है कि अनेक कर्माण वर्गणाँ भी जब तक जीव के योग और उपयोग से प्रभावित नहीं होती तब तक बंधरूप में परिणमन करके कर्म अवस्था को प्राप्त नहीं करती है। उनमें से कुछ वर्गणाँ सामान्य वर्गणा हैं तो कुछ वर्गणाँ उम्मीदवार (प्रत्याशीरूप) हैं। जैसे - देश के सामान्य नागरिक होते हैं, उनमें से कुछ नागरिक, एम. एल. एम्. पी. बनने के लिए प्रत्याशी होते हैं। जब नागरिकों से मत (वोट) प्राप्त करके जययुक्त होते हैं, तब वे एम. एल. ए., एम. पी., मंत्री बन जाते हैं। मंत्री आदि बनने पर सामान्य नागरिक से अधिक सत्ताधारी होकर दूसरों पर अनुशासन करते हैं। उसी प्रकार सामान्य वर्गणाँ सामान्य नागरिक के समान होती हैं। जब राग-द्वेष रूपी मत प्राप्त कर लेती हैं तब विशेष शक्तिशाली होकर जीव के ऊपर ही अनुशासन चलाती हैं। जैसे- सामान्य नागरिक मत प्राप्त करके विभिन्न विभाग के मंत्री आदि बनते हैं, उसी प्रकार कर्माण वर्गणाँ राग-द्वेष आदि मत प्राप्त करके ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत कर लेती हैं। एक समय में, एक साथ एक-दो परमाणु कर्म रूप में परिणमन नहीं करते, इतना ही नहीं, करोड़ों-अरबों, संख्यात, असंख्यात, अनंत परमाणु भी कर्मरूप में परिणमन नहीं करते हैं, किन्तु केवल अनंतानंत परमाणु कर्मरूप में एक साथ परिणमन करते हैं। जिस समय में कर्म बंधते है उस समय में आत्मा के एक दो एक या करोड़ों-अरबों प्रदेश में एक साथ नहीं बंधते, किन्तु जब कर्म बंधेंगे तब सम्पूर्ण आत्मा में एक साथ ही कर्म बंधते हैं। प्रत्येक जीव के मध्य के आठ आत्मप्रदेश चलायमान नहीं होने पर भी कर्मबन्धन से सहित ही हैं क्योंकि अन्यान्य आत्मप्रदेश में जब परिस्पंदन होता है तब कर्म वर्गणाँ आकर्षित होकर आती हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेश अखण्ड होने

के कारण तथा आठ मध्य प्रदेश में द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म होने के कारण आकर्षित हुई कर्माण-वर्गणाँ भी आठ मध्य प्रदेश में विभाजित होकर बंध जाती हैं। यदि आठ मध्य प्रदेश कर्म से रहित हो जायेंगे तब प्रत्येक संसारी जीव भी अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी बन जाएगा, परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है।

यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनंतानंत परमाणु को छोड़कर संख्यात, असंख्यात, परमाणु कर्मरूप में परिणमन क्यों नहीं करते? इसका उत्तर देते हुए पूर्वाचार्य ने कहा है- कि अनंतानंत परमाणुओं के समूह स्वरूप वर्गणा को छोड़कर अन्य वर्गणा में कर्मरूप परिणमन की योग्यता नहीं होती है। यह तो हुआ आगमोक्त उत्तर। कुछ तार्किक दृष्टि से विचार करने पर यह सत्य सिद्ध भी होता है। तर्क यह है जब कर्म बंध होता है तब युगपत् आत्मा के असंख्यात प्रदेश में कर्मबंध होते हैं। असंख्यात प्रदेश में युगपत् कर्मबन्ध होने के कारण युगपत् सम्पूर्ण आत्मप्रदेश में योग (परिस्पंदन) एवं उपयोग (कषाय भाव) का होना है। यदि एक साथ असंख्यात प्रदेश में कर्म बंधते हैं तब असंख्यात से कम परमाणु से तो कार्य ही नहीं चलेगा। दूसरा तर्क यह है कि एक आत्मा अनादि से कर्म बद्ध होने के कारण एक-एक आत्मप्रदेश में अनंतानंत परमाणु बंधे हुए हैं। जो नये कर्म परमाणु बंधते हैं, वे प्राचीन कर्म परमाणु के साथ बंधते हैं इसीलिए उन कर्म परमाणु के साथ बंधने के लिए अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है, और भी एक तर्क यह है कि प्रत्येक आत्मप्रदेश में अनंत ज्ञान, सुख, वीर्य आदि मौजूद हैं। उन अनंत शक्तियों को पराभूत करने के लिए अनंत शक्ति की भी आवश्यकता होती है। इसीलिए अनंत शक्तिशाली जीव को पराभूत करके, बंधन में डालकर, संसार में परिभ्रमण कराने के लिये अनंतानंत परमाणु की आवश्यकता होती है। जैसे - सामान्य पशु को बाँधने के लिए सामान्य रस्सी से काम चल सकता है, परन्तु विशेष शक्तिशाली पशु सिंह, हाथी आदि के लिए विशेष रस्सी आदि की आवश्यकता होती है और एक तर्क यह है कि? एक समय में जो कर्म वर्गणाँ निर्जरित होती हैं, उस वर्गणा में अनंतानंत परमाणु रहते हैं। "व्यय के अनुसार आय" इस न्यायानुसार

व्यय परमाणु अनंतानंत होने के कारण आय परमाणु भी अनंतानंत होने ही चाहिए ।

आस्रव एवं बंध तत्व संसार तत्व है । इस आस्रव एवं बंध तत्व के कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है । इसीलिए दोनों तत्व हेय (त्यजनीय) हैं । प्रत्येक समय में जीव योग और उपयोग से जैसे - कर्म को आकर्षित करके बांधता है, वैसे ही स्वाभाविक स्थिति बंध के क्षय से, कर्म की निर्जरा भी होती है । परन्तु यह निर्जरा नवीन कर्मबंध के लिए कारणभूत हो जाती है, क्योंकि जिस समय कर्म उदय में आकर निर्जर्ण होता है, उस समय जीव में उदय प्राप्त कर्म के निमित्त से तज्योग्य, योग और उपयोग होता है । उस योग और उपयोग से प्रेरित होकर पुनः कर्म का आस्रव एवं बंध हो जाता है । इसीलिए इस प्रकार की निर्जरा को सविपाक निर्जरा-अकुशल निर्जरा, अकामनिर्जरा कहते हैं । जैसे - बीज योग्य भूमि में गिरने के बाद वृक्षरूप में परिणमन कर लेता है उसी प्रकार यह निर्जरा नये कर्म को जन्म देने के कारण भी बन जाती है । यह निर्जरा विशेषतः एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में होती है । सत्य प्रीति, सद्ज्ञान, सदाचरण के माध्यम से जो कर्म आत्मा से पृथक् होता है, उसको अविपाक निर्जरा, सकाम-निर्जरा या सकुशल निर्जरा कहते हैं । यह निर्जरा परम्परा से मोक्ष तत्व के लिए कारण भूत है । आध्यात्मिक जागरण के बाद कुछ विशेष पापकर्म का आना रुक जाता है, उसको संवरण या संवर कहते हैं । संवर पूर्वक निर्जरा ही यथार्थ से उपादेय है, इसीलिये संवर एवं निर्जरा मोक्ष तत्व के लिए कारणभूत है । जब सम्पूर्ण आध्यात्मिक जागरण या रत्नत्रय की पूर्णता होती है, तब सम्पूर्ण कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं- गल जाते हैं, खिर जाते हैं तब उसको मोक्ष तत्व कहते हैं ।

उपरोक्त सिद्धान्त से यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण जीव अनादि काल से कर्म बंधन से जकड़े होते हुए भी आध्यात्मिक पुरुषार्थी जीव सम्पूर्ण बंधनों को तोड़कर, सर्वशक्तिमान, पूर्ण स्वतंत्र, शुद्ध-बुद्ध भगवान् बन जाता है परन्तु जो आध्यात्मिक पुरुषार्थ से हीन होते हैं, वे कर्म बंध से रहित होकर सुख का आस्वादन नहीं ले पाते हैं, अर्थात् अनादि काल से कर्म बलवान होते

हुये भी भव्य जीव का पुरुषार्थ कर्म से भी अधिक शक्तिशाली होने से अन्त में भव्य जीव, स्वपुरुषार्थ से सम्पूर्ण कर्म को नष्ट करके परमात्मा बन जाता है परन्तु अभव्य जीव के लिए कर्म अनादि से बलवान है एवम् अनन्त तक बलवान ही रहेगा । अन्य एक दृष्टिकोण से विचार करने पर जैसे बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, वैसे ही पुरुषार्थ से कर्म की उत्पत्ति होती है । वर्तमान का पुरुषार्थ भविष्य के लिए भाग्य बन जाता है, इसलिये भाग्य और पुरुषार्थ परस्पर में जन्य, जनकत्व, अनुपूरक, परिपूरक हैं । इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान में कोई सुखी या दुःखी है तो उस सुख-दुःख का उत्तदायित्व स्वोपार्जित पूर्व कर्म है । इसलिये उस सुख-दुःख के लिए निमित्त को ही मुख्य कारण मानकर दूसरों पर राग द्वेष करना अज्ञानियों का काम है । प्रत्येक सुख-दुःख के लिए स्वोपार्जित पूर्व कर्म ही उपादान कारण है तो अन्य बाह्य कारण निमित्त कारण हैं । ज्ञानियों को यथार्थ रहस्य का परिज्ञान करके मूल कारण को ही हटाना चाहिए । जैसे, सिंह पर कोई लाठी प्रहार करता है तो वह लाठी को नहीं पकड़ता । परन्तु प्रहार करने वाले को ही पकड़ता है । परन्तु कुत्ते को कोई लाठी से प्रहार करता है तो वह लाठी को ही पकड़ता है, आदमी को नहीं । उसी प्रकार ज्ञानी सिंह के समान सुख-दुःख का मूल कारण कर्म को जानकर उसके निर्मूलन करने का पुरुषार्थ करता है, परन्तु अज्ञानी कुत्ते के समान कर्म को नहीं जानता हुआ अन्य बाह्य कारण, अन्य जीव या वस्तु आदि को मानकर उसको ही नष्ट करने का पुरुषार्थ करता है । वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस कर्म बंध सिद्धान्त पर निम्न प्रकार से विचार कर सकते हैं ।

प्रत्येक दृष्टव्य पदार्थ को छोटे-छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है, जिन्हें अणु कहते हैं । ये अणु ही परस्पर संयुक्त होकर इतना बड़ा कण (स्कंध) बनाते हैं अथवा बनाते चले जाते हैं कि वे दृष्टव्य हो जाते हैं । प्रश्न यह है कि ये अणु परस्पर संयुक्त क्यों होते हैं ? इन सभी अणुओं में एक विशेष पारस्परिक आकर्षणबल (mutual force of attraction) होता है जिसके द्वारा ही ये परस्पर संयुक्त होते हैं किन्तु यह बल स्थायी नहीं होता, इसी कारण किसी बाह्य अथवा आन्तरिक (बहिरंग या अन्तरंग)

बल से प्रेरित होने पर ये विभक्त (पृथक्) हो जाते हैं। इस बल को वाण्डर वाल आकर्षण बल (Vander Waals force of attraction) व बंध के टूटने को (cleavage breaking) कहते हैं। जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त के आधार पर इस आकर्षण को 'आस्रव' व पृथक् होने को 'निर्जरा' कहते हैं। जीव एवम् **कार्माण वर्गणाओं** (molecules having the nature of KARMA) के परस्पर संश्लेषण-संबंध को कर्म बंध (bond formation) कहते हैं।

अणुसिद्धान्त के अनुसार किसी भी पुद्गल का किसी अन्य पुद्गल से संबंध संसजन बल (co-adhesive force) जो समान अणुओं में कार्य करता है। व असंजन बल (adhesive force) (जो विपरीत प्रकृति के अणुओं में कार्य करता है) के द्वारा होता है, चाहे वह एक से हो, दो से हो अथवा संख्यात या असंख्यात पुद्गलों से हो।

मैंने हिन्दू, बौद्ध, जैन दर्शन में वर्णित कर्म सिद्धान्त का आवलम्बन लेकर यह "कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन" कृति का संकलन किया है। इस कृति के संकलन का मूल उद्देश्य, सुखार्थी, मुमुक्षु जीव कर्म का कारण, कर्म का फल, कर्म नष्ट करने का उपाय जानकर, मानकर एवं अनुकरण कर निष्कर्म बनें। वस्तुतः मैं केवल इस कृति का संकलन कर्ता हूँ। मूल रचयिता वे महापुरुष हैं जिनकी कृति के आवलम्बन से मैंने इस कृति की संरचना की है। इस कृति के मध्य-मध्य में अनेक स्थान पर स्वतुच्छ बुद्धि के अनुसार आधुनिक, वैज्ञानिक सिद्धान्त का तुलनात्मक वर्णन के साथ-साथ कुछ नवीन तर्क भी प्रस्तुत किया है। मैंने जो तर्क प्रस्तुत किया है उसे मैं अन्तिम सत्य या पूर्ण सत्य नहीं मानता हूँ, तो भी वह असत्य है यह भी प्रतिभासित मुझे नहीं होता है। विज्ञ पाठकों को जहाँ असत्य प्रतीत हो तो वह विषय मुझे अवगत कराने का कष्ट करें। मैं उन महापुरुषों का आभारी हूँ, जिनकी अमूल्य कृति से मैं लाभान्वित हुआ हूँ।

इस कृति के लेखन कार्य में मुजफ्फनगर की मेरी प्रिय धार्मिक शिष्याओं एवं शिष्यों का योगदान विशेष रहा है। वे हैं - कु. सोनिया, कु. रेणु जैन, सारिका जैन, कु. नितिन जैन, पूनम जैन, उमंग जैन, जुगनु कुमार जैन,

सचिन कुमार जैन, दीपक कुमार जैन, बड़ौत की श्रीमती मीनू जैन।

श्रीमती सौ. रेखा जैन की प्रेरणा से इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का अर्थभार स्व. रिखबदास जैन की धर्मपत्नी, श्रीमती अंगूरी देवी व उनके सुपुत्र गुणपाल जैन ने वहन किया है। इस द्वितीय संस्करण का अर्थभार श्रीमती शान्तादेवी रमेशचन्द्रजी कोटडिया तथा उनके पुत्र बम्बई एवं अमरीका के सज्जनों ने वहन किया है। उपरोक्त सहायक, प्रेरक, द्रव्यदाता आदि को मेरा मंगलमय आशीर्वाद है। वे यथायोग्य अपने तन, मन, धन एवं समय का सदुपयोग करते हुए धर्म-पुरुषार्थ से पुण्य सम्पादन करके परम्परा से कर्म रहित बनें, ऐसी मेरी जिनेन्द्र देव से प्रार्थना है।

अखिल जीव-जगत्, सत् पुरुषार्थ से सम्पूर्ण कर्म से रहित होकर सच्चिदानन्द बनें इन शुभकामनाओं के साथ -

आचार्य कनकनदीजी

19-11-97

संस्थान के लिये आपका सहयोग

(1) आजीवन सदस्यता	= 5001.00
(2) संरक्षक	= 11,000.00
(3) परम संरक्षक	= 25,000.00
(4) शिरोमणि संरक्षक	= 51,000.00
(5) परम शिरोमणि संरक्षक	= 1,00,000.00

साहित्य प्रकाशन करने वाले ज्ञान-दानी तथा आजीवन सदस्य आदि को समस्त साहित्य निशुल्क प्राप्त होते हैं।



सम्पादकीय

यत्प्राग्जनमनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभं
तदैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छ्रित्ये
सर्वारम्भपरिग्रहं परित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥ 262 ॥ आत्मानुशासनम्

अर्थात् प्राणी ने पूर्वभव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है, वह दैव कहा जाता है। उसकी उदीरणा से प्राप्त हुए दुःख अथवा सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है – पाप कार्यों को छोड़कर केवल पुण्य कार्यों को ही करता है – वह भी अभीष्ट है – प्रशंसा के योग्य है। किन्तु जो विवेकी जीव उन दोनों (पाप-पुण्य) को ही नष्ट करने के लिये समस्त आरम्भ व परिग्रह रूप पिशाच को छोड़कर शुद्धोपयोग में स्थित होता है वह जो सज्जन पुरुषों के लिये वन्दनीय (पूज्य) है।

कर्म को प्रायः प्रत्येक आस्तिक दर्शन में स्वीकार किया गया है। भले वह दर्शन प्राच्य हो अथवा पाश्चात्य हो। कोई कर्म को दैव तो कोई विधाता तो कोई संस्कार मानते हैं। जीव की प्रत्येक घटना के पीछे कर्म के योगदान को स्वीकार करते हुए भी उसका सूक्ष्म, तर्कपूर्ण, वैज्ञानिक पद्धति में वर्णन जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शन में नहीं पाया जाता।

कर्म एवम् पुरुषार्थ परस्पर अनुपूरक/परिपूरक/जन्यजनक/कार्य-कारण (Simultaneous) होते हैं। वर्तमान का पुरुषार्थ ही भविष्यत् का भाग्य है, भूत का पुरुषार्थ ही भविष्यत् का भाग्य है। जैसे – अण्डा से पक्षी या पक्षी से अण्डा अथवा वृक्ष से बीज व बीज से वृक्ष। इसलिये दोनों सिक्के के दो पहलू हैं। वर्तमान समय में जो कुछ सुख या दुःख अनुभव करते हैं, उस सुख या दुःख के लिये भी तात्कालीन पुरुष के साथ-साथ, भूत कालीन कर्म का भी योगदान रहता है। यह परम्परा अनादि होते हुए भी सुदृढ़ सम्यक् पुरुषार्थ के माध्यम से उस परम्परा का समूल विध्वंस कर सकते हैं। जैसे वृक्ष से बीज व बीज से वृक्ष की परम्परा अनादि होते हुए भी, यदि बीज को अग्नि द्वारा भस्म किया जाता है। तब वह परम्परा नष्ट

हो जाती है। इसी प्रकार जब जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के माध्यम से या धर्म-पुरुषार्थ के माध्यम से ध्यानाग्नि से समस्त कर्म बीज को भस्म कर डालता है, तब उस भस्मीभूत कर्मबीज से पुनः कर्म या संसार रूपी बीज अंकुरित नहीं होता है। जो सम्यक् पुरुषार्थहीन अभव्य जीव है, वह अनादि अनन्त तक कर्म के बन्धन से बंधा हुआ संसार में परिभ्रमण करता है किन्तु सम्यक् पुरुषार्थी भव्य जीव समस्त कर्म बन्धन को तोड़कर शाश्वतिक मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

जैन दर्शन में कर्म सम्बन्धी अनेक शास्त्र उपलब्ध हैं। यथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड, कषाय पाहुड जय धवला, पंचसंग्रह, तत्त्वार्थ सूत्र, तत्त्वार्थ सार आदि। इसमें वर्णन पाया जाता है कि सम्पूर्ण तीन लोक में व्याप्त कार्माण वर्गणा जीव के योग्य (स्पंदन) एवम् योग्य समय आने पर जीवों को यथा योग्य सुख-दुःख फल देती है। यह कर्म केवल काल्पनिक संस्कार स्वरूप नहीं है, परन्तु वास्तविक कर्म पुद्गल परमाणुओं (Karmic molecules) की विभिन्न परिणमन रूप अवस्था विशेष है, उस जैविक-रासायनिक क्रिया (Bio-chemical reaction) से प्रभावित होकर जीव विभिन्न सुख-दुःख अवस्था विशेष को प्राप्त करता है। जैसे आधुनिक शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान से सिद्ध है कि विभिन्न ग्रन्थियों से विभिन्न प्रकार के अन्तःस्रावी द्रव उत्सर्जित होते हैं जिससे जीव की शारीरिक, मानसिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यदि इस द्रव से शारीरिक-मानसिक क्रियाएँ प्रभावित हो सकती हैं, तब अनन्तानंत कर्म परमाणुओं के समावेश के कारण तथा उसके प्रभाव से शरीर, मन व भाव पर क्यों प्रभाव नहीं होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार जीव के कर्म व विचारों से जो मन में परिस्पंदन होता है, उस के कारण पदार्थों के परमाणुओं के इलेक्ट्रॉन उत्तेजित हो जाते हैं जिससे वहाँ पर आवेश परिलक्षित होने लगता है व उपस्थित कर्म वर्गणाएँ कर्म के अनुसार आत्म प्रदेशों में आकर्षित होकर बंध जाती हैं व समय आने पर अपना प्रभाव दिखलाती हैं तब उनकी सक्रियण ऊर्जा (energy of activation) के समाप्त होकर उनके उत्तेजित अवस्था (excited state) से तलस्थ अवस्था (ground state) में आने से इलेक्ट्रॉन उतने क्रियाशील नहीं रहते तथा वे परमाणु आत्म प्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं जिसे निर्जरा कहा गया है तथा अपना प्रभाव दिखलाने के समय को

ही भाग्य कह सकते हैं। इसका जितना सूक्ष्म व वैज्ञानिक विवेचन जैन दर्शन में है, आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त अभी उसकी पूर्ण व्याख्या में असमर्थ है किन्तु विश्वास है कि भविष्य में विज्ञान उसे समझाने में अवश्य सफल होगा।

इन्हीं जैन दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन एलाचार्य उपाध्याय श्री कनकनंदीजी महाराज ने इस पुस्तक 'कर्म का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विवेचन' में किया है। जिज्ञासु पाठक इससे निश्चय ही एक स्पष्ट विचार धारा बना लेंगे। इस पुस्तक के सहयोगियों, प्रकाशन के सहयोगी का अत्यन्त आभारी हूँ। इससे स्वच्छ लेखन में सहयोगी पल्लवी जैन, रेणू जैन को भी धन्यवाद देता हूँ।

प्रभात कुमार जैन (एम.एससी.)

प्रवक्ता रसायन विभाग,

४८ कुंजगली, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

पाषाण युग के लोग तथा आधुनिक सभ्य युग के लोगों में इतना अन्तर है कि तब वे पाषाण से दूसरों को मारते थे और पत्ते आदि से शरीर को सजाते थे, किन्तु अभी बहुमूल्य उपकरण से दूसरों को मारते हैं और पाषाण आदि से शरीर को सजाते हैं।

卐卐卐

पहले के अन्धविश्वास और अभी के अन्धविश्वास में इतना अन्तर है कि पहले देव-देवियों के प्रति अन्धविश्वास अधिक था। वर्तमान में नेता, अभिनेता, खलनेता, खेलनेता के प्रति अन्धविश्वास अधिक है।

विषय सूची

अध्याय 1.	पृष्ठ संख्या
(1) कर्म की सिद्धि	1
(2) जैसा बोओगे, वैसा पाओगे	3
(3) कर्म की प्रबल शक्ति	10
(4) ग्रहादि सुख-दुःख देने में असमर्थ	26
(5) जीव की विभिन्न गति के वैज्ञानिक कारण	27
(6) द्रव्यकर्म एवं भावकर्म परस्पर जन्यजनकत्व	32
अध्याय 2.	
(1) आस्रव का लक्षण	40
(2) आस्रव के सांपरायिक और ईर्यापथ भेद	40
(3) ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु	43
(4) दर्शनावरण कर्म के आस्रव के हेतु	44
(5) दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के हेतु	46
(6) चारित्र्य मोहनीय कर्म के आस्रव के हेतु	48
(7) अन्तराय कर्म के आस्रव के हेतु	49
(8) पुण्य संपादन आस्रव के कारण	51
(9) पापकर्मों के संचय (आस्रव) का कारण	55
(10) आयुर्कर्म के आस्रव	58
नरक के योग्य कर्म, देवगति के योग्य कर्म, मनुष्यगति के योग्य कर्म, स्त्री पर्याय को प्राप्त करने योग्य कर्म, भोग-भूमिज के योग्य कर्म, नपुंसक होने योग्य कर्म, तिर्यग्गति के योग्य कर्म, निगोद के योग्य कर्म, कौआ, गीध, सुअर में जन्म लेने का कर्म, कौआ होने का कर्म, मुर्गा, मृग होने का कर्म, कीड़ा, गधा होने का कर्म, चूहा होने का कर्म, सियार, भेड़िया, स्थावर होने का कर्म, सर्पादि गति प्राप्त होने योग्य कर्म	
(11) अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु	67
(12) शुभनाम के आस्रव के कारण	69
(13) तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के हेतु	69
(14) तीर्थकर प्रकृति का लक्षण	71
(15) तीर्थकर प्रकृति का महत्व	74
(16) दूसरों के बोधिलाभ में तीर्थकर पुण्य कर्म का प्रभाव	75

(17) नीच तथा उच्च गोत्र प्राप्त होने का कर्म	76
(18) उच्च गोत्र प्राप्त होने का कर्म	77
अध्याय 3.	
(1) कर्म बन्ध होने का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक कारण	79
(2) बंध के भेद एवं कारण (सामान्य)	85
(3) कर्मबन्ध के भेद (विशेष)	91
(4) कर्मों के स्वभाव (प्रकृतिबंध)	93
(5) पापकर्म प्रकृतियाँ	100
(6) पुण्यकर्म प्रकृतियाँ	101
(7) मोहनीय कर्म की अट्हाईस प्रकृतियाँ	101
(8) नामकर्म की 93 प्रकृतियाँ	105
(9) गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ	110
(10) अन्तराय कर्म के पाँच भेद	110
(11) बंध योग्य प्रकृतियाँ	111
(12) कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबंध	112
(13) कर्मों का जघन्य स्थितिबंध	112
(14) अनुभवबंध का लक्षण	113
(15) प्रदेश बंध	114
अध्याय 4.	
(1) पुण्य एवं पाप कर्म के फल	117
(2) पुण्य के फल	118
(3) पाप के फल	120
(4) पुण्य कर्म के फल (विशेष)	126
(5) पुण्यात्मा प्रमोद करता है	127
(6) पुण्य करने में शीघ्रता करें	128
(7) पुण्य का संचय सुखदायक है	128
(8) पुण्य को थोड़ा न समझें	129
(9) पापकर्मों के कटुफल	131
(10) पापी शोक करता है	132
(11) पापी अपने ही कर्मों से अनुताप करता है	136
(12) पाप कर्म का फल नरक	139
अध्याय 5.	
(1) विविध कर्मों के वैचित्र्यपूर्ण फल	146

मनुष्यों के विसमता के कारण, धन की रखवाली के कर्म, निर्धन के भोग का कारण, सहजधनी, प्रयत्न से धनी, प्रयत्न से भी गरीब, वृद्धावस्था में ऐश्वर्य प्राप्ति का कर्म, संतानहीन होने का कर्म, इष्टवियोग होने का कर्म, निर्धन का नारी प्रिय होने का कर्म, बुद्धिमान का दुःखी होने का कर्म, मूर्ख का ऐश्वर्यवान होने का कर्म, मेधावी होने का कर्म, दुर्बुद्धि होने का कर्म, दुर्गतिगामी होने का कर्म, असमर्थ शरीर प्राप्त करने का कर्म, ऐश्वर्यवान युवा रोगी का कर्म, विकलांग बनने का कर्म, कुबड़े होने का कारण, गुणी एवं निर्गुणी होने का कर्म, दीन-अनाथ होने का कर्म, विपत्तिग्रस्त होने का कर्म, दास होने का कर्म, मूक बनने का कर्म, बधिर बनने का कर्म, पंगु बनने का कर्म, अन्धे बनने का कर्म, दिव्यरूप प्राप्त करने योग्य कर्म, कुरूप होने का कर्म, कायर व धीरवीर होने का कर्म, दृढ़ शरीर को प्राप्त करने का कर्म, दातृत्व गुण प्राप्त होने का कर्म, सौभाग्यशाली होने का कर्म, सर्वसम्पदाओं के स्वामी होने का कर्म, भोग सम्पदाओं को प्राप्त होने का कर्म, इष्ट संयोग प्राप्त होने का कर्म, सुसंग एवं कुसंग प्राप्त होने का कर्म, अशुभाशय होने का कारण, निन्दनीय होने का कर्म, शुभाशय होने का कारण, धर्मात्मा होने का कारण, शिवमार्ग के पथिक होने का कर्म, मूढामूढ़ होने का कर्म, मिथ्यामार्ग में अनुराग होने का कर्म, योग्यायोग्य पुत्रादि प्राप्त होने का कर्म, महारोगी होने का कर्म, मुखरोगी होने का कर्म, कर्णरोगी होने का कर्म, उदरशूलादि के कर्म, पैर रोग का कर्म, वातादि रोग का कर्म, उन्मत्तादि होने का कर्म, दीन-हीन रोगी होने का कर्म, निरोगी सुखी जीवन होने का कर्म।	
(2) विभिन्न युग में कर्मानुसार सुख-दुःख	183
(3) राष्ट्र में संकट आने का कर्म	186
(4) युद्ध होने का कर्म, नरसंहार का कर्म	187
अध्याय 6.	
(1) पुरुषार्थ से कर्म में परिवर्तन	188
(2) पुरुषार्थ की अन्तिम विजय	195
(3) दैव (भाग्य) की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता	201
(4) कर्म त्याग का क्रम	208
अध्याय 7.	
विभिन्न दर्शन में वर्णित कर्म	220
अध्याय 8.	
कर्मों के विचित्र फल	233

वेधशाला जयपुर में आचार्य श्री कनकनन्दीजी



राष्ट्रीय-वैज्ञानिक संगोष्ठी के कार्यकर्ता तथा शोधार्थी



1

कर्म की सिद्धि

विश्व में विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण जीव दृष्टिगोचर होते हैं। द्रव्य दृष्टि से अखिल जीव जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया (वायरस) से लेकर पूर्ण विकसित मनुष्य तक ही नहीं परन्तु अनंत ज्ञान सम्पन्न अरिहन्त सिद्ध भगवान भी एक समान है। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि द्रव्य अपेक्षा तथा जातीय अपेक्षा सम्पूर्ण अनंतान्त जीव एक समान होने पर भी उसमें आकार-प्रकार, शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, आचार-विचार में जो विभिन्नता परिलक्षित होती है उसका कारण क्या है? बिना कारण से क्या उनमें यह वैचित्र्यपूर्ण अन्तर हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं, बिना विभिन्न प्रकार कारणों से विभिन्न कार्य होना असंभव है। आचार्य कुन्द-कुन्द देव नियमसार में संसारी जीव में जो विभिन्न प्रकार आचार-विचार परिलक्षित होता है उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि -

“णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लब्धी।”

अनेक प्रकार के जीव हैं एवं अनेक-अनेक प्रकार के कर्म या दैव हैं। इसलिये उनके स्वस्वदैवानुसार उनकी लब्धि भिन्न-भिन्न प्रकार होती है।

मनुष्य गति एक होने पर भी प्रत्येक मनुष्य का आकार, प्रकार, बुद्धि, वैभव, स्वास्थ्य अलग-अलग होता है। इतना ही नहीं एक ही परिवार में एक ही माता-पिता से उत्पन्न होने वाली अनेक संतान के शरीर, आरोग्य, आचार-विचार, बुद्धि, वर्ण प्रायः वैषम्य रहते हैं और आश्चर्य की बात यह है कि एक ही व्यक्ति का हाथ व एक अवयव सबल होता है तो अन्य अवयव दुर्बल होता है। बाल्यावस्था में कोई जड़मति, भोंदू रहता है तो वही युवावस्था में तीक्ष्ण बुद्धिशाली हो जाता है। पुनः वृद्धावस्था में स्मरण शक्ति से रहित हो जाता है। अन्य कोई व्यक्ति उपरोक्त व्यक्ति से विपरीत भी हो सकता है। एक व्यक्ति बाल्यावस्था में उद्वण्ड, उच्छृंखल होता है तो वही किशोर या युवावस्था में गंभीर धर्मात्मा हो जाता है। वे ही वृद्धावस्था में विपरीत परिणमन भी करलेता है। उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण परिणमन का कारण क्या है? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। उसका सटीक व संक्षिप्त उत्तर यह है कि उसका दैव एवं पुरुषार्थ ही मूल कारण है।

गति अपेक्षा तिर्यञ्च गति एक ही गति है उनमें भी फिर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रियादि

जातीय अपेक्षा पाँच उत्तर भेद हो जाते हैं। एकेन्द्रिय जाति में पुनः साधारण एवं प्रत्येक उपभेद हैं। उनमें फिर अनेक अवान्तर उपभेद भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव को ग्रहण कीजिए। उनमें फिर (1) वनस्पतिकायिक, (2) पृथिवीकायिक, (3) जलकायिक, (4) वायुकायिक, (5) अग्निकायिक रूप से पाँच प्रभेद हैं। वनस्पतिकायिक की दस लाख (10,00,000) कुल कोटि योनि हैं। योनि की अपेक्षा वनस्पतिकायिक के दस लाख (10,00,000) कोटि पुनः अवान्तर भेद हो जाते हैं। उनमें से पुनः उदाहरण के तौर पर आम तथा आमवृक्ष को लीजिए। उनमें भी अनेक भेद प्रभेद हैं — लंगड़ा, दशहरी, सीपिया, बीजू, बारहमासी, तोतिया, शुकूल आदि। एक ही पीपल (पीपर) पेड़ के प्रत्येक पत्र का आकार-प्रकार प्रायः एक प्रकार नहीं होता, भिन्न-भिन्न होता है। उपरोक्त वैचित्र्यपूर्ण विभिन्नता का कारण अपना-अपना स्वयोग्यपूर्ण उपार्जित दैव है।

यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है कि कभी भी इच्छित अभिलषित कार्य के विरुद्ध अनिच्छित, अनभिलषित कार्य हो जाता है। जैसे नीरोग, स्वस्थ रहने के इच्छुक एवं योग्य आहार-विहार करने वाले को भी रोग हठात् आ घेरता है। प्रायः कोई भी रोगी दुःखी, निर्धन होने के लिये अभिलाषा नहीं करता है। परन्तु अधिकांश मनुष्य रोगी, दुःखी एवं निर्धन होते हैं। इसका कारण पूर्व उपार्जित प्रबल दैनिक शक्ति है। जैनाचार्यों ने कहा भी है —

अबुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।

अबुद्धि पूर्वक सम्पादित कार्य की अपेक्षा से इष्ट-अनिष्ट कार्य अपने पूर्वोपार्जित दैव से हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए।

कुछ विशिष्ट प्रबल शक्ति सम्पन्न दैवयोग से कुछ अनिच्छित कार्य भी हो जाता है। उस समय में प्रबल प्रचण्ड दैवशक्ति के सामने पुरुषार्थ की शक्ति अकिञ्चितकर हो जाती है।

कर्मचिंणति सवसा तस्सुदयाम्मि उ परवसो होन्ति ।

रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो तत्तो ॥ (विशेषावश्यक)

कर्म व दैव को सम्पादन करने में जीव स्वतंत्र है। कर्म के फल भोगने पर जीव स्वतंत्र नहीं है बल्कि कर्माधीन है। जैसे — वृक्ष आरोहण जीव स्वतंत्र स्वेच्छापूर्वक करता है परन्तु दैवात् असावधानी से पेड़ से फिसल कर गिर जाये तो गिरते समय वह परतंत्र हो जाता है अर्थात् उस समय में उसका पुरुषार्थ विशेषकर कार्यकर

नहीं हो पाता है। गीता में भी कर्मयोगी नारायण श्रीकृष्ण इस कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुये धनुर्धर अर्जुन को अग्र प्रकार उद्बोधन करते हैं —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥ 47 ॥

कर्म में ही तुझे अधिकार है उससे उत्पन्न होने वाले अनेक फलों में कदापि नहीं। गोस्वामी तुलसीदास भी हिन्दी साहित्य की अमर कृति रामचरितमानस में कहते हैं कि —

विश्व प्रधान कर्मकरि राखा ।

जो जैसे करहि फलहि तैसे चाखा ॥

पुराण प्रसिद्ध, इतिहास प्रसिद्ध अनेक महापुरुष हुये हैं जिनका जन्म गरीब, अशिक्षित परिवार में हुआ है परन्तु वे अपने अदम्य साहस, निष्ठा एवं पुरुषार्थ के माध्यम से महान् बने हैं। महान् बनने में दैव की अपेक्षा अपने पुरुषार्थ का योगदान अधिक रहा है। जैनाचार्यों ने कहा भी है —

बुद्धि पूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ।

जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं उस अपेक्षा से इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुये हैं ऐसा जानना चाहिये।

जो कार्य अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है अर्थात् उस कार्य करने का विचार रहित (अबुद्धिपूर्वक) है तो ऐसी स्थिति में वहाँ पुरुषार्थ की गौणता एवं भाग्य की प्रधानता मानी जायेगी अर्थात् इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको भाग्यकृत कहेंगे। बुद्धिपूर्वक जो भी कार्य है और उसमें जो सफलता मिलती है, उस समय वहाँ पुरुषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस स्थिति में जो कार्य होता है उसको पुरुषार्थ से हुआ कहेंगे। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो दुःखादिक होते हैं वे दैव की प्रधानता से होते हैं तथा बुद्धिपूर्वक जो लाभ-अलाभ आदि जीव को होते हैं पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इस प्रकार दोनों की प्रधानता एवं गौणता से कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ, प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है।

जैसा बोओगे वैसा पाओगे

भरत क्षेत्रस्थ रत्न संचयपुर का राजा श्रीकंठ विद्याधर तथा पटरानी श्रीमती एक दिन पूजा करके मंदिर से लौट रहे थे। रास्ते में दिगम्बर जैन मंदिर के दर्शन कर,

उपदेश सुनकर तथा व्रत प्रतिज्ञा लेकर घर पर लौटे ।

राजा ने पूर्वोजित दुर्भाग्योदय से प्रतिज्ञा छोड़कर धर्म को छोड़ दिया, मिथ्यादृष्टि होकर अहिंसामय जैनधर्म तथा आत्म साधक जैन मुनि की निन्दा करने लगा । एक दिन राजा 700 वीरों के साथ वन क्रीड़ा के लिये गये थे । वहाँ दिगम्बर मुनि को देखकर मुनि को अपशकुन मानकर मुनि को कोढ़ी-कोढ़ी (कुष्ठी-कुष्ठी) कहकर समुद्र में डाल दिया, उनकी कृति की 700 वीरों ने अनुमोदना की । तब भी आत्म साधक मुनि ने ध्यान नहीं छोड़ा । तब राजा ने दया से सेवक को आज्ञा दी कि मुनि को बाहर निकाल देना, ऐसा कहकर राजा लौट गया

कुछ समय पश्चात् एक दिन राजा पुनः उस तरफ वन क्रीड़ा ते लिये गये । 'मुनि को देखकर ' मुनि की निन्दा करके "मारो सिर काटो" ऐसा कहकर तलवार उठायी थी कि दया से मुनि को छोड़कर घर वापिस आ गये ।

एक दिन राजा ने मुनि के उपसर्ग के बारे में रानी को कहा । रानी उस घटना को सुनकर धर्मात्मा एवं दयालु होने के कारण अपने कर्म को धिक्कारने लगी, कुछ समयान्तर रानी दुःखित होकर पलंग पर लेट गई । जब राजा को दासी से रानी की उदासीनता के बारे में पता चला तब राजा रानी के पास जाकर बोला आपको किसने कष्ट दिया ? मुझे बताइये इसका प्रतिकार मैं शीघ्रातिशीघ्र करूँगा । तब भी रानी राजा से कुछ नहीं बोली । एक दासी ने रानी की उदासीनता का कारण बताया कि ग्रहण किया हुआ व्रत (प्रतिज्ञा) त्याग एवं मुनि के ऊपर उपसर्ग आदि ।

राजा दासी की बात सुनकर दुःखित होकर, पश्चाताप करके निन्दा करके रानी को सांत्वना दी । रानी के उपदेश एवं प्रेरणानुसार राजा ने एक दिगम्बर मुनि के पास जाकर, अपना पूर्वकृत समस्त वृत्तान्त कह सुनाया, मुनीश्वर ने प्रायश्चित फलस्वरूप सम्यक्त्व धारण करना, त्याग की हुई प्रतिज्ञा धारण करना एवं सिद्धचक्र विधि-विधान करने के लिये कहा । राजा ने प्रायश्चित स्वीकार करके 8 वर्ष में सिद्धचक्र विधान पूर्ण करके उद्यापन किया । अन्त में संन्यास धारण करके देव हुआ । रानी भी धर्मात्मा होने के कारण उस स्वर्ग में देव हुयी ।

स्वर्ग से च्युत होकर राजा के जीव ने अंग देश के चम्पापुरी नगरी का राजा "अरिदमन" की रानी "कुन्दप्रभा" के गर्भ में जन्म ग्रहण किया । वह लड़का बहुत सुन्दर, सर्वगुण सम्पन्न एवं पुण्यात्मा था, उसका नाम श्रीपाल रखा गया ।

पुत्र श्रीपाल के युवक होने के पश्चात् राजा श्री अरिदमन पुत्र को योग्य, गुणी,

प्रजावत्सल, उदार-चेत्ता मानकर, पुत्र को राज्य सौंप कर मुनि होकर समाधि पूर्वक मरण करके स्वर्ग पधारे । राजा श्रीपाल समस्त प्रजा का पुत्र के समान न्यायनीति से पालन करने लगे ।

पूर्व जन्म में 700 वीरों सहित राजा ने मुनि महाराज को कोढ़ी-कोढ़ी कहकर निन्दा की थी । उसके फलस्वरूप राज्य अवस्था में अत्यन्त सुन्दर, बलिष्ठ स्वस्थ अवस्था में राजा को तथा 700 वीरों को गलित कुष्ठ रोग हो गया जिससे सम्पूर्ण शरीर गल-गलकर खण्डित होने लगा । कुष्ठियों के शरीर की दुर्गन्ध से प्रजा अत्यन्त दुःखी बेचैन होने लगी, प्रजा नगर छोड़कर अन्य स्थान पर भागने लगी । नगर में प्रजा धीरे-धीरे शून्य होने लगी । इस परिस्थिति को देखकर कुछ ज्ञानी वृद्ध लोगों ने श्रीपाल के काका वीरदमन को नगर की परिस्थिति से अवगत कराया । श्रीपाल के काका ने प्रजा के कष्टों से श्रीपाल को अवगत कराया । प्रजा वत्सल श्रीपाल 700 कुष्ठियों सहित चम्पापुरी नगर को त्याग करके नगर से बहुत दूर एक वन में रहने लगे । राजा श्रीपाल ने अपने काका को राज्य भार समर्पण करके नगर त्याग कर दिया ।

मालवा देश के उज्जयिनी नगर के राजा पहुपपाल की अत्यन्त सर्वगुण सम्पन्न शीलवती, विदुषी, धर्मात्मा, सुन्दरी, नवयुवती कन्या मैनासुन्दरी थी । एक दिन राजा मैनासुन्दरी को पूछते हैं कि तुम किसके भाग्य पर जीवन-यापन कर रही हो । मैनासुन्दरी पितृभक्त होते हुये भी स्वपुरुषार्थ एवं स्वभाग्य पर विश्वास रखने वाली थी । इसीलिये मैनासुन्दरी बोली - मैं स्वउपार्जित पुण्य कर्म से जीवन-यापन कर रही हूँ । इससे राजा ने क्रोधित होकर कन्या को कष्ट देने के लिये एक अयोग्य, रोगी, दरिद्र वर के साथ विवाह करने का विचार किया । उसने शोध करके कुष्ठ रोग से पीड़ित श्रीपाल के साथ महान् सुन्दरी सुकुमारी मैनासुन्दरी का विवाह कर दिया ।

परन्तु स्वपुरुषार्थ एवं भाग्य पर निर्भर रहने वाली मैना सुन्दरी भारतीय सती नारी के समान श्रीपाल को पतिदेव मानकर सेवा करने लगी । विवाहानंतर पुनः वे उद्यान में चले गये । वहाँ पर मैना सुन्दरी ने विधि पूर्वक अन्तःकरण, भक्ति भावना पूर्वक सिद्धचक्र विधान मण्डल पूजा की । जिन मंदिर में अभिषेक करके उस पवित्र गन्धोदक को 700 कुष्ठियों सहित श्रीपाल को सम्पूर्ण शरीर में लगाने के लिये देने लगी । इस प्रकार 8 दिन तक सिद्धचक्र पूजा मण्डल विधान (जिस पूजा में अनन्तान्त नित्य निरंजन सिद्ध परमेष्ठी भगवान की पूजा की जाती है)

प्रत्येक दिन सम्पूर्ण कुष्ठ रोगियों को गन्धोदक शरीर में लगाने के लिये देती रही । आठवें दिन महा भयंकर गलित कुष्ठ रोग पूर्ण रूप से नष्ट होकर श्रीपाल सहित 700 कुष्ठ रोगी पूर्ण स्वास्थ्य को प्राप्त हुये ।

रोग नष्ट होने के उपरान्त मैनासुन्दरी के माता-पिता अत्यन्त आनन्दित होकर मैनासुन्दरी तथा श्रीपाल को अपने राजमहल में ससम्मान बुलाये । कुछ दिन श्रीपाल ससुराल में रहकर पुरुषार्थ से धन-सम्पत्ति उपार्जन करने के लिये द्वीपान्तर वाणिज्य के लिये प्रयाण किये । एक दिन श्रीपाल समुद्र तटस्थ भृगुकच्छ नामक नगर के उपवन में शयन किये हुये थे । उस समय कुछ यात्री श्रीपाल को उठाकर समुद्र के तल ले गये । धवल सेठ नामक एक समुद्री व्यापारी जो कि पाँच सौ जहाजों का मालिक था, आँधी के कारण उसके जहाज खाड़ी में फँस गये थे । श्रीपाल को समस्त वृत्तान्त धवल सेठ ने अवगत कराया ।

श्रीपाल ने उनके दुःख से दुःखित होकर उनके उपकार के लिये “गमोकार मंत्र स्मरण करके जहाजों को गतिशील बना दिया । इससे धवल सेठ सन्तुष्ट हो गये तथा श्रीपाल को साझी बनाकर अपने साथ व्यापार के लिये ले चला । हंसद्वीप में श्रीपाल का “रयणमंजूषा” नामक राजपुत्री के साथ विवाह हुआ । कुछ दिन वहाँ सुखपूर्वक बिताकर व्यापार के लिये रयणमंजूषा के साथ श्रीपाल जहाज में बैठकर यात्रा की । धवल सेठ रयणमंजूषा की सुन्दरता से मुग्ध होकर उसके साथ रति करने के लिये षडयन्त्र करके सेठ ने श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया । पाठक वर्ग को मालुम है कि पूर्व भव में श्रीपाल ने एक आत्मसाधक शान्त-प्रिय-दिगम्बर मुनि महाराज को द्वेष वशतः समुद्र में डाल दिया था । उस दुर्भाग्य (कर्म) के फलस्वरूप वर्तमान भव में श्रीपाल को भी समुद्र में गिरना पड़ा । इंग्लिश में एक नीति वाक्य है — “As you sow so you reap” अर्थात् जैसा बोओगे वैसा पाओगे ।

श्रीपाल को समुद्र में गिराने के बाद धवल सेठ ने सती रयणमंजूषा के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न किया तब शीघ्र जल देवता प्रकट होकर सेठ को बाँधकर गदा से पीटा एवं भर्त्सना की । जहाज के सब लोग सेठ की दुरावस्था को देखते रहे परन्तु दण्ड देने वाले को कोई नहीं देख पाया । सब लोगों ने सती से सेठ एवं अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना की, तब सती रयणमंजूषा ने भगवान को स्मरण करके सेठ को क्षमा करने के लिये प्रार्थना की । जल देवता ने कहा — “हे सती! मैंने आपके सतीत्व से प्रभावित होकर यह सर्वकृत किया है । डरो मत, चिन्ता त्याग दीजिए ।

धर्मात्मा को कभी भी कोई भी कष्ट नहीं दे सकता है । धर्म, पुण्य, कर्म एवं दैविक शक्ति उनकी रक्षा करती है । पापी कभी भी सुखी नहीं रहता । पापी की रक्षा कोई नहीं करता और उसकी सुरक्षा हो भी नहीं सकती । कुछ ही दिनों में आपके पति श्रीपाल मिलेंगे एवं वे महाराज बनेंगे और आप रानी बनेंगी । जब तक हम हैं, आपको कोई भी कष्ट नहीं दे सकता ।” ऐसा कहकर जल देवता आन्तर्धान हो गये । रयणमंजूषा अपने सतीत्व की रक्षा से एवं पति की खबर सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुई । सेठ ने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा याचना की एवं रयणमंजूषा ने सेठ को पिता समान मानकर क्षमा किया ।

श्रीपाल ने समुद्र में गिरने के बाद सेठ के कपटपूर्ण व्यवहार को जान लिया था, तो भी श्रीपाल सोचता है, सेठ केवल गौण निमित्त है परन्तु मैंने पूर्व जन्म में पाप किया था उसका फल यह मिला । इसी प्रकार विचार कर मन में समता एवं धैर्य को धारण कर “गमोकार मंत्र स्मरण करके समुद्र पार करने का प्रयत्न किया । एक काष्ठ फलक मिलने से उसका अवलम्बन लेकर समुद्र पार करके कंकुम द्वीप में पहुँचा, वहाँ का राजा सतराज था । उसकी रानी वनमाला और कन्या गुणमाला थी । राजा ने अवधिज्ञान सम्पन्न मुनि महाराज की भविष्यवाणी के अनुसार श्रीपाल के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया ।

धवल सेठ व्यापार करते-करते एक दिन व्यापार के लिये कंकुम द्वीप के राजदरबार में जा पहुँचा । राजदरबार में श्रीपाल को राजठाठ से बैठा देखकर पूर्व स्वदुष्कृत स्मरण करके अत्यन्त भयभीत हो गया । उसने श्रीपाल को मारने की इच्छा से एक षडयन्त्र रचा । वह सेठ राजदरबार से समुद्र तट पर गये जहाँ पर अपना जहाज था । वहाँ से भांडों को समस्त वृत्तान्त कहकर, षडयन्त्र रचकर दरबार में नृत्य करने के लिए भेज दिया । उन भांड लोगों ने नृत्य करके राजा को संतुष्ट कर दिया । श्रीपाल जब भांडों को ताम्बूल दिलवाने लगे तब सब भांड उन्हीं को घेरकर कोई अपना बेटा, कोई अपना भाई, कोई अपना स्वामी, कोई अपना देवर कहने लगे । राजा के द्वारा इसका कारण पूछने पर भांडों ने कहा — “हम एक जहाज में आ रहे थे । समुद्र में तूफान के कारण जहाज फट गया । हम लोग येन-केन-प्रकारेण मिल गये, किन्तु दो पुत्र नहीं मिले । उनमें से एक छोटा पुत्र आपके यहाँ मिल गया है ।”

राजा के पूछने पर श्रीपाल ने विचार किया— मेरे कोई पूर्वकृत (दुर्भाग्य) पाप

का उदय है। मैं विदेशी अकेला व्यक्ति हूँ, यदि मैं सत्य बात भी कहूँगा तो भी कोई नहीं मानेगा। परन्तु मेरा पूर्ण विश्वास है कि “सत्यमेव जयते” – सत्य की ही विजय होती है। उसी प्रकार विचार करके राजा से कहा इनकी बात सत्य है अर्थात् मैं भांड का पुत्र हूँ। राजा ने यह सुनकर क्रोधित हो शूली दण्ड की सजा देने की आज्ञा दी।

पाठक वर्ग ने कथा के प्रारम्भ में पढ़ा था कि पूर्व भव में श्रीपाल ने अहिंसा के अवतार दिगम्बर निर्दोष साधु को भांड-भांड कहकर अपमान किया था। इसलिये उस पूर्वोपार्जित दुष्कर्म के प्रतिफल से राजा श्रीपाल को भांड लोग भरी राज सभा में भांड कहकर सम्बोधित किये। नीतिकारों ने कहा है – “जैसी करनी वैसी भरनी” जैसे गोल गुम्बज में कोई व्यक्ति गाली देता है तो वही गाली प्रतिध्वनित होकर उसके पास आती है। यदि कोई भद्र शब्दों का आचरण करता है तो वह शब्द प्रतिध्वनित होकर पुनः उसके पास आ जाता है। इसी प्रकार जीव जो सूक्ष्म-स्थूल, शुभ-अशुभ कार्य करता है उसका प्रतिफल आज नहीं तो कल निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

श्रीपाल को चाण्डाल शूली दण्ड देने के लिये जा रहे थे। जाते समय श्रीपाल सोच रहे थे यदि मैं चाहूँ तो सबको अकेला मार सकता हूँ। परन्तु इससे मेरी कुलीनता प्रगट नहीं हो सकती जो पूर्वकृत दुष्कर्म उदय में आया है उसको समता भाव से सहन करना चाहिये। समता भाव रखने से मानसिक शांति मिलती है तथा पूर्वकृत कर्म नष्ट होने से सुख मिलता है। पाठक वर्ग! पहले ही आप लोगों ने इस कथा में पढ़ा होगा कि पूर्वभव में श्रीपाल ने एक शांत निर्दोषी दिगम्बर साधु को मारने के लिये तलवार उठायी थी इसीलिये वर्तमान में उसको शूली दण्ड की सजा मिली।

शूली की खबर सुनते ही गुणमाला दुःखित होकर रोते-रोते दौड़कर श्रीपाल के पास पहुँच गयी। गुणमाला के, स्वामी से उनका यथार्थ परिचय चाहने पर श्रीपाल बोले दुःखी मत हो और समता धारण करो, समुद्र के किनारे जाकर रयणमंजूषा से मेरा यथार्थ परिचय पूछो जिसको मैंने अपना परिचय अनेकों बार दिया है। गुणमाला “रयणमंजूषा –रयणमंजूषा” पुकारती-पुकारती समुद्र तट पर पहुँची। दुःख-निराशा के साथ श्रीपाल के बारे में पूछने पर रयणमंजूषा ने यथार्थ समस्त वृत्तान्त कह सुनाया। रयणमंजूषा धीर मधुर भाषा में बोली हे बहिन! शोक मत करो जिसके बारे में आप पूछ रही हैं वह सामान्य मनुष्य नहीं है चरम शरीर तद्भव, मोक्षगामी, उत्तम क्षत्रिय वंशी राजकुमार है उसको कोई मार नहीं सकता। वे महान् अद्वितीय, शक्तिशाली, कोटिभट्ट श्रीपाल हैं। कोटिभट्ट का अर्थ है जो अकेला व्यक्ति

1 करोड़ व्यक्ति से युद्ध कर सकता है। इतनी जिसमें शक्ति होती है उसे कोटिभट्ट कहते हैं। चिन्ता छोड़ो “सत्यमेव जयते” राजदरबार में जाकर राजा से श्रीपाल का समस्त वृत्तान्त कहो। राजा ने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक श्रीपाल को क्षमा प्रार्थना की। तब श्रीपाल ने कहा – हे धर्म तात्, इसमें आपका कोई दोष नहीं है, यह निश्चित ही पूर्वोपार्जित दुष्कर्म का फल है। परन्तु एक विशेष बात आपको कहता हूँ सो सुनिये। आप राजा हैं, न्याय करना आपका परम कर्तव्य है इसलिये आपको बिना विचारे अविवेक से कोई भी काम करना योग्य नहीं है। राजा ने एकदम लज्जित होकर सम्मानपूर्वक हाथी पर बैठकर गुणमाला एवं श्रीपाल को सम्मानित किया। दोनों रानी एवं श्रीपाल राजा के राजमहल में सुख से रहने लगे।

पाठक वृन्द! पहले आप लोगों ने इस कथा के प्रारंभ में पढ़ा था कि श्रीपाल ने पूर्व भव में दयालु दिगम्बर मुनीश्वर को मारने के लिये तलवार उठायी थी। परन्तु उसके परिणामों में परिवर्तन हुआ। उसने मुनिराज को निर्दोषी जानकर दया से तलवार पीछे खींच ली। मुनि महाराज को नहीं मारने के कारण शूली दण्ड मिला था तो भी शूली दण्ड नहीं हुआ।

श्रीपाल जैसे निर्दोष व्यक्ति को धवल सेठ ने विभिन्न प्रकार के कष्ट दिये थे जिसके फलस्वरूप राजाने, सेठ को दण्ड देने के लिये उसको लाने के लिये दूत भेजे, दूतों ने मारपीट करके एवं घसीट-घसीट कर धवल सेठ को राजसभा में उपस्थित किया। राजा ने क्रोधित होकर श्रीपाल से सेठ को किस प्रकार दण्ड दिया जाये पूछा, श्रीपाल कर्म की विचित्रता जानकर नम्र भाव से राजा से बोला हे राजन! धवल सेठ मेरे धर्म पिता हैं। वे मुझे कष्ट देते हैं परन्तु उन अनेक कष्टों से ही मेरी अनेक इष्ट सिद्धि हुई है। उनके कारण ही गुणमाला के साथ मेरा विवाह हुआ। अतः वह मेरा उपकारी है। इसलिये आप दया करके उन्हें छोड़ दीजिये। राजा ने श्रीपाल के वचनानुसार सेठ को छोड़ दिया। पाप का घड़ा फूटा – धवल सेठ को अपने किये हुए श्रीपाल के प्रति कुकृत्य का प्रतिबिम्ब हृदय पटल में होने लगा। उसके साथ-साथ श्रीपाल के द्वारा किया गया उपकार और श्रीपाल की उदार प्रवृत्ति जागृत हो गयी। मन ही मन श्रीपाल के प्रति किये गये कृतघ्नता के व्यवहार ने उसके मन को अत्यन्त दौलायमान किया। घोर आत्मग्लानि, मानसिक द्वन्द्व, विक्षोभ, पाप प्रवृत्ति से, शोक, दुःख, अनुताप से संतप्त होकर एक दीर्घ श्वास खींची, जिससे उसका पेट फटकर मरण हुआ और नरक गया।

धवल सेठ को कोई प्रकार का शारीरिक कष्ट नहीं मिला। श्रीपाल के कारण उसको क्षमा किया गया। परन्तु दुष्प्रवृत्ति, कुटिलता, कामासक्ति, कृतघ्न और अशुभ भावनाओं के कारण उसको मानसिक, स्नायविक, भावात्मक तनाव पैदा हुआ। उस तनाव ने ही उसे मृत्यु दण्ड दिया।

श्रीपाल का महान उदार भाव—श्रीपाल सेठ की मरण सूचना सुनकर सेठानी को सांत्वना देने के लिये समुद्र के किनारे पहुँचा। सेठानी को नम्र भाव से बोले—“हे माँ! आप मेरी माता हैं। आप चिन्ता मत कीजिये, आपका लड़का मैं जिन्दा हूँ आपकी सम्पूर्ण प्रकार से सेवा करने के लिये तन, मन, धन से तैयार हूँ। आप चाहें तो खुशी से यहाँ रह सकती हो या स्वदेश वापिस जाना चाहती हो तो, मैं सम्पूर्ण व्यवस्था कर दूँगा।” सेठानी बोली बेटा मुझे देश जाना है। तो श्रीपाल ने देश जाने की समस्त व्यवस्था कर दी।

इसी प्रकार श्रीपाल विदेश में पुरुषार्थ एवं धर्म के माध्यम से अनेक विभूति, कीर्ति एवं अनेक सुन्दर स्त्रियों को प्राप्त करके वापिस स्वदेश आया। स्वदेश में राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर प्रजा को पुत्र के तुल्य पालन करके अनेक वर्ष सुखपूर्वक जीवन—यापन किया। एक बार महल के ऊपर खड़े होकर दिक्अवलोकन कर रहे थे। तब विद्युत् चमककर विलय हो गयी। श्रीपाल को इस घटना को देखकर विचार करते—करते वैराग्य उत्पन्न हुआ। उसने पुत्र धनपाल को राज्य सिंहासन पर आरूढ़ कर 700 वीरों के साथ अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह का त्याग कर यथाजात बालकवत् दिग्म्बर वेष को धारण कर, निर्ग्रन्थ मुनि दीक्षा ले ली। कठोर आत्मसाधना के माध्यम से केवलज्ञान को प्राप्त करके नित्य निरंजन पद प्राप्त किया। मैनासुन्दरी तथा अन्यान्य रानियों ने भी आर्थिका दीक्षा धारण कर आत्मसाधना की जिससे मैनासुन्दरी स्त्री लिंग को छेदकर 16वें स्वर्ग में देव हुई। अन्य—अन्य रानियाँ भी स्वयोग्य तपश्चरण के कारण स्वर्ग में देव हुई।

कर्म की प्रबल शक्ति

प्रत्येक जीव स्वभावतः प्राकृतिक रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का स्वामी है। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता है तो भी संसार अवस्था में जीव अनन्त दुःख, अज्ञान का अनुभव करता है। यहाँ पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि अनन्त ज्ञान, सुखादि—गुण तिरोभाव क्यों एवं कैसे हुए? इस प्रश्न का प्रत्युत्तर

आध्यात्मिक योगी कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में दिये हैं —

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णे णवि जाणदि सव्वदा सव्वं ॥ 167 ॥

“स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्ण ज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोवच्छिन्नो झम्पितः सन् । संसारसमापन्नः संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण ।”

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र को जानने वाला, देखने वाला है फिर भी वह अपनी कर्मरूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

“The self who is by nature all-knowing and all-perceiving when Soiled by his own-karmas is dragged on towards samsara the cycle of births and deaths, and becomes incapable of knowing all things completely.”

अनन्त शक्ति सम्पन्न जीव को पराभूत करने वाला प्रतिपक्ष द्रव्य भी अनन्त शक्ति सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि कम शक्ति से अधिक शक्ति को पराभूत करना सम्भव नहीं है। इसलिये जीव के उपादान भूत अनन्त गुण को घात करने वाला निसिक्तभूत कर्म भी अनन्त शक्ति सम्पन्न है। परमात्मा प्रकाश में योगेन्द्र देव कर्म शक्ति का वर्णन करते हुये बताते हैं —

कम्मई दिद्-घण चिक्कणई गरूवई वज्ज समाई ।
णाण- वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिं ताई ॥ 78 ॥

अनन्त ज्ञान वीर्यादि गुणों से युक्त भगवान् आत्मा को कुपथ में पटकने वाला कर्म अत्यन्त बलवान् घनस्वरूप, दूसरों के द्वारा (जीव), सहज से नष्ट नहीं होने वाला अत्यन्त चिकने एवं वज्र के समान कठोर एवम् भारी होने से अभेद्य एवं अच्छेद्य है।

आचार्यप्रवर भट्टाकलंकदेव स्वामी संसार का मूलकारण बताते हुए ‘राजवार्त्तिक’ में बताते हैं कि —

तदात्मनोऽस्वतन्त्रीकरणे मूलकारणम् ।

वह (कर्म) आत्मा को परतन्त्र करने में मूल कारण है।

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में भी कहा है —

✓ मोहने संवृतं ज्ञानं स्वभाव लभते न हि ।

मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ 7 ॥ (इष्टोपदेश)

जिस प्रकार नशीले कोदों के सेवन से जीव मदमत्त होकर हिताहित विवेक से रहित हो जाता है, उसी प्रकार मोह कर्मरूपी मद्य से पराभूत होकर—आच्छादित होकर स्वाभाविक अनन्त ज्ञान अपना स्वशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता है—जान नहीं पाता है ।

अनादिकाल से अनन्त ज्ञानादि सम्पन्न यह परमात्मा द्रव्य कर्म से पराभूत होकर संसार में दर-दर भिखारी होकर परिभ्रमण कर रहा है । वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर जीव में अनन्त शक्ति होते हुए भी कर्म परवशतः अनन्त शक्ति, व्यक्ति रूप में नहीं है, परन्तु अव्यक्त होने के कारण केवल संभावना रूप में, सुप्तावस्था में, जीव में अवस्थित है इसीलिये पर्यायनिष्ठ दृष्टि से देखने एवं विचार करने पर अनादि काल से कर्म की परतंत्रता से संसारी जीव की शक्ति बहुत ही क्षीण है एवं कर्म की शक्ति बहुत ही दृढ़ है इसलिए जीव अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है । संसारावस्था में जीव एवं कर्म का द्वन्द्व युद्ध चलता है ।

✓ "कथवि वलिओ जीवो कथवि कम्माइं हुति वलियाइं ।

जीवस्स य कम्मस य पुव्वविरूद्धाइं वइराइं ॥"

(उद्धृत् इष्टोपदेशटीका)

कभी-कभी जीव बलवान हो जाता है और कभी कभी कर्म बलवान हो जाता है । इसी प्रकार जीव एवं कर्म का पूर्वकालीन अनादि से विरुद्ध एवं वैरत्व चल रहा है ।

✓ कर्म कर्महिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।

स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थ को वा न वाञ्छति ॥ 31 ॥ (इष्टोपदेश)

कर्म अपने हितरूपी साथी कर्म को ही बाँधता है । जीव अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है । जब कर्म शक्तिशाली होता है तब अपने सहयोगी कर्म को संग्रहीत करके और भी अधिक शक्ति संगठित करके जीव के ऊपर अपना पूर्ण प्रभाव डालता है अर्थात् जीव को अपने अधिकार में कर लेता है । जब जीव योग्य, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करके शक्ति सम्पन्न होता है तब अपने हित साधन के लिए कर्म के बन्धन को क्षीण एवं विध्वंस करता है । ठीक ही है — अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता है

अर्थात् सभी चाहते हैं ।

प्रत्येक जीव अनेक गुण के पिण्डस्वरूप होते हैं । उन अनेक गुणों का घात करने वाले अनेक कर्म होते हैं । प्रत्येक कर्म के बारे में विशेष जानने के लिये गोम्मतसार कर्मकाण्ड, धवल जयधवल आदि सिद्धान्तशास्त्रों का परिशीलन करना चाहिए । यहाँ पर कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'समयसार' से प्रस्तुत करता हूँ ।

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो ।

मिच्छत्तमलोच्छणं तह सम्मत्तं खु णादव्वं ॥ 164 ॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो ।

अण्णाणमलोच्छणं तह णाणं होदि णादव्वं ॥ 165 ॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदिमलविमेलणाच्छण्णो ।

तह तु कसायाच्छणं चारित्तं होदि णादव्वं ॥ 166 ॥

(त्रिलोकम् समयसार)

"As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right faith is blurred by wrong belief. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right knowledge is destroyed, when clouded by nuscience. As the whiteness of cloth is destroyed by its being covered with dirt, so let it be known that right conduct becomes perverted when vitiated by soul soiling passions."

जैसे मैल के विशेष सन्दर्भ में अवच्छिन्न होकर अर्थात् दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मल के विशेष सम्बन्ध से दबकर जीव के मोक्ष का हेतुभूत-सम्यक्त्व गुण नष्ट हो जाता है । जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से दबकर वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है, वैसे ही जीव का मोक्ष हेतुभूत ज्ञान गुण भी अज्ञान रूपी मल से दबकर नष्ट हो जाता है तथा जैसे मैल के विशेष सम्बन्ध से वस्त्र का श्वेतपना नष्ट हो जाता है वैसे ही कषायरूप मल से दबकर मोक्ष का हेतुभूत जीव का चारित्र गुण भी नष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार मोक्ष के हेतुभूत आत्मा के सम्यक्त्वादि गुण हैं, उनके प्रतिविरोधी मिथ्यात्व, अज्ञान और कषायभाव हैं जो कि आत्मा के सम्यक्त्वादि गुणों को रोके हुए हैं, होने नहीं देते । जैसे आकाश में सूर्य उदित होने पर भी घने बादल के कारण सूर्य रश्मि ढक जाती है उसी प्रकार कर्मरूपी बादल के कारण ज्ञानरूपी रश्मि ढक

जाती है। शुद्ध स्फटिक मणि शुभ होने पर भी लाल रंग के संयोग से लाल दिखायी देती है, हरे रंग के संयोग से हरी दिखाई देती है उसी प्रकार कर्मयोग से जीव की अवस्था विभिन्न प्रकार की होती है। बद्धमान कर्म जब अपनी प्रचण्ड शक्ति सहित उदय में आता है तब जीव स्वभाविक गुण, वैभाविक गुण में परिणमन हो जाते हैं, अर्थात् जीव में वैभाविक रूप से जो परिणमन होता है उसका मूलकारण कर्म ही है। कुन्दकुन्द स्वामी समयसार में जीव के वैभाविक गुण का महत्व बतलाते हुए कहते हैं कि -

सम्मत्तपडिणिबं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठत्ति णादव्वो ॥168 ॥
णाणस्स पडिणिबधं अण्णाणं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥ 169 ॥
चरित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं ।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥ 170 ॥

"It is declared by Jina that mithyatva karma is adverse to right belief, when that begins to operate, the self becomes a wrong believer, so let it be known. It is declared by Jina that niscience is adverse to right knowledge, when that beings to operate, the self becomes ajnani (one deviod of knowledge); so let it be known. It is declared by jina that kasleaya (soul-soiling-gross emotions) is adverse to right conduct; when this begins to operate, the self becomes-acharitra (deviod of right conduct); so let it be known."

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। आत्मा के ज्ञान गुण का प्रतिबन्धक अज्ञान है जिसके उदय से यह जीव अज्ञानी हो रहा है तथा चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव है जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्र हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने बताया है। द्रव्य दृष्टि से निम्न श्रेणीय लब्धपर्याप्तक एकेन्द्रिय, अभव्य निगोदिया जीव से लेकर पूर्ण विकसित शुद्ध-बुद्ध, अनन्त ज्ञान सम्पन्न सिद्ध भगवान् तक सम्पूर्ण जीव एक समान हैं क्योंकि इनमें जातीय अपेक्षा से कोई अन्तर नहीं है। नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती बताते हैं कि - "सर्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्ध निश्चय नय से संसारी जीव भी सिद्ध भगवान के समान शुद्ध भाव का धारक है।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण जीव में आध्यात्मिक साम्यवाद है। स्वभाव दृष्टि से समान होने पर भी संसारी जीव में जो वैचित्रता दृष्टिगोचर होती है उसका कोई विशिष्ट कारण होना चाहिये। इसका कारण कर्म है। कुन्दकुन्दस्वामी नियमसार में बताते हैं -

“णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी ।”

अनेक जीव हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं और अनेक कर्म के अनुसार अनेक लब्धि हैं।

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।

खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥ 58 ॥

“न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षयोपशमावपिविद्येते, ततः क्षायिकक्षयोपशमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावःकर्मकृतोऽनुमंतत्यः । पारिणामिक स्वनादिनिधनौ निरूपाधिः स्वाभाविक एव । क्षायिकवस्तु स्वभावव्यक्ति रूपत्वानंतोऽपि कर्मणः क्षयेजोत्पद्यमानत्ववात्सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः। औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वात्, अनुपशमे समुच्छिद्यमानत्वात्, कर्मकृत एवेति । अथवा, उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य तत् उदयादि संजातानात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूत तथा विधावस्थात्वेन स्वयं परिणमनाद् द्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत इति ॥”

कर्म के बिना जीव को, उदय-उपशम तथा क्षयक्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्म के बिना जीव को औदायिकादि चार भाव नहीं होते) इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदायिक या औपशमिक भावों को कर्मकृत सम्मत करना। पारिणामिक भाव तो अनादि, अनन्त, निरूपाधि स्वाभाविक ही है। क्षायिकभाव, यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (प्रगटारूप) होने से अनन्त (अन्तरहित) है, तथापि कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होने के कारण सादि है, इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिक भाव कर्म के उपशम से उत्पन्न होने के कारण तथा अनुपशम से नष्ट होने के कारण कर्म-कृत ही है अथवा उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्म की ही अवस्थाएँ हैं परिणामस्वरूप एक अवस्था वाले जीव की नहीं है, इसलिये उदयादिक द्वारा उत्पन्न होने वाले आत्मा के भावों को

निमित्तमात्रभूत, ऐसी उस प्रकार की अवस्थाओं रूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणमित होने के कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनय से आत्मा के भावों के कर्तृत्व को प्राप्त होती है ॥

स्वभावतः प्राकृतिक रूप से जीव का स्वरूप अमूर्तिक, अभौतिक एवं ज्ञान विज्ञानमय है। परन्तु संसार अवस्था में संसारी जीव पर्याय अपेक्षा मूर्तिक एवं रागद्वेष मल से कलुषित परिलक्षित होता है। इस प्रकार विपरीत वैभाविक परिणमन का कारण क्या है, इस प्रकार की जिज्ञासा मन में पैदा होना स्वभाविक है। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पूज्यपाद स्वामी ने सिद्धभक्ति में बताया है – “अस्त्यात्मनादिबद्धः” संसारी आत्मा-अनादिकाल से कर्मबन्धन से बंधा है। अतः पौद्गलिक कर्म-संबंध से सांसारिक जीव पर्याय दृष्टि से मूर्तिक है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये श्रीमद्देवसेनस्वामी ने आलाप पद्धति में कहा है कि –

जीवस्याप्यसद्व्यवहारेण मूर्त्तस्वभावः ॥ 164 ॥

अशुद्ध भूत व्यवहारनय से पुद्गल से संश्लेषित सांसारिक जीव मूर्त्त स्वभाव वाला है इसलिये कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार में संसार का कारण स्वभाव बताते हुए निम्न प्रकार से कहा है –

तम्हा दु-णत्थि कोई सहावसवट्ठदो त्ति संसारे ।

संसारो पुण किरिया संसारमाणस्स दव्वस्स ॥ 120 ॥

"In this world, therefore is nothing as such -absolutely established in its nature, after all mundance existence is (only) an activity of the soui-substance which is moving (in four grades of existence.)"

वास्तव में जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अव्यवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि संसार में कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है। (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल एक रूप रहना नहीं है) और यहाँ (इस संसार में) जो अनवस्थितता है उसमें संसार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसार के) मनुष्यादि-पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है। (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है) अब परिणमन करते हुए द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वही संसार का स्वरूप है।

द्रव्य अपेक्षा स्वभाव एवं जाति अपेक्षा प्रत्येक जीव समान होते हुए भी सांसारिक जीव में जो विभिन्न विचित्रत परिलक्षित होती है उसका कारण बताते हुए कलिकाल सर्वज्ञ महाप्राज्ञ वीरसेन स्वामी ने धवला में बताया है –

“ण च कारणेणविणा कज्जाणमुप्पत्ती अत्थि । ततो कज्जमेत्ताणि चेव कम्माणि वि अत्थि तिणिच्छयो कायव्यो । यदि एवं तो भमर-महुवर कयंवादि सण्णिदेहि वि णामकम्मेहि होदव्वमिदि । ण एस दोसो इच्छिज्जमाणादो । ”

कारण के बिना तो कार्यों की उत्पत्ति होती नहीं है, इसलिये जितने (पृथ्वी, अप, तेज आदि) कार्य हैं, उतने उनके कारण स्वरूप कर्म भी हैं, ऐसा निश्चय कर लेना चाहिए।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो भ्रमर-मधुकर कदम्ब आदि नामों वाले भी नामकर्म होने चाहिये ?

उत्तर – यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि यह बात तो इष्ट है।

इसी कर्म सिद्धान्त को राजवार्तिक में – तार्किक शिरोमणि अकलंकदेव स्वामी निम्न प्रकार बतलाते हैं।

लोके हरिशार्दूलवृकभुजगादयो निसर्गतः क्रौर्य शौर्याहारा-दिसंप्रतिपत्तौ वर्तन्ते इत्युच्यन्ते न चासावाकस्मिकी कर्मनिमित्तत्वात् ।

लोक में भी शेर, भेड़िया, चीता, साँप आदि में शूरता-क्रूरता आदि परोपदेश के बिना होने से यद्यपि नैसर्गिक कहलाते हैं, परन्तु वे आकस्मिक नहीं हैं, क्योंकि कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न होते हैं।

उपरोक्त सिद्धान्त एवं दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि कर्म के निमित्त को प्राप्त करके यह जीव अनेक वैभाविक परिणामों को प्राप्त होकर नर नरकादि गति में विभिन्न दुःखों को भोगता है।

संसार अवस्था में विशेषतः परिणत अवस्था पर्यन्त कर्म की शक्ति जीव से अधिक प्रचण्ड रहती है। यह प्रचण्ड शक्ति केवल सामान्य जीव को कष्ट नहीं देती है किन्तु लोक के विशिष्ट चरमशरीर क्षायिकसम्यग्दृष्टि तीर्थकर भगवान को भी परिणत अवरथा में वैचित्र्य पूर्ण कष्ट देती है। इस प्रचण्ड शक्ति का वर्णन आलंकारिक छटा से गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में करते हैं –

पुरा गर्भादिन्द्रो मुकुलितकरः किङ्कर इव

स्वयं सृष्टा-सृष्टेः पतिरथनिधीनां निजसुतः ।

क्षुधित्वा षणमासान् स किल पुरुरघ्याट जगती-
महो केनाप्यस्मिन् विलसितमलंध्यं हतविधेः ॥ 119 ॥

Whom (for 6 months) before Conception Indra - (Served) with folded hands, like a servant, who himself (was) the organiser of all organisation, whose son (Bharata was) the possessor of the (mine) treasures (nidhis), even he, the great (Rishabha Deva) wandered on earth for 6 months, without getting Good-well, the frolics of Doomed Desting (Karma) are insurmountable by anyone.

जिस आदिनाथ जिनेन्द्र के गर्भ में आने के पूर्व छह महीने से ही इन्द्र दास के समान हाथ जोड़े हुए सेवा में तत्पर रहा, जो स्वयं ही सृष्टि की रचना करने वाला था, अर्थात् जिसने कर्मभूमि के प्रारम्भ में आजीविका के साधनों से- अपरिचित प्रजा के लिये आजीविका विषयक शिक्षा दी थी तथा जिसका पुत्र भरत निधियों का स्वामी (चक्रवर्ती) था, वह इन्द्रादिकों से सेवित आदिनाथ तीर्थकर जैसा महापुरुष भी बुभुक्षित होकर छह महीने तक पृथ्वी पर घूमा, यह आश्चर्य की बात है। ठीक है- इस संसार में कोई भी प्राणी दुष्ट दैव के विधान को लांघने में समर्थ नहीं है।

अविज्ञातस्थानो व्यपगततनुः पापमलिनः
खलो राहुर्भास्वद्दशशतकराक्रान्त भुवनम् ।
स्फुरन्तं भास्वन्तं किल गिलति हा कष्टमपरं
परिप्राप्ते काले विलसितविधेः को हि बलवान् ॥ 76 ॥

It is a great pity that the wicked trunkless Rahu, Dark, from sin, and of unknown abode, verily devours the glowing Sun, who with his thousand dazzling rays overspreads the earth. Who indeed is (more) powerful (thah) the operative age- karma-when the time (of its cessation) arrives.

जिसका स्थान अज्ञात है, जो शरीर से रहित है, तथा जो पाप से मलिन अर्थात् काला है वह दुष्ट राहु निश्चय से प्रकाशमान एक हजार किरणों रूपी हाथों से लोक को व्याप्त करने वाले प्रतापी सूर्य को कवलित करता है, यह बड़े खेद की बात है। ठीक है -समयानुसार कर्म का उदय आने पर दूसरा कौन बलवान् है ? आयु के पूर्ण होने पर ऐसा कोई भी बलिष्ठ प्राणी नहीं है जो मृत्यु से बच सके।

वेष्टनोद्वेष्टे न यावत्तावद् भ्रान्तिर्भवाणवे ।
आवृति परिवृत्तिभ्यां जन्तोर्मन्थानुकारिणः ॥ 178 ॥

The living being, like a churning stick, wanders in this ocean of births with goings and comings (births and rebirths) so long as there are the - tying and untying (by the rope in case of the churning rod, and by karmas in case of the living being)

मथनी का अनुकरण करने वाले जीव के जब तक रस्सों के बँधने और खुलने के समान कर्मों का बन्ध और निर्जरा (सविपाक) होती है तब तक उक्त रस्सी के खींचने और ढीली करने के समान राग और द्वेष से उसका संसार रूप समुद्र में परिभ्रमण होता ही रहेगा।

अनादि काल से जीव अपने स्वभाव से बहिर्मुख होने के कारण असत् पुरुषार्थ रूप से परिणमन कर रहा है। असत् पुरुषार्थ से दैव की शक्ति की वृद्धि होती है किन्तु हास नहीं होता है। जब तक यह जीव मिथ्याज्ञान कुचारित्ररूपी असत् पुरुषार्थ करता रहेगा तब तक दैव की पोषक तत्व मिलता ही रहेगा जिससे दैव का साम्राज्य जीव पर लगू रहेगा। जैसे कुटनी हस्तिनी की भोग इच्छा रूपी कुपुरुषार्थ के कारण महाप्रतापशाली स्वाधीन विचरण करने वाला गजराज भी जंगली दुष्ट पापियों के द्वारा पराधीन होकर उन्हीं को ही अपना स्वामी एवं पालन-पोषण करने वाला एवं सर्वोपयोगी मानकर उन्हीं की ही सेवा करने लग जाता है, उसी प्रकार पुरुष भी अपने कुपुरुषार्थ के कारण दैव के अधीन होकर दैव को ही सर्वसर्वा मान बैठता है।

दइवमेव परं मण्णे धिप्पउरसमणत्थयं ।

एसो सालसमुत्तुंगो कण्णो हणइ संगारे ॥ 89 ॥ (गो. कर्म.)

मैं केवल दैव (भाग्य) को ही उत्तम मानता हूँ निरर्थक पुरुषार्थ को धिक्कार हो देखो कि किले के समान ऊँचा जो वह कर्ण नामक राजा सो युद्ध में मारा गया। जो एकान्ततः भाग्य से ही कार्य सिद्ध मानते हैं उसका भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

देवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम् ।

देवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ 88 ॥ (आत्म मीमांसा)

देवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषतः देवं कार्य (स्थात्) देवतः चेत अनिमोक्षः पौरुष (च) निष्फलं भवेत् ।

दैव (भाग्य) से ही एकान्ततः कार्य की सिद्धि (सुख, दुःख, ज्ञान, अज्ञान कार्य

की सफलता, निष्फलता-अंगीकार की जाय तो प्रश्न यह उठता है कि भाग्य कैसे बना ? क्यों 'स्वयं कृतं कर्मयदत्मना पुर, फलं तदीयंलभते शुभाशुभम् ।'

"What ever karmas you have performed percviourly you experience their fruits, whether good or evil."

यह जीव पूर्व में जो शुभ या अशुभ पुरुषार्थ किया था, उसके फलस्वरूप वह पुरुषार्थ का परिपाकरूप शुभ-अशुभ रूप भाग्य का उपभोग करता है । अर्थात् भूत का पुरुषार्थ -वर्तमान का भाग्य एवं वर्तमान का पुरुषार्थ, भविष्य का भाग्य रूप से परिणामन करता है, जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज की तरह । जैसा बोयेंगे वैसा पायेंगे ।

" As we sow we reap."

पुरुषार्थ एवं भाग्य में कारण कार्य भाव है ।

साधारणौ सकलजन्तुषु वृद्धिनाशौ,
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकर्मयोगात् ।
धीमान्स यः सुगतिसाधनवृद्धिनाश ।

स्तद्व्यत्ययाद्विगतधीरपरोऽभ्यधायि ॥ 148 ॥ (आत्मानुशासन)

Rise a fall are common to all things according to the meritorious and demeritorious karmas acquired in past life. That man is wise who for attaining a good next condition of existence increases (his merits) and removes his - (demerits). The man opposed to his (view) is a fool. This has been said.

पूर्व जन्म में संचित किये गये पुण्य और पाप कर्म के उदय से जो आयु, शरीर एवं धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि और उनका नाश होता है वे दोनों समस्त प्राणियों में ही समान रूप से पाये जाते हैं । परन्तु जो सुगति अर्थात् मोक्ष को सिद्ध करने वाले वृद्धि एवं नाश को अपनाता है वह बुद्धिमान तथा दूसरा इनकी विपरीतता से - दुर्गति के साधन- भूत वृद्धि-नाश को अपनाने से - निर्बुद्धि (मूर्ख) कहा जाता है ।

लोक में जिसके पास धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि होती है वह बुद्धिमान तथा जिसके पास उसका अभाव होता है वह मूर्ख माना जाता है । परन्तु यथार्थ में यह अज्ञानता है, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि की वृद्धि के कारण बुद्धि नहीं है, बल्कि प्राणी के पूर्वोपार्जित पुण्य का उदय ही उसका कारण है । इसी प्रकार उक्त सम्पत्ति के नाश का उदय ही उसका कारण है । बुद्धिमान तो वास्तव में उसे समझना चाहिये

कि जो समीचीन सुख (मोक्ष) के साधनभूत सम्यग्दर्शनादि को बढ़ाता है तथा उसमें बाधा पहुँचाने वाले मिथ्यादर्शनादि को नष्ट करता है और जो इसके विपरीत आचरण करता है - नरकादि दुर्गति के साधनभूत मिथ्यादर्शनादि को बढ़ाता है तथा उसको रोकने वाले सम्यग्दर्शनादि को नष्ट करता है- उसे वास्तव में मूर्ख समझना चाहिये ।

उपायतत्त्व दो प्रकार का है - 1. ज्ञापकतत्त्व - कारकतत्त्व । ज्ञान को ज्ञापकत्व माना गया है । दैव पुरुषार्थ आदि कारक तत्त्व हैं । यहाँ कारिकाकार इसी कारक तत्त्व का परीक्षण कर रहे हैं । किन्हीं-किन्हीं का इस विषय में ऐसा मंतव्य है जितने भी दृष्ट और अदृष्ट कार्य हैं उन सबका साधन एक पुरुषार्थ ही है दैव नहीं । कोई ऐसा कहते हैं कि कोई कार्य दैव से साधित होते हैं और कुछ कार्य पुरुषार्थ से साधित होते हैं । जो व्यक्ति पुरुषार्थ निरपेक्ष केवल दैव से ही कार्य की निष्पत्ति होना मानते हैं उनसे कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस मान्यता में कुशल और अकुशल आचरण रूप पुरुष व्यापार से - पुरुषार्थ से - कर्मरूप दैव की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी । अर्थात् पुण्य पाप रूप दैव की उत्पत्ति का कारण मन, वचन, काय रूप, शुभ और अशुभ योग है । "शुभ-पुण्यस्या शुभः पापस्य" वह अब इस मान्यता में घटित नहीं हो सकता । अन्यथा कृत प्रतिज्ञा की हानि होने का प्रसंग प्राप्त होता है । इसी तरह केवल -दैवनिरपेक्ष-पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानी जाय तो वह सिद्धान्त भी युक्ति युक्त नहीं बैठता है, सो कैसे ? इसका विवेचन स्वयं कारिकाकार 89वीं कारिका द्वारा आगे स्पष्ट रूप से करेंगे । अतः यह बात वहीं पर समझाई जायेगी । यदि दैववादी दैव की उत्पत्ति का कारण पूर्वोपार्जित दैव ही मानें पुरुषार्थ नहीं हो इसके लिये कारिकाकार कहते हैं कि "दैवतश्चेदनिर्मोक्षः" पूर्व पूर्व दैव से ही उत्तरोत्तर दैव की उत्पत्ति होती रहेगी उसका विराम तो होगा नहीं ऐसी स्थिति में मोक्ष-दैव का परिक्षयरूप अभाव रूप निर्वाण कैसे सिद्ध हो सकेगा । तथा कर्मरूप दैव की उत्पत्ति को रोकने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह भी निष्फल ही हो जायेगा । यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त ऐसा कहा जाय कि पुरुषार्थ से ही दैव का विनाश होता है इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सुफलित हो जायेगा सो इस प्रकार का कथन "दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते" दैव से ही सब कुछ होता है इस कथन का निवारण हो जाता है क्योंकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी साबित हो जाता है । यदि अपनी प्रतिज्ञा को सुदृढ़ रखने के लिए दैववादी मीमांसक ऐसा कहें कि मोक्ष का कारण भूत जो पुरुषार्थ

होता है वह भी तो दैव कारणक ही होता है । अतः परम्परा सम्बन्ध से मुक्ति भी दैव कारणक ही मान ली जायेगी । - तब तो प्रतिज्ञा हानि होने का कोई भय ही नहीं रहता है सो इस प्रकार के कथन से दैवैकान्त सिद्ध नहीं हो सकता है । कारण कि तादृश -मुक्ति प्राप्ति का कारण परम पुण्यातिरूप ऐसे -दैव का निर्माण तो पुरुषार्थ से ही होता है ।

इसी तरह यदि ऐसा कहें कि स्वयं अप्रयत्नमान व्यक्ति के जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके केवल दैव से ही होते हैं पुरुषार्थ से नहीं, एवं जो प्रयत्नमान व्यक्ति हैं- पुरुषार्थ करने वाले हैं उनके जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके पुरुषार्थ से होते हैं दैव से नहीं, सो ऐसी मान्यता भी युक्ति युक्त नहीं है । कारण कि कृष्यादिक कार्यों में एक साथ प्रवृत्ति करने वाले एक सा पुरुषार्थ मिलकर साथ-साथ करने वाले व्यक्तियों में से किन्हीं-किन्हीं के अर्थ की - कार्य की सिद्धि का अभाव एवं अनर्थ की प्राप्ति देखी जाती है । अतः यह मानना चाहिये कि ऐसी स्थिति में दैव की प्रतिकूलता एवं अनुकूलता भी कारण है ।

“योग्यता कर्म पूर्वावादैमुभयमदृष्टं पौरुषं पुनरहि चेष्टितं दृष्टम् ।
ताभ्यामर्थसिद्धिः तदन्तरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् दैवमात्रे वा
समीहानर्थक्यप्रसंगात्।”

इस बात को अकलंक स्वामी ने इस अष्टशती द्वारा प्रदर्शित किया है - वे इसमें बतलाते हैं कि योग्यता अथवा पूर्व कर्म ये दैव के नाम हैं, चेष्टित एवं दृष्ट ये पौरुष के नाम हैं । इन दोनों में दैव दृष्ट एवं पुरुषार्थ दृष्ट हैं । इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है । केवल पुरुषार्थ एवं केवल दैव से नहीं होती है । जो व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करते हैं फिर भी उनके जो अर्थ प्राप्ति एवं अनर्थोपरम तथा अनर्थ प्राप्ति एवं अर्थोपरम देखने में आता है उससे वहाँ प्रयत्न का पुरुषार्थ का अभाव माना जाय तो ऐसी स्थिति में उसमें अनुपभोग्यता का प्रसंग प्राप्त होगा । अतः इनके अनुभवन में कारण पुरुषार्थ भी है ऐसा निश्चित रूप से मानना चाहिये । केवल पुरुषार्थ से अर्थ सिद्धि नहीं देखी जाती है तथा दैव मात्र से अर्थ सिद्धि मानने में तद्विषयक इच्छा करना भी व्यर्थ है इसीलिये दैव और पुरुषार्थ ये दोनों ही मिलकर अर्थसिद्धि में कारण हैं ऐसा ही मानना चाहिये । मोक्ष रूप अर्थ की सिद्धि भी परम् पुण्यातिरूप दैव तथा चारित्र्य विशेषात्मक पौरुष से ही होता है । इसीलिये दैवैकान्त का पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।

पौरुषदेवसिद्धिश्चेत्पौरुषं दैवतः कथम् ।

पौरुषाच्चेदमोघं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ 89 ॥ (आप्तमीमांसा)

चेत् पौरुषात् एव सिद्धि तदा दैवतः पौरुषं कथं स्यात् पौरुषात् चेत् (तर्हि)
सर्वप्राणिषु पौरुषं अमोघं स्यात् ।

यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती है ऐसा माना जाय तो पुरुषार्थ की सिद्धि होती हुई देखी जाती है उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा । इस पर यदि यों कहा जाय कि पुरुषार्थ की सिद्धि पुरुषार्थ से ही होती है दैव से नहीं, सो इस प्रकार की मान्यता में सर्व प्राणियों का पुरुषार्थ सफल ही होने का प्रसंग होता है ।

इस कारिका द्वारा कारिकाकार पुरुषार्थ से ही समस्त अर्थ - प्रयोजन भूत पदार्थों की सिद्धि होती है । “इस एकान्त मान्यता का निरसन कर रहे हैं ।” वे कहते हैं कि जिनकी ऐसी ही मान्यता है कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है दैव से नहीं । इनके प्रति उनका यह कहना है कि दैव से जो पुरुषार्थ का निर्माण होना देखा जाता है वह कैसे इस मान्यता के समकक्ष ठहर सकता है । अन्यथा प्रतिज्ञा होने का दूषण प्राप्त होता है । पुरुषार्थ दैव के बिना नहीं होता इस पर किसी विद्वान का ऐसा कहना है कि जैसी “भवितव्यता- होनहार होती है उसी तरह की बुद्धि हो जाती है उसी प्रकार का व्यवसाय होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते हैं ।” इस कथन से भवितव्यता रूप दैव द्वारा बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ का निर्माण साबित होता है । यदि इस पर यों कहा जाय कि वह बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ दैव से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु पुरुषार्थ से ही होता है तो इसका उत्तर कारिकाकार “सर्वप्राणिषु पौरुषं अमोघं स्यात्” समस्त प्राणियों द्वारा किया गया पुरुषार्थ सफल ही होना चाहिए निष्फल नहीं होना चाहिये इस उत्तरार्थ द्वारा दे रहे हैं । यदि पौरुषवादी अपने सिद्धान्त को सुदृढ़ करने के लिये ऐसा कहें कि सर्व प्राणियों में अनेक द्वारा कृत पुरुषार्थ अमोघ ही होता है तो उसके ऊपर अष्टशतीकार कहते हैं कि “तद्व्यभिचार दर्शिनो नवै श्रद्दधीरन्” यह बात नहीं है पुरुषार्थ करन परे भी उसका फल अवश्य ही मिलता है । ऐसा एकान्त नियम नहीं बन सकता है । किसी का पुरुषार्थ सफल हो जाता है और किसी का निष्फल, ऐसा ही देखा जाता है । यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि जो पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान पूर्वक होगा वह सफल होगा तथा जो मिथ्याज्ञान पूर्वक होगा वह सफल नहीं होगा- उसी में अपने फल के प्रति व्यभिचार देखा जाता है - सो ऐसा कहना भी इस पुरुषार्थवादी

चार्वाक का संगत नहीं है कारण की दृष्ट सामग्री का सम्यग्ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण होता है ऐसा भी वह पुरुषार्थ सफल ही होता है ऐसा नियम नहीं बन सकता है - अर्थात् वह भी व्यभिचरित देखा जाता है - ऐसे भी पुरुषार्थ से नियमतः पुरुषार्थी को उपेयतत्व की प्राप्ति अपने कार्य में सफलता ही जाती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किन्हीं-किन्हीं की वह नहीं भी होती है । यदि अदृष्ट-अदृश्य कारण कलाप के सम्यग्ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ सफल होता है ऐसा कहा जाय तो अदृश्य कारण कलाप को सम्यग्ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही होता है । हम जैसे छद्मस्थ ज्ञानियों को नहीं । अतः अदृश्य कारण कलाप के ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ तो हम लोगों में सम्भवित ही नहीं हो सकता है - क्योंकि इस पुरुषार्थ के जानने वाला जो सर्वज्ञ ज्ञान है वह हम में नहीं है । यदि इस पर यों कहा जाय कि अदृष्ट कारण कलाप का ज्ञान हमें किसी दूसरे प्रमाण से हो जायेगा । अतः तन्निमित्तक पुरुषार्थ होने में क्या बाधा है तो इस पर पुरुषार्थवादी से पूछा जाता है कि यह जो अदृश्य कारण कलाप है सो क्या है ? क्या वह कारण की शक्ति विशेष स्वरूप है या पुण्य पाप विशेष स्वरूप है ? यदि प्रथम पक्ष अंगीकार किया जाय तो वह ठीक नहीं है कारण कि कारण शक्ति का अवगम है निमित्त जिसका ऐसा भी पुरुषार्थ सुफलित नहीं देखा जाता है । जैसे जिनकी आयु क्षीण हो चुकी है ऐसे पुरुष में औषधि की शक्ति के अवगम निमित्तक भी पुरुषार्थ - औषधि का पान करने आदि रूप पुरुषार्थ - कुछ भी उपयोग नहीं होता है । द्वितीय पक्ष अंगीकार करने पर यही बात आती है कि दैव सहाय वाले ही पुरुषार्थ से फल की सिद्धि होती है । यद्यपि दैव का यथार्थ ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण है ऐसे ही पुरुषार्थ से उपेय तत्त्वों की प्राप्ति की व्यवस्थिति बनती है । परन्तु दैव का ज्ञान जिस पुरुषार्थ में नहीं भी है ऐसे भी पुरुषार्थ से कदाचित् फलोपलब्धि होती देखी जाती है । अतः सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही किया गया पुरुषार्थ सफल होता है ऐसी मान्यता ठीक नहीं उतरती है । अतः पौरुषेकान्त पक्ष भी दैवैकान्त पक्ष की तरह त्याज्य कोटि में समझना चाहिए ।

इतने लिखने का भाव इतना ही है कि जिस प्रकार दैवैकान्त पक्ष ठीक नहीं है उसी प्रकार यह पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है चार्वाक का मन्तव्य भी उचित नहीं है । क्योंकि पुरुषार्थ करने पर भी दैव की प्रतिकूलता में जीवों को - पुरुषार्थ करने वालों को सफलता हासिल नहीं होती है । कारण सामग्री के सम्यग्ज्ञान पूर्वक किया गया प्रयत्न भी कभी-कभी निष्फल हो जाया करता है । जितना ज्ञान हमारे जैसे

- छद्मस्थ व्यक्तियों को है उसके अनुसार कारण सामग्री का ज्ञान होने पर भी उद्योग में सफलता निश्चित नहीं मानी जाती है । अतः ऐसा ही मानना चाहिए कि ये दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । इनकी सापेक्षता में ही कार्य की सिद्धि निहित है ।

वैदिक दर्शन में भी कर्म फलादि का वर्णन पाया जाता है । वेद व्यासजी ने महाभारत में उसका वर्णन निम्न प्रकार किया है ।

नातिक्रिमेद यमं कश्चित् कर्म कृत्वेह मानुषः

राजा यमश्च कुर्वति दण्डमात्रं तु शोभने ॥ पृ. 5971 दान धर्मपर्व
कोई भी मनुष्य इस लोक में कर्म करके यमराज को नहीं लांघ सकता, इसे अवश्य दण्ड भोगना पड़ता है, शोभने ! राजा और यम सबको भरपूर दण्ड देते हैं ।

नास्ति कर्मफलच्छेत्ता कश्चिल्लोकत्रयेऽपि च ।

तीनों लोकों में कोई भी ऐसा पुरुष नहीं है जो कर्मों के फल को बिना भोगे नाश कर सके ।

कर्म के भेद

द्विधा तु क्रियते पापं सद्भिश्चासद्भिरेव च ।

अभिसंधाय वा नित्यमन्यथा वा यदृच्छया ॥

सज्जन हो या असज्जन, सभी के द्वारा दो प्रकार का पाप बनता है, एक तो वह पाप है, जिसे सदा किसी उद्देश्य को मन में लेकर जानबूझ कर किया जाता है और दूसरा वह है जो अकस्मात् दैवेच्छा से बिना जाने ही बन जाता है ।

केवलं चाभिसंधाय संरम्भाच्च करोति यत् ।

कर्मणस्तस्य नाशस्तु न कथंचन विद्यते ॥

जो उद्देश्य सिद्धि की कामना रखकर क्रोध पूर्वक असत् कर्म करता है, उसके उस कर्म का किसी तरह नाश नहीं होता है ।

अभिसंधिकृतस्यैव नैव नाशोऽस्ति कर्मणः ।

अश्वमेधसहस्रैश्च प्रायश्चित्तशतैरपि ॥

अन्यथा यत् कृतं पापं प्रमादाद् वा यदृच्छया ।

प्रायश्चित्ताश्वमेधाभ्यां श्रेयसा तत् प्रणश्यति ॥

फलाभिसन्धि पूर्वक किये गये कर्मों का नाश सहस्रों अश्वमेघ यज्ञों और सैकड़ों प्रायश्चित्तों से भी नहीं होता । इसके सिवा और प्रकार से असावधानी या दैवेच्छा

से जो पाप बन जाता है, वह प्रायश्चित और अश्वमेघ यज्ञ से तथा दूसरे किसी श्रेष्ठ कर्म से नष्ट हो जाता है ।

जैसे करोगे वैसे भरोगे

इति सत्यं प्रजानाहि लोके तत्र विधिं प्रति ।

कर्मकर्ता नरोऽभोक्ता स नास्ति दिवि वा भुवि ॥

तुम इसी को सत्य समझो । कर्म करने वाला मनुष्य उन कर्मों का फल न भोगे, ऐसा कोई पुरुष न इस पृथ्वी पर है न स्वर्ग में ।

न शक्य कर्म चाभोक्तुं सदेवासुरमानवैः ।

कर्मणा ग्रथितो लोक आदि प्रभृति वर्तते ॥

देवता असुर और मनुष्य कोई भी अपने कर्मों का फल भोगे बिना नहीं रह सकता। आदिकाल से ही यह संसार कर्म में गुंथा हुआ है ।

ग्रहादि सुख-दुःख देने में असमर्थ

नक्षत्राणि ग्रहाश्चैव शुभाशुभनिवेदकाः ।

मानवानां महाभागे न तु कर्मकराः स्वयम् ॥

महाभागे, ग्रह और नक्षत्र मनुष्यों के शुभ और अशुभ की सूचनामात्र देने वाले हैं । वे स्वयं कोई काम नहीं करते हैं ।

प्रजानां तु हितार्थाय शुभाशुभविधिं प्रति ।

अनागतमतिक्रान्तं ज्योतिश्चक्रेण बोध्यते ॥

प्रजा के हित के लिए ज्योतिषचक्र (ग्रह नक्षत्र मण्डल) के द्वारा भूत और भविष्य के शुभाशुभ फल का बोध कराया जाता है ।

किन्तु तत्र शुभ कर्म सुग्रहैस्तु निवेद्यते ।

दुष्कृतस्याशुभैरेव समवाचो भवेदिति ॥

किन्तु वहाँ शुभ कर्म फल की सूचना उत्तम (शुभ) ग्रहों द्वारा प्राप्त होती है । और दुष्कर्मों के फल की सूचना अशुभ ग्रहों द्वारा ।

केवलं ग्रहनक्षत्रं न करोति शुभाशुभम् ।

सर्वमात्मकृतं कर्म लोकवादो ग्रहा इति ॥

केवल ग्रह और नक्षत्र ही शुभाशुभ कर्म फल को उपस्थित नहीं करते हैं । सारा अपना ही किया हुआ कर्म शुभाशुभ फल का उत्पादक होता है । ग्रहों ने कुछ किया है - यह कथन लोगों का प्रवाद मात्र है ।

जीव की विभिन्न गति के वैज्ञानिक कारण

प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याय और शक्तियों का अखण्ड पिण्ड है । विश्व के मूलभूत षड्द्रव्यों में से जीव एवं पुद्गल स्थानान्तरित गति क्रिया शक्ति से युक्त है अर्थात् दोनों द्रव्य अन्तरंग बहिरंग कारणों को पाकर लोकाकाश में गमनागमन करते हैं । जीव की स्वाभाविक गति का प्रतिपादन करते हुये आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यों के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त एवं सारगर्भित प्रतिपादक द्रव्य संग्रह शास्त्र में उल्लेख करते हैं कि "विस्ससोड्ढर्गई" अर्थात् जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है । अमृत चन्द्र सूरि तत्त्वार्थ सार में जीव एवं पुद्गल के स्वभाव का वर्णन करते हुए उल्लेख करते हैं कि -

ऊर्ध्व गौरव धर्माणः जीवो इति जिनोत्तमै ।

अधो गौरव धर्माणः पुद्गला इति चोदितम् ॥

सर्वज्ञ सर्वदर्शी जिनेन्द्र भगवान ने जीव को ऊर्ध्व गौरव (ऊर्ध्व गुरुत्व) धर्म वाला बताया है । पुद्गल को अधोगौरव (अधो गुरुत्व) धर्म वाला प्रतिपादन किया है ।

जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व गमन करने की है । पुद्गल (Matter) की स्वाभाविक गति नीचे से नीचे की ओर है । कारण यह है कि जीव अमूर्तिक (स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, भारी) वजन से रहित एवं स्थानान्तरित रूप गति क्रिया शक्ति से युक्त होने के कारण जीव की गति ऊर्ध्वगमन होना स्वाभाविक है । उदाहरणार्थ हाईड्रोजन गैस लीजिये । हाईड्रोजन गैस से भरे हुए बैलून को मुक्त करने पर बैलून धीरे-धीरे ऊपर ही ऊपर गमन करता रहता है । यदि यह बैलून किसी कारणवश फटा नहीं तो वह गति करते-करते उसी ऊँचाई तक पहुँचेगा जहाँ तक वायुमण्डल की तह में हाईड्रोजन ही हाईड्रोजन गैस है । यह हाईड्रोजन बैलून के स्वाभाविक रूप से ऊपर गमन करने का कारण यह है कि हाईड्रोजन गैस साधारण हवा से 14½ गुणा हल्की होती है । यदि हाईड्रोजन हवा से 14½ गुणा हल्की होने के कारण वह बैलून ऊपर उड़ता है, तब शुद्ध जीव तो पूर्णतः वजन (भार) शून्य है इसीलिये शुद्ध जीव का ऊपर गमन करना स्वाभाविक है । पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, भारादि के साथ-साथ स्थानान्तरित गति शक्ति होने से पुद्गल का अधोगौरव स्वभाव होना भी स्वाभाविक है । यहाँ पर जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगमन स्वरूप है तो यह संसारी जीव विभिन्न

प्रकार वक्रादि गति से विश्व के विभिन्न भाग में क्यों परिभ्रमण करता है ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए अमृतचन्द्र सूरि बताते हैं कि -

अधस्तिर्यक् तथोर्ध्वं च जीवानां कर्मजा गतिः ।

ऊर्ध्वमेक स्वभावेन भवति क्षीण कर्मणाम् ॥

जीव की संसारी अवस्था में विभिन्न गति होती है, वह स्वाभाविक गति नहीं है। जीव की संसारावस्था में जो अधःगति, तिर्यकगति, ऊर्ध्वगति है उसका कारण कर्म जनित है। सम्पूर्ण कर्म से रहित जीव की केवल एक स्वाभाविक ऊर्ध्वगति ही होती है।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन का गति सिद्धान्त विषयक एक सिद्धान्त है, उस सिद्धान्त में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि -

"According to Newtons first law of motion a body at rest will remain at rest and a body moving with uniform velocity in a straight line will continue to do so unless an external force is applied to it."

एक द्रव्य जो विराम अवस्था में है तथा विराम अवस्था में रहेगा तथा एक द्रव्य जो सीधी रेखा में गतिशील है व गतिशील रहेगा, जब तक उस द्रव्य की अवस्था में परिवर्तन करने के लिए कोई बाह्य बल न लगाया जाये।

(एक द्रव्य तब तक स्थिर रहता है, जब तक बाह्य शक्ति का प्रयोग उसको गतिशील करने के लिये नहीं होता है तथा एक द्रव्य अविराम गति से एक सीधी रेखा में चलता रहता है, जब तक उस पर किसी बाह्य शक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता है।)

कोई भी द्रव्य यदि किसी एक दिक् की ओर गति करता है तो वह द्रव्य उस दिक् में अनन्तकाल तक विराम अपरिवर्तित गति से गति करता ही रहेगा, जब तक कोई विरोधी शक्ति या द्रव्य उस गति का विरोध नहीं करेगा। दिक् अनन्त, काल अनन्त एवं शक्ति अक्षय होने से जिस दिक् में एक द्रव्य गति करता है, वह द्रव्य उस दिक् के अनन्त आकाश की ओर अनन्त काल तक गति करता ही रहता है, परन्तु केन्द्राकर्षण (गुरुत्व) शक्ति, बाह्य भौतिक या जैविक आदि विरोध शक्ति के कारण उस गति में परिवर्तन आ जाता है। जैसे - एक गेंद को यदि ऊर्ध्व दिक् में फेंकते हैं तो वह कुछ समय के पश्चात् नीचे गिर जाती है। इसका कारण यह है कि गेंद को ऊपर फेंकने के लिये जो शक्ति प्रयोग की गई थी उससे वह ऊपर की ओर

उठी थी, परन्तु पृथ्वी की केन्द्राकर्षण शक्ति के कारण उसमें परिवर्तन होकर अधोगति हो गई। अन्य एक उदाहरण - खेत से पक्षी उड़ाने वाली एक रस्सी को यन्त्र विशेष में पत्थर आदि रखकर रस्सी के दोनों छोरों को पकड़कर अपनी ओर घुमाते हैं। रस्सी के साथ-साथ पत्थर भी घूमता रहता है कुछ समय के बाद रस्सी के छोर को छोड़ देते हैं, जिससे वह पत्थर छूटकर सीधा दूर जाता है। जिस समय वह व्यक्ति रस्सी के दोनों छोर पकड़कर घुमा रहा था, उस समय पत्थर उस व्यक्ति की घुमाव शक्ति से प्रेरित होकर आगे भागने का प्रयास करता था, परन्तु दोनों छोर को पकड़कर उस व्यक्ति के घुमाने के कारण वह पत्थर रस्सी के साथ-साथ वर्तुलाकार में घूमता रहता था परन्तु जब उस व्यक्ति ने रस्सी के एक छोर को छोड़ दिया तो वह पत्थर उस बन्धन से मुक्त होकर आगे भागता है। इसी प्रकार जीव की स्वाभाविक ऊर्ध्व गति होते हुए भी विरोधात्मक कर्म शक्ति से प्रेरित होकर कर्म संयुक्त संसारी जीव चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है, परन्तु जब कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है तब वह अन्य-अन्य गतियों से निवृत्त होकर स्वाभाविक ऊर्ध्व गति में गमन करता है।

पयडि टिट्ठि अणुभागप्पदेस बंधेहिं सव्वदो मुक्को ।

उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसा वज्जं गदि जति ॥

प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध, प्रदेश बन्ध से सम्पूर्ण रूप से मुक्त होने के बाद परिशुद्ध स्वतन्त्र शुद्धात्मक तिर्यक् आदि गतियों को छोड़कर ऊर्ध्व गमन करता है। जीव की वैभाविक परिणति तथा वैभाविक गति के कारण का उल्लेख करते हुए आचार्य "कुन्दकुन्द देव प्रवचन सार" में निम्न प्रकार कहते हैं -

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।

अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ 117 ॥

(अथ) अब, (नामसमाख्यं), 'नाम' संज्ञा वाला कर्म (स्वभावेन) अपने स्वभाव से (आत्मनः स्वभावं अभिभूय) जीव के स्वभाव का पराभव करके (नरं तिरियं नैरयिकं वा सुरं), मनुष्य, तिर्यक, नारक अथवा देव, (इन पर्यायों) को (करोति) करता है।

यथाग्निः कर्ता तैलस्वभावं कम्मं तामपन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्निः कर्ता तैलस्थानीयं शुद्धात्मस्वभावं तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीरधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण

परिणमयति । ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्यायाः निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ।

जैसे अग्नि कर्ता होकर तेल के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के आधार से उस तेल को दीपक की शिखा रूप में परिणमन कर देती है, वैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तेल के स्थान में शुद्धात्मा के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के समान शरीर के आधार से उसे दीपक की शिखा के समान नर, नरकादि पर्यायों के रूप से परिणमन कर देती है । इससे जाना जाता है कि मनुष्यादि पर्याय निश्चय से कर्म जनित है ।

नरनारक तिर्यक् सुरा जीवाः खलुः नामकर्म निवृत्ताः ।

न हि ते लब्धस्वभावाः परिणममानाः स्वकर्माणि ॥ 118 ॥

(नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः) मनुष्य, नारक, तिर्यच और देवरूप जीव (खलु) वास्तव में (नामकर्मनिवृत्ताः) नाम कर्म से निष्पन्न है । (हि) वास्तव में (ते) वे जीव (स्वकर्माणिः) अपने-अपने उपार्जित कर्मरूप (परिणममानाः) परिणत होते हुए (न लब्धस्वभावाः) (चिदानन्द) स्वभाव को प्राप्त नहीं होते ।

प्रथम तो यह मनुष्यादि पर्यायों नामकर्म से निष्पन्न हैं, किन्तु इतने में भी वहाँ (उन पर्यायों में) जीव के स्वभाव का पराभाव नहीं है । जैसे स्वर्ण में जड़े हुए माणिक वाले कंकणों में माणिक से स्वभाव का पराभाव नहीं होता । जो वहाँ (उन पर्यायों में) जीव स्वभाव को नहीं प्राप्त करता (अनुभव नहीं करता) सो स्वकर्मरूप परिणमित होने से हैं, पानी के पूर (बाढ़) की भाँति । जैसे -पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब चन्दनादि वनराजि रूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्तिरूप) परिणमित होता हुआ (अपने) द्रव्यत्व (तरलना बहाना) और स्वादुत्वरूप (स्वादिष्टपना) स्वभाव को प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्मरूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग-विशुद्धिमत्वरूप स्वभाव को प्राप्त नहीं करता ।

उपरोक्त उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि कर्म-परमाणु जीव की योग-उपयोग की शक्ति को प्राप्त करके विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण में गमन करता है । वर्षा का पानी समान होने पर भी विभिन्न वृक्षों की विभिन्न रासायनिक प्रक्रिया तथा गुण धर्म के कारण वही पानी विभिन्न रस रूप में परिणमित हो जाता है । जैसे -नीम वृक्ष जो पानी को ग्रहण करता है, वह पानी नीम वृक्ष के गुण धर्म एवं रासायनिक प्रक्रिया के कारण

कड़वा हो जाता है । इसी प्रकार गन्ने के कारण पानी मीठा, निर्घी के कारण पानी चरपरा, इमली के कारण खट्टा आदि रूप में परिणमित हो जाता है । उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म वर्गणाएँ जीव के अशुभ योग-उपयोग से प्रभावित होकर पाप रूप से जीव के शुभ योग एवं उपयोग को प्राप्त करके पुण्य रूप से परिणमन करता है । जीव के परम शुद्ध भाव से पुण्य एवं पाप जीव के पृथक् हो जाते हैं ।

पत्थर हाथ से छूटने के बाद नीचे गिरता है, क्योंकि पत्थर साधारण वायु-मण्डल से भारी होता है । एवम् गुरुत्वाकर्षण शक्ति से आकर्षित होकर नीचे गिरता है । हाइड्रोजन बैलून हाथ से छूटने से वह ऊपर उड़ता है क्योंकि हाइड्रोजन बैलून साधारण वायुमण्डल से 14वाँ भाग हल्का होता है । एक बैलून का वजन सामान्य वायुमण्डल के समान होगा, तो वह बैलून हाथ से छूटने से ऊपर-नीचे न जाकर उसी स्थान में रहेगा । यदि एक बैलून विशेष एक शक्ति के माध्यम से गुरुत्वाकर्षण शक्ति को पराभूत करके आगे बढ़ेगा तो जहाँ तक गति माध्यम है, वहाँ तक गमन करेगा अर्थात् लोकाग्र के शिखर तक जा पहुँचेगा । इसी प्रकार पाप कर्म भारी, अशुभ वर्ण (काला) अशुभ स्पर्श (रूक्षादि), अशुभ गंध (दुर्गन्ध) अशुभ रस होने के कारण पाप सहित (पापी जीव) जीव भी वजनदार-गुरु होता है, जिससे पापी जीव का पतन विश्व के नीचे की ओर होता है । नरक योग्य कम पाप से प्रथम नरक में, उससे अधिक पाप से दूसरे नरक में इसी प्रकार उत्तरोत्तर पाप की वृद्धि होने से नीचे-नीचे पतित होने से सप्तम नरक तक पतित होता है ।

पुण्य परमाणु हल्का, शुभ स्पर्श, शुभ गंध, शुभ रस एवं शुभ वर्ण वाला होने से पुण्य सहित जीव पुण्यात्मा विश्व के ऊपर की ओर गमन करता है । स्वर्ग के योग्य सामान्य पुण्य से प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर पुण्य की वृद्धि से सर्वार्थसिद्धि तक उत्पन्न होता है ।

पुण्य एवं पाप दोनों की मिस्र अवस्था अर्थात् सम अवस्था में जीव विश्व के मध्य भाग अर्थात् मध्यम लोक में मनुष्य एवं तिर्यञ्च होकर जन्म ग्रहण करता है ।

पुण्य पाप से जब जीव आध्यात्मिक प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न हो जाता है, तब वह जीव सम्पूर्ण बन्धन को तोड़कर सीधी ऊर्ध्व गति से गति माध्यम द्रव्य का जहाँ तक अस्तित्व है अर्थात् लोकाग्र शिखर में जाकर अनन्त काल तक वहाँ स्थिर हो जाता है ।

“द्रव्यकर्म एवं भावकर्म परस्पर जन्यजनकत्व”

पूर्वोपार्जित द्रव्य कर्म के उदय से भावकर्म होता है, एवं भाव कर्म से द्रव्यकर्म संचय होता है, यह वर्तमानकालीन द्रव्य कर्म की भविष्यत् कालीन भावकर्म का जनक होता है। वर्तमान कालीन भावकर्म का जनक भूतकालीन भावकर्म से उपार्जित द्रव्यकर्म होता है। अतैव द्रव्यकर्म एवं भावकर्म परस्पर जन्यजनकत्व सम्बन्ध से संबंधित है। गुणभद्राचार्य ने कहा भी है -

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृतां कर्माशुभं वा शुभं,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम् ।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भ परिग्रह परित्यागी स वन्द्यः सताम् ॥ 262 ॥ (आत्मानुसाशन)

जीव ने पूर्वभव में जिस पाप या पुण्यकर्म का संचय किया, वह दैव है। वह दैव दो प्रकार का है। (1) पाप दैव, (2) पुण्य दैव। इन दोनों दैव का सृष्टि करने वाला जो कर्ता है वह यथाक्रम (1) असत् पुरुषार्थ, (2) शुभ पुरुषार्थ।

“शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य”।

Virtuous activity is the cause of merit (Punya) and wicked activity is the cause of demerit (Pap)

उसकी उदीरणा से अर्थात् पापदैव एवं पुण्यदैव का शासनकाल में दोनों दैव को अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान शुभ को ही करता है अर्थात् शुभ पुरुषार्थ को करता है, पाप पुरुषार्थ का त्याग करता है, वह भी प्रशंसा योग्य है। किन्तु जो (3) परम पुरुषार्थी दोनों दैव को ही नष्ट करने के लिये समस्त दैव का (अनुग्रह एवं कृतज्ञता आरम्भ व परिग्रह) रूपी पराधीनता को त्याग करके परम पुरुषार्थ रूप स्वाधीन स्वराज्य में रमण करता है, वह तो सज्जन पुरुषों के लिये भी वन्दनीय है।

यह महापराक्रमी धूर्त, मूर्ख (जड़) दैव विभिन्न राज्य में विभिन्न नाम धारण करके पुरुषों के ऊपर शासन करता है।

विधि स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम् ।

ईश्वरश्चेति पर्याय विज्ञेया कर्मवेधसः ॥

विधि !, स्रष्टा, विधाता, दैव, कर्म, पुराकृतम्, ईश्वर, कर्म आदि अनेक नामों को धारण करने वाला यह जड़ दैव मूर्ख (जड़) होकर भी संसार में एक-जगाधिप शासन करने की शक्ति, अशिक्षित, आलसी, पुरुषार्थ विमुख पुरुषों से प्राप्त किया है।

जीवं परिणामहेतुं कम्मत्तं पुग्गल परिणमंति ।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ 180 ॥ (समयसार)

Materl molecules are transformed into Karmas by reason of the mundane souls (संसारी आत्मा) thought activity, similarly the mundane soul is transformed (into its impure thought activity) by reason of operation of Karmic matter.

जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गल, कर्मभाव से परिणमन करते हैं। इसी प्रकार दैव को शक्ति प्रदान करने वाला पुरुष (परम-पुरुषार्थ से हीन पुरुषार्थ) है और उस शक्ति के अनुशासन में शासित होने वाला पुरुष है। जब पुरुष उसको शक्ति प्रदान करता है, तब दैव विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न कार्य करता है।

जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेय विहं ।

मंसवसारुहिरादिभावे उदयरग्गि संजुत्तो ॥

As the food taken by a man is modified in many way in the form of flesh never, blood, etc. by reason of the digestive heat of the human system. That like the molecules of the karmic matter modified in many, in the form of eight kinds of karma by impure thought activity of the mundane soul.

जैसे पुरुष द्वारा ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से युक्त हुआ, अनेक प्रकार मांस, रुधिर आदि भावों के रूप परिणमता है, उसी प्रकार कर्म पुद्गल भी जीवों के रागादि भावों को प्राप्त करके 8 प्रकार अथवा अनेक प्रकार दैव रूप में परिणमन करता है।

भोजन से पहले खाद्य सामग्री, रोटी, भात, दाल आदि रूप में रहती है। भोजन करने से वही खाद्य सामग्री खाने वाले के चर्वण, लार पाचन शक्ति आदि के निमित्त से रस, रुधिर, मांस, मेद(चर्बी), अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज आदि रूप परिणमन हो जाती है। इसी प्रकार कर्मवर्गणा जब तक जीव के योग और उपयोग का निमित्त प्राप्त करके आस्रव एवं बन्धरूप परिणमन नहीं करता है तब तक वह वर्गणा केवल भौतिक पुद्गल स्वरूप ही रहती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करके वही कर्मवर्गणा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्म रूप से परिणमन कर लेती है। जीव के योग एवं उपयोग को प्राप्त करने से पहले कर्मवर्गणा जड़ रूप में रहती है एवं योग उपयोग रूपी जीव के शुभाशुभ निमित्त को प्राप्त करके दैव रूप

में परिणमन कर लेती है। इससे सिद्ध होता है कि दैव भी पुरुषार्थ से जायमान — उत्पन्न है। जैसे अण्डा से पक्षी उसी प्रकार शुभाशुभ पुरुषार्थ भी पूर्वाजित दैव के कारण होता है। इसलिये कथञ्चित् पुरुषार्थ भी दैव से जायमान है। जैसे अण्डा से पक्षी जायमान है और पक्षी से अण्डा जायमान है। जैसे बीज से वृक्ष एवं वृक्ष से बीज उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कथञ्चित् कर्म (दैव) से पुरुषार्थ एवं पुरुषार्थ से कर्म उत्पन्न होता है। अभव्य जीव के दैव एवं पुरुषार्थ की परम्परा अनादि अनन्त होते हुये भी मोक्ष जाने वाले भव्यों की यह परम्परा अनादि शान्त है। दैव एवं पुरुषार्थ का परस्पर जन्यजनक का भाव बताते हुये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी निम्न प्रकार बताते हैं —

भावो कम्म णिमित्तो कम्मं पुण भाव कारणं हवदि ।

ण दुतेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥ 60 ॥ (पंचास्तिकाय)

Bhava or emotional states are conditioned by Dravyakarma or matter. And karma in its turn is indeed Conditioned by karmic thought or Bhava. Soul is not the essential cause in that case and still without essential cause those changes Cannot happen.

निर्मल चैतन्यमई ज्योति स्वभाव रूप शुद्ध जीवास्तिकाय से प्रतिपक्षी भाव जो मिथ्यात्व व रागादि परिणाम है वह कर्मों के उदय से रहित चैतन्य का चमत्कार मात्र जो परमात्मा स्वभाव है, उससे उल्टे जो हृदय में प्राप्त कर्म है उनके निमित्त से होता है तथा ज्ञानावरण आदि कर्मों से रहित जो शुद्धात्मा तत्त्व है उससे विलक्षण जो नवीन द्रव्यकर्म है सो निर्विकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति से विरुद्ध जो रागादि भाव है उनके निमित्त से बंधते हैं। ऐसा होने पर भी जीव संबंधी रागादिभावों का और द्रव्य कर्मों का परस्पर उपादान कर्ता जीव ही है तथा द्रव्यकर्मों का उपादानकर्ता कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल ही है। दूसरे व्याख्यान में यह तात्पर्य है कि यद्यपि शुद्ध निश्चय नये से विचार किये जाने पर जीव रागादि भावों का कर्ता है यह बात सिद्ध है।

आदा कम्म मलिमसो परिणामं लहदि कम्म संजुत्तं ।

तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामं ॥ 121 ॥ (प्रवचनसार)

“संसार” नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का (बंध) हेतु है, अब उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? (इसके उत्तर में कहते हैं कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्य कर्म की

संयुक्ता से ही वह कर्म है।

ऐसा होने से इतरेतराश्रय दोष आयेगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बन्ध आत्मा का जो पूर्व का द्रव्यकर्म है उसको वहाँ हेतु रूप से ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्ता भी उपचार से है।

जीव परिणाम हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परणंमति ।

पुग्गल कम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥ 86 ॥

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।

अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोहंपि ॥ 87 ॥

यद्यपि जीव के रागद्वेषी परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीवकर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भाँति कर्म भी जीव के चेतनादिक गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।

पुग्गल कम्म कदाणं ण दु कत्ता सव्वभावणं ॥ 88 ॥ (समयसार)

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परस्पर में निमित्त कारणपना है इसका व्याख्यान किया गया है।

व्यवहारनय से भिन्न षट्कारक के अनुसार जीव के रागद्वेष निमित्त पाकर कर्मपरमाणु द्रव्यकर्म रूप में परिणमन करता है। द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। परन्तु निश्चयनय से एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं होने से जीव परिणाम के हेतु पुद्गल नहीं है, एवं पुद्गल के परिणाम के हेतु जीव नहीं है। पंचस्तिकाय में कहा है —

“निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वाकर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूप कर्तृत्वमुक्तम् ।”

निश्चय से अभिन्न कारक होने से कर्म और जीव स्वयं स्वरूप के अपने-अपने रूप के कर्ता है। निश्चय से जीव पुद्गल का कर्ता नहीं होने पर भी व्यवहारनय से कर्ता है।

आगम में कहा भी है —

पुगल कम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो ।

चेदण कम्माणदा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ 8 ॥ (वृहद्द्रव्य संग्रह)

According to vyavahara Naya, Jiva is the doer of the Pudgala karmas. According to Nishchaya Naya, Jiva is the doer of thought-karmas. According to suddha Naya, Jiva is the doer of suddha Bhavas.

आत्मा व्यवहार से पुद्गल कर्म आदि का कर्ता है – निश्चय से चेतन कर्म का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्ता है ।

व्यवहारदो सुहदुक्खं पुगलकम्मफ्फलं पभुंजेदि ।

आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स ॥ 9 ॥ (वृहद्द्रव्यसंग्रह)

According to Vyavahara Naya, Jiva enjoys happiness and misery, the fruits of pudgala karmas According to Nischaya Naya, Jiva has Conscious Bhavaonly.

आत्मा व्यवहार से सुख-दुःख रूप पुद्गल : कर्मों को भोगता है और निश्चयनय से आत्मा चेतन स्वभाव को भोगता है ।

यदि एकान्ततः निश्चयनय के समान व्यवहारनय से भी जीव कर्म का कर्ता नहीं है, तब अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जायेंगे । व्यवहारनय से भी जीव कर्म का कर्ता नहीं होने पर कर्मबन्धन नहीं होगा, कर्मबन्ध के अभाव से संसार का अभाव हो जायेगा, संसार के अभाव से मोक्ष का भी अभाव हो जायेगा, जो कि आगम, तर्क, प्रत्यक्ष एवं अनुभव विरुद्ध है । निश्चयनय का विषय व्यवहार से संयोजना करके शिष्य, गुरुवर्य कुन्दकुन्दाचार्य से निम्न प्रकार प्रश्न करता है –

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं ।

किध तस्स फलं भुज्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥ 63 ॥ (पंचरिक्तकाय प्राभृत)

आगे पूर्वोक्त प्रकार से अभेद छः कारक का व्याख्यान करते हुए निश्चयनय से यह व्याख्यान किया गया है । इसे सुनकर 'नयो' के विचारों को न जानता हुआ शिष्य एकान्त को ग्रहण करके पूर्णपक्ष करता है ।

यदि द्रव्य कर्म को एकान्त के बिना जीव के परिणाम की अपेक्षा करता है और वह आत्मा अपने को ही करता है – द्रव्यकर्म को नहीं करता है तो किस तरह आत्मा उस बिना किये हुए कर्म के फल को भोगता है और यह जीव के बिना किया हुआ कर्म आत्मा में फल कैसे देता है ? इस प्रश्न का आगभोक्त यथार्थ प्रत्युत्तर देते हुए

कुन्दकुन्द स्वामी बताते हैं –

“निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैकवृत्तत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलभो जीवस्य न विरुद्धयत इत्यत्रोक्तम् ।”

जीवा पुगलकाया अण्णोण्णागाढगहणपडिबद्धा ।

काले विभुज्जमाणा सुहदुक्खं दिति भुज्जन्ति ॥ 67 ॥

आगे शिष्य ने जो पूर्वपक्ष किया था कि बिना किये हुए कर्मों का फल-जीव किस तरह भोगता है उसी का उत्तर नय विभाग से जीव फल को भोगता है – ऐसा युक्तिपूर्वक दिखाते हैं ।

संसारी जीवों के अपने-अपने रागादि परिणामों के निमित्त से तथा पुद्गलों में स्निग्ध रुक्ष गुण के कारण द्रव्य-कर्मवर्गणायें जीव के प्रदेशों में जो पहले से ही बंधी हुई होती हैं वे ही अपनी स्थिति के पूर्ण होते हुए उदय में आती हैं तब अपने-अपने फल को प्रगट कर झड़ जाती हैं, उसी समय वे कर्म अनाकुलता लक्षण जो पारमार्थिक सुख है उससे विपरीत परम आकुलता को उत्पन्न करने वाले सुख तथा दुःख उन जीवों को मुख्यता से देती है, जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जो निर्विकार चिदानंदमयी एकस्वभावरूप जीव को और मिथ्यात्व रागादि भावों को एक रूप ही मानते हैं और जो मिथ्याज्ञानी हैं अर्थात् जिनको यह ज्ञान है कि जीव रसदृष्टि मोहादि रूप ही होते हैं तथा जो मिथ्याचारित्री हैं अर्थात् जो अपने को रागादि के परिणमन करते हुए जीव अभ्यंतर में अशुद्ध निश्चय ही हर्ष या विषाद रूप तथा व्यवहार से बाहरी पदार्थों में नाना प्रकार इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति रूप मधुर या कटुक विष के रस के आस्वादनरूप सांसारिक सुख या दुःख की वीतरागता परमानन्दमयी सुखामृत के रसास्वादन के भोग को न पाते हुए भोगते हैं । निश्चय से तो वे अपने भावों को ही भोगते हैं, व्यवहार से वे पदार्थों को भोगते हैं, ऐसा अभिप्राय जानना ।

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्महेहि ।

हिंइदि पारमपारं संसारं मोहसंच्छण्णो ॥ 69 ॥

एवमयमात्मा प्रकटितपरभुत्व-शक्तिः स्वकैः कर्ममिगृहीत कर्तृत्व भोक्तृत्वाधिकारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजात विपरिताभिनिवेशः अत्यस्तमितसम्य ज्ञान-ज्योतिः सांतमनंतं वा संसारं परिभ्रमतीतिः ॥

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्ता भोक्ता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ

अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है ।

इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादितपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त हो गई है, इसलिये यह सात अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है ।

जं जं जे जे जीवा पज्जानां परिणमंति संसारे ।

रायस्स य दोसस्स य मोहस्स वसा मुणेयव्वा ॥ 988 ॥

संसार में जो जो जीव जिस-जिस पर्याय से परिणमन करते हैं वे सब रागद्वेष और मोह के वशीभूत होकर ही परिणमते हैं, ऐसा जानना ।

विश्व के महाकाव्य महाभारत में वेदव्यासजी ने कर्म तथा कर्ता के बारे में वर्णन करते हुये निम्न प्रकार कहा है -

शृणु भामिनि कर्तारमात्मा हि न च कर्मकृत् ।

प्रकृत्या गुणयुक्तेन क्रियते कर्म नित्यशः ॥ अ. 145 पृ. 5975

श्री महेश्वर ने कहा - भामिनी ! कर्ता कौन है ? यह सुनो ! आत्मा कर्म नहीं करता है । प्रकृति के गुणों से युक्त प्राणी द्वारा ही सदा कर्म किया जाता है ।

शरीरं प्राणिनां लोके यथा पित्तकफानिलैः ।

व्याप्तमेभिस्त्रिभिर्दोषैस्तथा व्याप्तं त्रिभिर्गुणैः ॥

जगत् में प्राणियों का शरीर जैसे वात, पित्त और कफ- इन तीन दोषों से व्याप्त रहता है, इसी प्रकार प्राणी सत्त्व, रज और तम- इन गुणों से व्याप्त होता है ।

सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणास्त्वेते शरीरिणः ।

प्रकाशात्मकमेतेषां सत्त्वं सततमिष्यते ॥

रजो दुःखात्मकं तत्र तमो मोहात्मकं स्मृतम् ।

त्रिभिरेतैर्गुणैर्युक्तं लोके कर्म प्रवर्तते ॥

सत्त्व, रज और तम ये तीनों शरीर धारी के गुण हैं । इनमें में सत्त्व सदा प्रकाश स्वरूप माना गया है । रजोगुण दुःखरूप और तमोगुण मोहरूप बताया गया है । लोक में इन तीनों गुणों से युक्त कर्म की प्रवृत्ति होती है ।

सात्त्विक प्रकृति

सत्यं प्राणिदया शौचं श्रेयः प्रीतिः क्षमा दमः ।

एवमादि तथान्यश्च कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥

सत्य भाषण, प्राणियों पर दया, शौच, श्रेय, प्रीति, क्षमा और इन्द्रियसंयम ये तथा ऐसे ही अन्य कर्म भी सात्त्विक कहलाते हैं ।

राजसिक प्रकृति

दाक्ष्यं कर्मपरत्वं च लोभो मोहो विधिं प्रति ।

कलत्रसङ्गो माधुर्यं नित्यमैश्वर्यलुब्धता ॥

रजसश्चोद्भवं चैतत् कर्म नानाविधं सदा ॥

दक्षता, कर्मपरायणता, लोभ, विधि के प्रति मोह, स्त्रीसङ्ग, माधुर्य तथा सदा ऐश्वर्य का लोभ- ये नाना प्रकार के भाव और कर्म रजोगुण से प्रकट होते हैं ।

तामसिक प्रकृति

अनृतं चैव पारुष्यं धृतिर्विद्वेषिता भृशम् ।

हिंसासत्यं च नास्तिक्यं निद्रालस्यभयानि च ॥

तमसश्चोद्भवं चैतत् कर्म पापयुतं तथा ॥

असत्यभाषण, रूखापन, अत्यन्त अधीरता, हिंसा, असत्य, नास्तिकता, निद्रा आलस्य और भय ये तथा पापयुक्त कर्म तमोगुण से प्रकट होते हैं ।

तस्माद् गुणमयः सर्वः कार्यारम्भः शुभारम्भः ।

तस्मादात्मानमव्यग्रं विद्यकर्तारमव्ययम् ॥

इसलिये समस्त शुभाशुभ कार्यारम्भ गुणमय है, अतः आत्मा को व्यग्रतारहित, अकर्ता और अविनाशी समझो ।

तीनों प्रकृति वालों की गति

सात्त्विकाः पुण्यलोकेषु राजसा मानुषे पदे ।

तिर्यग्योनौ च नरके तिष्ठेयुस्तामसा नराः ॥

सात्त्विक मनुष्य पुण्य लोकों में जाते हैं । राजस जीव मनुष्य लोक में स्थित होते हैं तथा तमोगुणी मनुष्य पशु-पक्षियों की योनि में और नरक में स्थित होते हैं ।



2

आस्रव का लक्षण

कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः ।
 शुभः पुण्यस्य विज्ञेयो विपरीश्च पाप्मनः ॥ 2 ॥
 सरसः सलिलावाहिद्वारमत्र जनैर्यथा ।
 तदास्रवणहेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥ 3 ॥
 आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योगप्रणालिका ।
 कर्मास्रवस्या हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ॥ 4 ॥

(तत्त्वार्थसार, अ. 4)

काय, वचन और मन की जो क्रिया है वह योग कहलाती है । जो योग है वही आस्रव है । शुभ और अशुभ के भेद से योग के दो भेद हैं । शुभयोग पुण्य कर्म का आस्रव है और अशुभ योग पाप कर्म का आस्रव है । जिस प्रकार तालाब में पानी लाने वाला द्वार पानी आने का कारण होने से मनुष्यों के द्वारा आस्रव कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा की यह योगरूप प्रणाली भी कर्मास्रवका हेतु होने से जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा आस्रव कही जाती है ।

आस्रव के सांपरायिक और ईर्यापथ भेद

जन्तवः सकषाया ये कर्म ते साम्परायिकम् ।
 अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे ॥ 5 ॥
 साम्परायिकमेतस्त्यादार्यचर्मस्थरेणुवत् ।
 सकषायस्य यत्कर्मयोगानीतं तु मूर्च्छति ॥ 6 ॥
 ईर्यापथं तु तुच्छुष्ककुडयप्रक्षिसलोष्टवत् ।
 अकषायस्य यत्कर्म योगानीतं न मूर्च्छति ॥ 7 ॥

जो जीव कषाय सहित हैं वे साम्परायिक कर्म का आस्रव करते हैं और जो उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीव हैं वे ईर्यापथ कर्म का आस्रव करते हैं । यह साम्परायिक आस्रव गीले चमड़े पर स्थित धूलि के समान है । कषाय सहित जीव के योगों के कारण जो कर्म आते हैं वे वृद्धि को प्राप्त होते हैं अर्थात् स्थिति और अनुभाग बन्ध पड़ने के कारण वे कर्म विस्तार को प्राप्त होते हैं और जो ईर्यापथ आस्रव है वह सुखी दीवाल पर फेंके हुये ढेले के समान है । कषाय रहित जीवों

के योगों के कारण जो कर्म आते हैं, वे वृद्धि को प्राप्त नहीं होते अर्थात् स्थिति और अनुभाग बंध के अभाव में वे विस्तार को प्राप्त नहीं होते । समय मात्र में निर्जीर्ण हो जाते हैं ।

साम्परायिक और ईर्यापथ के भेद से आस्रव के दो भेद हैं । कषायसहित जीव के आस्रव को साम्परायिक आस्रव कहते हैं और कषायरहित जीव के आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं । जिस प्रकार गीले चमड़े पर धूलि जमकर बैठती है, उसी प्रकार कषाय सहित जीव के कर्म जमकर बैठते हैं अर्थात् उनकी स्थिति और अनुभाग बंध होता है और सुखी दीवाल पर फेंका हुआ ढेला जिस प्रकार दीवाल का स्पर्श कर तत्काल उससे अलग हो जाता है उसी प्रकार कषाय-रहित जीव के कर्म आत्मा के साथ सम्बन्ध करते ही एक समय के भीतर अलग हो जाते हैं, उनमें स्थिति और अनुभाग बन्ध नहीं पड़ता है । प्रारंभ से लेकर दशम गुणस्थान तक के जीव कषाय सहित हैं इसीलिये इनके साम्परायिक आस्रव होता है और ग्यारहवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव कषाय रहित हैं इसीलिये उनके ईर्यापथ आस्रव होता है । यद्यपि चौदहवें गुणस्थान के जीव भी कषाय रहित हैं तो भी योगों के न होने से उनको किसी भी कर्म का आस्रव नहीं होता ।

साम्परायिक आस्रव का कारण

चतुः कषायपञ्चक्षैस्तथा पञ्चभिरव्रतैः ।

क्रियाभिः पञ्चविंशत्या साम्परायिकमास्रवेत् ॥ 8 ॥

चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, पाँच अव्रत और पच्चीस क्रियाओं के द्वारा यह जीव साम्परायिक आस्रव करता है ।

“क्रोधादि चार कषायों, स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों, हिंसा, झूठ आदि पाँच अव्रतों तथा सम्यक्त्व क्रिया आदि पच्चीस क्रियाओं के द्वारा साम्परायिक आस्रव होता है ।” यहाँ पच्चीस क्रियाओं का स्वरूप लिखते हैं -

सम्यक्त्व क्रिया :- चैत्य, गुरु और शास्त्र की पूजा आदि रूप सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया है ।

मिथ्यात्व क्रिया :- अन्य देवताओं को नमस्कारादिरूप मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया मिथ्यात्व क्रिया है ।

प्रयोग क्रिया :- शरीर आदि द्वारा गमनागमनादि रूप प्रवृत्ति करना प्रयोग क्रिया है ।

समादान क्रिया :- संयमी जीव का फिर से असंयम की ओर सम्मुख होना समादान क्रिया है ।

ईर्यापथ क्रिया :- ईर्यापथ की कारणभूत क्रिया ईर्यापथ क्रिया है ।

प्रादोषिकी क्रिया :- क्रोध के आवेश से होने वाली क्रिया प्रादोषिकी क्रिया है ।

कायिकी क्रिया :- दुष्टभाव युक्त होकर उद्यम करना कायिकी क्रिया है ।

आधिकरणिकी क्रिया :- हिंसा के उपकरण आदि को उठाना आधिकरणिकी क्रिया है ।

परितापीकी क्रिया :- ऐसे शब्दादि कहना जिससे दूसरे को संताप हो, पारितापि क्रिया है ।

प्राणातिपातिकी क्रिया :- प्राणघातरूप प्रवृत्ति करना प्राणातिपातिकी क्रिया है ।

दर्शन क्रिया :- राग से आर्द्र चित्त हो स्त्री आदि के रमणीय रूप को देखने का अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है ।

स्पर्शन क्रिया :- प्रमाद के वशीभूत होकर स्त्री आदि के स्पर्श करने का भाव होना स्पर्शन क्रिया है ।

प्रात्ययिकी क्रिया :- नये-नये अधिकरणों से स्त्री आदि के हृदय में अपने ऊपर प्रत्यय-विश्वास उत्पन्न करना प्रात्ययिकी क्रिया है ।

समन्तानुपात क्रिया :- स्त्री-पुरुषों के आने-जाने आदि के स्थान में मलोत्सर्ग करना समन्तानुपात क्रिया है ।

अनाभोग क्रिया :- बिना देखी, बिना शोधी हुई भूमि पर शरीरादि को रखना-उठाना-बैठना आदि अनाभोग क्रिया है ।

स्वहस्त क्रिया :- दूसरे के द्वारा करने योग्य कार्य को लोभ के वशीभूत होकर स्वयं करना स्वहस्त क्रिया है ।

निसर्ग क्रिया :- पापादि में प्रवृत्ति करने के लिये सम्मति देना निसर्ग क्रिया है ।

विदारण क्रिया :- दूसरे के पाप-कार्य को प्रकाशित करना विदारण क्रिया है ।

आज्ञाव्यापादिकी क्रिया :- अपनी असमर्थता के कारण आगम की आज्ञा का अन्यथा निरूपण करना आज्ञाव्यापादिकी क्रिया है ।

अनाकांक्षा क्रिया :- धूर्तता और आलस्य के कारण आगम प्रतिपादित क्रियाओं के प्रति अनादर करना अनाकांक्षा क्रिया है ।

प्रारम्भ क्रिया :- छेदना, भेदना आदि क्रियाओं में स्वयं तत्पर होना और दूसरे के करने पर हर्षित होना प्रारम्भ क्रिया है ।

पारिग्रहिकी क्रिया :- परिग्रह की रक्षा आदि के लिये जो क्रिया होती है वह पारिग्रहिकी क्रिया है ।

माया क्रिया :- ज्ञान-दर्शन आदि के विषय में छलरूप प्रवृत्ति करना माया क्रिया है ।

मिथ्यादर्शन क्रिया :- मिथ्यादर्शन के साधनों से युक्त पुरुष की प्रशंसा कर उसे मिथ्यात्व में दृढ़ करना मिथ्यादर्शन क्रिया है ।

अप्रत्याख्यान क्रिया :- संयमघाती कर्म का उदय होने से त्यागरूप परिणाम नहीं होना अप्रत्याख्यान क्रिया है ।

(1) ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के हेतु

मात्सर्यमन्तरायश्च प्रदोषो निह्ववस्तथा ।

आसादनोपघातौ च ज्ञानस्योत्सूत्रचोदितौ ॥ 13 ॥

अनादरार्थश्रवणमालस्यं शास्त्रविक्रयः ।

बहुश्रुताभिमानेन तथा मिथ्योपदेशनम् ॥ 14 ॥

अकालाधीतिरार्चोपाध्यायप्रत्यनीकता ।

श्रद्धाभावोऽप्यनभ्यासस्तथातीर्थोपरोधनम् ॥ 15 ॥

बहुश्रुतावमानश्च ज्ञानाधीतेश्च शाट्यता ।

इत्येते ज्ञानरोधस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 16 ॥ (तत्त्वार्थसार)

मात्सर्य, अन्तराय, प्रदोष, निह्व ज्ञान का आसादन, उपघात, आगमविरुद्ध बोलना, अनादरपूर्वक अर्थ को सुनना, आलस्य, शास्त्र बेचना, अपने को बहुज्ञानी मानकर मिथ्या उपदेश देना, अकाल में अध्ययन करना, आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, धर्म की आमनाय में रुकावट डालना, बहुज्ञानी जीवों का तिरस्कार करना और ज्ञानाध्ययन की कुशलता से धूर्तता का व्यवहार करना ये सब ज्ञानावरण कर्म के आस्रव हेतु हैं ।

ये पुरा मनुजा देवि ज्ञानदर्पसमन्विताः ।

श्लाघमानाश्च तत् प्राप्य ज्ञानाहङ्कारमोहिताः ॥

वदन्ति ये परान् नित्यं ज्ञानाधिक्येनदर्पिताः ।

ज्ञानादसूयां कुर्वन्ति न सहन्ते हि चापरान् ॥

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।

मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य तत्र बोधविवर्जिताः ॥

भवन्ति सततं देवि यतन्नो हीनमेधसः ॥

जो मनुष्य ज्ञान के घमंड में आकर अपनी झूठी प्रशंसा करता है और ज्ञान पाकर अहंकार से मोहित हो दूसरों पर आक्षेप करते हैं, जिन्हें सदा अपने अधिक ज्ञान का गर्व रहता है, जो ज्ञान से दूसरों के दोष प्रकट किया करते हैं, और दूसरे ज्ञानियों को नहीं सहन कर पाते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म लेने पर चिरकाल के बाद मनुष्य-योनि पाते हैं । देवि ! उस जन्म में वे सदा यत्न करने पर भी बोधहीन और बुद्धि रहित होते हैं । (महाभारत)

भिन्नास्रवत्वं वा प्रदोषदीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः ॥ 20 ॥

अथवा

भिन्नास्रवतं ज्ञानदर्शनावरणयोर्वेदितव्यम् । कुतः? प्रदोषादीनां विषयभेदाद्भेदसिद्धेः । ज्ञानविषया हि प्रदोषादायो ज्ञानावरणस्यास्रवाः, दर्शनविषयाश्च दर्शनावरणस्येति ।

प्रदोषादि के विषयभेद से भेद सिद्ध होने से ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव पृथक्-पृथक् हैं । ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव भिन्न-भिन्न समझने चाहियें, क्योंकि विषय भेद से प्रदोषादि भिन्न हो जाते हैं । ज्ञानविषयक प्रदोषादि ज्ञानावरण के और दर्शनविषयक प्रदोषादि दर्शनावरण के आस्रव के कारण होते हैं ।

(2) दर्शनावरण कर्म के आस्रव के हेतु

दर्शनास्यान्तरायश्च प्रदोषो निहवोऽपि च ।

मात्सर्यमुपघातश्च तस्यैवासादनं तथा ॥ 17 ॥

नयनोत्पाटनं दीर्घस्वापिता शयनं दिवा ।

नास्तिक्यावासना सम्यग्दृष्टिसंदूषणम् तथा ॥ 18 ॥

कुतीर्थानां प्रशंसा च जुगुप्सा च तपस्विनाम् ।

दर्शनावरणस्यैते भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 19 ॥ त. सार

दर्शन के विषय में अन्तराय, प्रदोष, निहव, मात्सर्य, उपघात और आसादन करना, नेत्रों को उखाड़ना, बहुत काल तक सोना, दिन में सोना, नास्तिकता का

भाव रखना, सम्यग्दृष्टि जीव में दूषण लगाना, कुगुरुओं की प्रशंसा करना, समीचीन तपस्वी-गुरुओं से ग्लानि करना दर्शनावरण कर्म के आस्रव हैं ।

तत्त्वार्थ सूत्र में ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणाय कर्मों के आस्रवों के कारणों का वर्णन युगपत् करते हुए आचार्य प्रवर उमास्वामी ने कहा भी है -

तत्प्रदोषनिहवमात्सर्याऽन्तरायाऽऽसादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः ॥10॥

प्रदोष (दूसरों के गुणों को देखकर भीतर-भीतर जलना), निहव (किसी बहाने से ज्ञान को छिपाना), मात्सर्य भाव (देने योग्य ज्ञान को भी किसी बहाने से न देना), अन्तराय (कलुषता से ज्ञान का व्यवच्छेद करना), आसादन (दूसरे के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को किसी कारणवश प्रकट नहीं होने देना), उपघात (किसी के समीचीन ज्ञान में दूषण), इन कारणों से ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का आस्रव होता है ।

आचार्योपाध्यायप्रत्यनीकत्व - अकालाध्ययन-श्रद्धाभाव- अभ्यासालस्य-अनादरार्थश्रवण-ऽतीर्थोपरोध-बहुश्रुतगर्व-मिथ्योपदेश-बहुश्रुतावमान-स्वपक्षपरिग्रह पण्डितत्वस्वपक्षपरित्याग-अबद्धप्रलाप-उत्सूत्रवाद-साध्यपूर्वकज्ञानाधिगम-शास्त्रविक्रय-प्राणातिपातादयः ज्ञानावरणस्यास्रवाः । दर्शनमात्सर्याऽन्तराय-नेत्रोत्पाटनोन्द्रियप्रत्यनीकत्वदृष्टिगौरव आयतस्वापिता-दिवाशयनालस्य-नास्तिक्यपरिग्रह-सम्यग्दृष्टिसंदूषण-कुतीर्थप्रशंसा-प्राणव्यपरोपण-यतिजनजुगुप्सादयो दर्शनावरणस्यास्रवाः ।

आचार्य और उपाध्याय के प्रतिकूल चलना, अकाल में अध्ययन करना, अक्षुद्धा शास्त्राभ्यास में आलस्य करना, अनादर से अर्थ का श्रवण, तीर्थोपरोध (दिव्यध्वनि के काल में स्वयं व्याख्यान करने लगना), स्वकीय बहुश्रुत का गर्व करना, मिथ्योपदेश देना, बहुश्रुतवान का अपमान या अनादर करना, अपने पक्ष का दुराग्रह, स्वपक्ष के दुराग्रह के कारण असंबद्ध प्रलाप करना, सूत्रविरुद्ध बोलना, असिद्ध से ज्ञानाधिगम (असिद्ध से ज्ञान-प्राप्ति), शास्त्रविक्रय और हिंसादि कार्य ज्ञानावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं । दर्शनमात्सर्य, दर्शान्तराय, आँखें फोड़ना, इन्द्रियों के विपरीत प्रवृत्ति, अपनी दृष्टि का गर्व, बहुत देर तक सोये रहना, दिन में सोना, आलस्य, नास्तिक्य, सम्यग्दृष्टियों में दूषण लगाना, कुतीर्थ-प्रशंसा, जीवहिंसा और मुनिगणों के प्रति ग्लानि के भाव आदि भी दर्शनावरण कर्म के आस्रव

के कारण हैं ।

कथंचित् दर्शन एवं ज्ञान में भेदाभेद होने के कारण दर्शनावरणीय एवं ज्ञानावरणीय कर्म में भी भेदाभेद हैं । भेदाभेद का वर्णन करते हुए राजवार्तिक में अकलंक देव स्वामी ने निम्न प्रकार कहा है -

आवरणाभावे साहचर्यात् । (12) आवरणात्यन्तसंक्षये केवलिनि युगपत् केवलज्ञानदर्शनयोः साहचर्य भास्करे प्रतापप्रकाशसाहचर्यवत् । ततश्चानयोस्तुल्यास्रवत्वं युक्तम् ।

आवरण के अभाव में एक साथ उत्पन्न होते हैं अथवा आवरण के अत्यन्त संक्षय होने पर केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ प्रकट होते हैं, जैसे - बादलों के विघटने से सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होता है, अतः एक साथ ज्ञान, दर्शन की उत्पत्ति होने से या दोनों में साहचर्य होने से इन दोनों में तुल्य कारणों से आस्रव मानना उचित है ।

इतरत्र क्रमवृत्तिर्जलसमवेताग्निप्रतापप्रदीपप्रकाशवत् । (13) इतरस्मिन् सावरणे ज्ञानदर्शनयोः क्रमेण वृत्तिः, यथा जलसमवायिनोऽग्नेः प्रताप एव न प्रकाशः, प्रदीपप्रकाशस्य च प्रकाश एव न प्रतापः तथा छद्यस्थस्य यदा ज्ञानोपयोगः न तदा दर्शनोपयोगः तदा दर्शनोपयोगः न तदा ज्ञानोपयोगः ।

संसारी प्राणी में ज्ञान, दर्शन की क्रम से प्रवृत्ति होती है । सावरण व्यक्ति में ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग क्रम से प्रवृत्त होते हैं जैसे जल समवेत अग्नि (गर्म जल) में प्रताप-ताप प्रकट हैं, प्रकाश प्रकट नहीं है और प्रदीप के प्रकाश में प्रकाश प्रकट है, प्रताप प्रकट नहीं है । उसी प्रकार छद्यस्थ जीवों के जिस प्रकार समय ज्ञानोपयोग है उस समय दर्शनोपयोग नहीं है और जिस समय दर्शनोपयोग है उस समय ज्ञानोपयोग नहीं है, क्योंकि छद्यस्थों के एक साथ दोनों नहीं होते ।

3. दर्शनमोहनीय के आस्रव के हेतु

केवलिश्रुतसंघानां धर्मस्य त्रिदिवौकसाम् ।

अवर्णवादग्रहणं तथा तीर्थकृतामपि ॥ 27 ॥

मार्गसंदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम् ।

इति दर्शनमोहस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 28 ॥ (तत्त्वार्थसार)

केवली, श्रुत, संघ, धर्म तथा तीर्थकरों का भी अवर्णवाद करना, मार्ग में दोष

लगाना तथा उन्मार्ग-मिथ्यामार्ग का उपदेश देना ये दर्शनमोहनीय के आस्रव के हेतु हैं ।

अवधिमान दोषों का कहना अवर्णवाद है । केवली कवलाहार करते हैं इत्यादि कहना केवली का अवर्णवाद है । शास्त्रों में माँस खाना लिखा है इत्यादि कहना श्रुत का अवर्णवाद है । ये नग्न हैं, म्लेच्छ हैं, आदि शब्दों द्वारा ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनि-समूह की निन्दा करना संघ का अवर्णवाद है । जैन धर्म में कुछ नहीं है, धारण करने वाले नास्तिक हैं तथा मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कहना धर्म का अवर्णवाद है । देव माँस खाते हैं सुरा पीते हैं बलिदान से प्रसन्न होते हैं आदि कहना देवों का अवर्णवाद है । तीर्थकरों के अकल्पित दोषों को कहना तीर्थकरों का अवर्णवाद है ।

केवलिश्रुतसङ्घधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ 13 ॥

केवलि श्रुत संघ धर्म और देवों का अवर्णवाद (अविद्यमान दोषों का प्रचार) दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव के कारण हैं । (रा. वा. 310 सू. 13 अ.6)

अंतरंग के कालुष्य दोष के कारण असद्भूत मलों (दोषों) का उद्भवन करना अवर्णवाद है । गुणवान् और महत्वशालियों में अपनी बुद्धि और हृदय को कलुषता के कारण अविद्यमान दोषों का उद्भावन करना अवर्णवाद है । (7)

केवलियों में पिण्डाभ्यव्यवहार (कवलाहार) जीव आदि वचन केवली का अवर्णवाद है । केवली भोजन करते हैं, केवली कम्बल आदि दस उपकरण रखते हैं, तूंबी पात्र आदि परिग्रह रखते हैं तथा उनको भी ज्ञान और दर्शन क्रमशः होते हैं इत्यादि कथन करना केवली का अवर्णवाद है । (8)

माँस भक्षण आदि अनवद्य का कथन श्रुत का अवर्णवाद है । माँस-मत्स्य. (मछली) भक्षण करना, मधु-सुरापान करना, कामातुर को रतिदान देना और रात्रि में भोजन करना आदि शास्त्रों में कथन है अर्थात् मांसादि के भक्षण में कोई दोष नहीं है, ऐसा कहना शास्त्र का अवर्णवाद है ।

शूद्र है, अशुचि है आदि कहना संघ का अवर्णवाद है । ये श्रमण शूद्र हैं, स्नान आदि नहीं करने से मलिन शरीर वाले हैं, अशुचित हैं, दिग्म्बर हैं (वस्त्र रहित हैं) निर्लज्ज हैं, इस लोक में से दुःख का अनुभव कर रहे हैं और परलोक भी इनका नष्ट हो गया है अर्थात् परलोक में भी ये दुःखी होंगे, इत्यादि वचन कहकर संघ (मुनि, आर्यिकादि) का तिरस्कार करना संघ का अवर्णवाद है ।

निर्गुणत्वादि कहना धर्म का अवर्णवाद है। जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म निर्गुण (गुणरहित) है, इसको धारण करने वाले मरकर असुर होते हैं, इत्यादि कथन करना धर्म का अवर्णवाद है।

सुरा, माँस व कामसेवन आदि का दोषारोपण करना, देवों का अवर्णवाद है। देव माँस खाते हैं, सुरापान करते हैं अहल्यादि में आसक्तचित्त थे, इत्यादि कथन करना देवों का अवर्णवाद है।

दर्शन को मोहित करता है, या दर्शन को मोहन करने वाला दर्शनमोह है। 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शन' तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे सूत्र में लिखा है। उस सम्यग्दर्शन को मोहित करने वाला या नष्ट करने वाला दर्शन मोह कहलाता है। उस दर्शन मोह रूप कर्म का इन कारणों से आस्रव होता है ऐसा जानना चाहिए।

(3) चरित्र मोहनीय कर्म के आस्रव के हेतु

स्यात्तीव्रपरिणामो यः कषायाणां विपाकतः।

चारित्रमोहनीयस्य स एवास्रवकारणम् ॥ 29 ॥ (तत्त्वार्थसार)

कषायों के उदय से जो तीव्र परिणाम होता है वहीं चारित्रमोहनीय कर्म के आस्रव का कारण है।

क्रोधादि कषायों के तीव्र उदय में जो हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति होती है उससे चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव होता है।

कषायोदयातीव्रपरिणामश्चारित्र मोहस्य ॥ 14 ॥ (रा. वा.पृ. 313 अ.6)

कषाय के उदय से होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के आस्रव के कारण है। जगदुपकारी, शीलव्रती तपस्वियों की निन्दा करना, धर्म का विध्वंस करना, किसी को शीलगुण, देशसंयम और सकलसंयम से च्युत करना, मद्य- माँस आदि से विरक्त जीवों को उनसे विचकाना, धार्मिक कार्यों में अन्तराय करना, चारित्र में दूषण लगाना, संक्लेश उत्पादक वेषों और व्रतों को धारण करना, स्व और पर में कषायों का उत्पादन आदि क्रियाएँ एवं भाव कषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नौ अकषाय वेदनीय के भेद हैं। उत्प्रहास - बहुत जोर से हँसना अथवा समीचीन धर्म के पालन करने वाले का उपहास करना, दीन जनों को देखकर हँसना, कन्दर्प (काम चेष्टा) पूर्वक हँसना, बहुत प्रलाप करना, हास्य रूप स्वभाव होना आदि हास्य

अकषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। विचित्र क्रीड़ा करना, दूसरे के चित्त को आकर्षित करना, दूसरों को अनेक प्रकार के दुःख देने के भाव होना, देशादि के प्रति अनुत्सुकता, परपदार्थों में प्रीति आदि रति अकषाय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। दूसरों की रति का विनाश, पर में अरति का उत्पादन, पापशील व्यक्तियों की संगति करना, अकुशल क्रिया को प्रोत्साहन देना आदि अरति वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। स्व शोक करना, प्रीति के लिये पर का शोक करना, दूसरे के लिए दुःख उत्पन्न करना, शोक से व्याप्त का अभिनन्दन आदि करना, शोक वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। स्वयं भयभीत रहना, दूसरों को भयभीत करना, निर्दयता, दूसरों को त्रास देना आदि भय वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। धर्मात्मा, चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदि की क्रिया और आचार में तत्पर पुरुषों से ग्लानि करना, दूसरों की बदनामी करने का स्वभाव आदि क्रियाएँ और भाव, जुगुप्सा अकषाय-वेदनीय के आस्रव के कारण हैं। अत्यन्त क्रोध के परिणाम, अतिमान अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्या-भाषण, छल-कपट (मायाचार), प्रपञ्च तत्परता, तीव्रराग, परस्त्रीगमन में आदर, परस्त्रियों के प्रति अति रुचि, स्त्री भाव में अनुराग, उसका आलिंगन करना आदि कारणों से स्त्री वेद का आस्रव होता है। मन्द, क्रोध, कुटिलता की निवृत्ति, अभिमान का नहीं होना, निर्लोभ भाव, स्त्री के समागम में अल्पराग, स्वदार संतोष, ईर्ष्याविशेष का उपरंग, ईर्ष्याभाव का नहीं होना, निर्लोभ स्नान, सुगन्धित पदार्थ, माला, आभरण आदि के प्रति आदर भाव का न होना आदि परिणाम पुरुषवेद के आस्रव के कारण हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ के परिणाम, गुप्त इन्द्रियों का छेदन करना, स्त्री और पुरुष दोनों के साथ अनङ्गक्रीड़ा के व्यसन रूप परिणाम रखना, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषों को विचकाना (उनके शील व्रतादि भ्रष्ट करने का प्रयत्न करना), परस्त्री पर आक्रमण, राग की तीव्रता से अनाचार का सेवन आदि क्रियाओं से एवं भावों के द्वारा नपुंसकवेद रूप नोकषाय वेदनीय का आस्रव होता है।

(4) अन्तरायकर्म के आस्रव के हेतु

तपस्विगुरुचैत्यानां पूजालोपप्रवर्तनम्।

अनाथदीनकृपणाभिक्षादि प्रतिषेधनम् ॥ 55 ॥

वधबन्ध निरीधैश्च नासिकाच्छेदकर्तनम्।

प्रमादाद्देवतादत्तनैवेद्यग्रहणं तथा ॥ 56 ॥

निरवद्योपकरणपरित्यागो वधोऽङ्गिनाम् ।

दानभोगोपभोगादिप्रत्यूहकरणं तथा ॥57॥

ज्ञानस्य प्रतिषेधश्च धर्मविघ्नकृतिस्तथा ।

इत्येवमन्तरायस्य भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 58 ॥ (तत्त्वार्थसार)

तपस्वी, गुरु और प्रतिमाओं की पूजा न करने की प्रवृत्ति चलाना, अनाथ, दीन तथा कृपण मनुष्यों को भिक्षा आदि देने का निषेध करना, वध बन्धन तथा अन्य प्रकार की रुकावटों के साथ पशुओं की नासिका आदि का छेद करना, देवताओं को चढ़ाये हुए नैवेद्य को प्रमाद से ग्रहण करना,, निर्दोष उपकरणों का परित्याग करना (जिन पीछी या कमण्डल आदि उपकरणों में कोई खराबी नहीं आई है उन्हें छोड़कर नये ग्रहण करना, जीवों का घात करना, दान-भोग-उपभोग आदि में विघ्न करना, ज्ञान का प्रतिषेध करना, स्वाध्याय या पठन-पाठन का निषेध करना तथा धर्मकार्यों में विघ्न करना ये सब अन्तराय कर्म के आस्रव के हेतु हैं ।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥ 27 ॥ तत्त्वार्थसूत्र षष्ठोऽध्यायः

(किसी के कार्यों में) विघ्न डालना अन्तराय कर्म के आस्रव का कारण है ।

ज्ञान प्रतिषेध-सत्कारोपघात-दान लाभ भोगोपभोगवीर्यस्नानानुलेपन गन्धमाल्याच्छादन विभूषण शयनासन भक्ष्य-भोज्य पेय लेह्य परिभोग विघ्नकरण-विभव समृद्धि विस्मय-द्रव्यपरित्याग-द्रव्यसंप्रयोग समर्थना प्रमादाऽवर्णवाद देवता निवेद्यानि वेद्य ग्रहण निखद्योपकरण-परित्याग-परवीर्यापहरण-धर्म व्यवच्छेदन करण-कुशलाचरण-तपस्वि गुरु चैत्य पूजा व्याघात-प्रव्रजित कृपण दीनानाथ वस्त्र पात्र प्रतिश्रय प्रतिषेध क्रिया - परिनिरोध बन्धन-गुह्याङ्ग छेदन-कर्ण नासिकौष्ठ कर्तन-प्राणिवधादिः । (भाग 2 राजवार्तिक पृ. 336)

ज्ञान का प्रतिषेध, सत्कारोपघात (किसी के सत्कार में विघ्न डालना), दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, स्नान, अनुलेपन, गन्ध, माल्य, आच्छादन, विभूषण, शयन, आसन, भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य और परिभोग आदि में विघ्न करना, किसी के विभव, समृद्धि में विस्मय करना, द्रव्य का त्याग नहीं करना, द्रव्य के उपयोग के समर्थन में प्रमाद करना, देवता के लिए निवेदित किये गये या अनिवेदित किये गये द्रव्य का ग्रहण करना, देवता का अवर्णवाद करना, निर्दोष उपकरणों का त्याग, दूसरों की शक्ति को अपहरण, धर्म का व्यवच्छेद करना, कुशल चरित्र वाले तपस्वी, गुरु तथा चैत्य की पूजा में व्याघात करना, दीक्षित, कृपण, दीन, अनाथ आदि को

दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र आश्रय आदि में विघ्न करना, परिनिरोध, बन्धन, गुह्य अंगच्छेदन, कान, नाक, ओंठ आदि को काट देना, प्राणिवध आदि अन्तराय कर्म के आस्रव के कारण हैं ।

(5) पुण्य सम्पादन आस्रव के कारण

सर्वेभ्यः पापहेतुभ्योऽप्यन्यथाचरणैः शुभैः ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैरणुव्रतमहाव्रतैः ॥ 24 ॥

कषायेन्द्रिययोगानां निग्रहैर्नियमादिभिः ।

सद्दानपूजनैश्चार्हद्गुरुभक्त्यादिसेवैः ॥ 25 ॥

शुभभावनया ध्यानाध्ययनादिसुकर्मभिः ।

धर्मोपदेशैः पुण्यं लभ्यते परमं बुधैः ॥ 26 ॥

जितने भी सभी पाप के कारण हैं, उनके विपरीत आचरण करने से शुभ कार्यों के करने से, सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्र से, अणुव्रत और महाव्रतों के पालने से, कषाय इन्द्रिय और मनोयोगादि के निग्रह करने से, नियमादि धारण करने से, उत्तम दान देने से, पूजन करने से, अर्हद्-भक्ति, गुरुभक्ति आदि करने से, शुभ भावना रखने से, ध्यान-अध्ययन आदि उत्तम कार्यों से और धर्मोपदेश देने से पण्डित जन परम पुण्य को प्राप्त करते हैं ।

निर्वेदतत्परं धर्मवासितं पापदूरगम् ।

परचिन्तातिगं स्वात्मचिन्ताव्रतपरायणम् ॥ 27 ॥

गुरुदेवापशास्त्राणां परीक्षाकरणक्षामम् ।

कृपाक्रान्तं मनः पुंसां जनयेत्पुण्यमर्जितम् ॥ 28 ॥

वैराग्य में तत्पर, धर्मवासना से वासित, पाप से दूर रहने वाला, पर-चिन्ता से विमुक्त, स्वात्म-चिन्ता और व्रत में परायण, देवगुरु-शास्त्र की परीक्षा करने में समर्थ और करुणा से व्याप्त मन उत्कृष्ट पुण्य को उत्पन्न करता है ।

परमेष्ठि जपस्तोत्रगुणख्यापनतत्परम् ।

स्वनिन्दाकरमन्वेषां निन्दादूरं सुकोमलम् ॥ 29 ॥

धर्मोपदेशदमिष्टं सत्यसीमाद्यधिष्ठितम् ।

वचः सूते परं पुण्यं सतां चार्हत्पदादिजम् ॥ 30 ॥

पंचपरमेष्ठी के जाप, स्तोत्र और गुण कथन में तत्पर, स्वनिन्दा कारण, पर-निन्दा से दूर रहने वाला, सुकोमल, धर्म का उपदेश देने वाला, मिष्ट और सत्य की

सीमा आदि से युक्त वचन अरिहन्त पद, आदि को उत्पन्न करने वाले पुण्य को सज्जनों से उत्पन्न करता है ।

कायोत्सर्गासनापन्नं जिनेन्द्रयजनोद्यतम् ।

गुरुसेवापरं पात्रदानदं विक्रियातिगम् ॥ 31 ॥

शुभकर्मकरं साम्यतापन्नं वपुरद्भुतम् ।

विश्वशर्मकरं पुण्यं जनयत्यत्र धीमताम् ॥ 32 ॥

कायोत्सर्ग आसन को प्राप्त, जिनेन्द्र पूजन में उद्यत, गुरुसेवा में तत्पर, पात्रदान करने वाला, विकार से रहित, शुभ कार्य करने वाला और समता भाव को प्राप्त काय बुद्धिमानों के सर्व सुख उत्पन्न करने वाले अद्भुत पुण्य को उत्पन्न करता है ।

अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्य तदन्येषां न जातु यः ।

चिन्तयेत्सर्वदा तस्य परं पुण्यं न संशयः ॥ 33 ॥

जो बात अपना अनिष्ट करने वाली है, उसे कभी भी, जो दूसरों के लिये नहीं चिन्तवन करता है, उसको सर्वदा परम पुण्य का उपार्जन होता रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है । (श्री वीरवर्धमानचरिते)

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौच दमः क्षमा ।

वैयावृत्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जबं तथा ॥ 25 ॥

सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।

भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्देद्यास्रवहेतवः ॥ 26 ॥

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, इन्द्रिदमन, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, सरलता, सरागसंयम, संयमासंयम, भूतानुकम्पा और व्रत्यानुकम्पा ये सातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं । (तत्त्वार्थसार चतुर्थीधिकार पृ. 117)

तदप्यस्ति महाभागे अभिसंधिबलान्नृणाम् ।

हितार्थं दुःखमन्येषां कृत्वा सुखमवाप्नुयात् ॥

श्री महेश्वर ने कहा है - महाभागे ! ऐसा ही होता है कि शुभ संकल्प के बल से मनुष्यों के हित के लिये उन्हें दुःख देकर भी पुरुष सुख प्राप्त कर सके ।

(अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्व पृ. नं. 5976)

दण्डयन् भर्त्सयन् राजा प्रजाः पुण्यमवाप्नुयात् ।

गुरुः संतर्जयञ्छिष्यान् भर्ता भृत्यजनान् स्वकान् ॥

राजा प्रजा को अपराध के कारण दण्ड देता और फटकारता है तो भी वह पुण्य

का ही भागी होता है । गुरु अपने शिष्यों को और स्वामी अपने सेवकों को उनके सुधार के लिये यदि डाँटता - फटकारता है तो इससे सुख का ही भागी होता है ।

उन्मार्गप्रतिपन्नांश्च शास्ता धर्मफलं लभेत् ।

चिकित्सकश्च दुःखानि जनयन् हितमाप्नुयात् ॥

जो कुमार्ग पर चल रहे हों, उनका शासन करने वाला राजा धर्म का फल पाता है । चिकित्सक रोगी की चिकित्सा करते समय उसे कष्ट ही देता है तथापि रोग मिटाने का प्रयत्न करने के कारण वह हित का ही भागी है ।

एवमन्ये सुमनसो हिंसकाः स्वर्गमाप्नुयुः ।

एकस्मिन् निहते भद्रे बहवः सुखमाप्नुयुः ॥

तस्मिन् हते भवेद् धर्मः कुत एव तु पातकम् ॥

इस प्रकार दूसरे लोग भी यदि शुद्ध हृदय से किसी को कष्ट पहुँचाते हैं तो स्वर्गलोक में जाते हैं । भद्रे ! जहाँ किसी एक दुष्ट के मारे जाने पर बहुत से सत्पुरुषों को सुख प्राप्त होता हो तो उसके मारने पर पातक क्या लगेगा, उल्टे धर्म होता है । अभिसंधेरजिह्मत्वाच्छुद्धे धर्मस्य गौरवात् ।

एतत् कृत्वा तु पापेभ्यो न दोषं प्राप्नुयुः क्वचित् ॥

यदि उद्देश्य कुटिलतापूर्ण न हो, अपितु धर्म के गौरव से शुद्ध हो तो पापियों के प्रति ऐसा व्यवहार करके भी कहीं दोष की प्राप्ति नहीं होती । (महाभारत)

क्षमादिदशधा धर्मो द्वादशैव व्रतानि च ।

उत्कृष्ट श्रावकाचारी द्वादशैव तपांसि च ॥ 11 ॥

आहारादि-चतुर्भेदं दानं सन्मुनये वरम् ।

ज्ञानध्यानादिकाभ्यास-पूजनं श्रीजिनेशिनाम् ॥ 12 ॥

सद्धर्मिणां च सन्मानं सेवनं सद्गुरोः सदा ।

निर्मापणं जिनाचार्या भवनानि चाप्यर्हताम् ॥ 13 ॥

प्रतिष्ठा जिनबिम्बानां महाभ्युदय साधिनी ।

अभिषेकोऽर्हन्मूर्तीनां महोत्सव-पुरस्सरः ॥ 14 ॥

अनुप्रेक्षादिकाचिन्ता प्रोद्यमस्तपसेऽञ्जसा ।

सोपकारोऽन्यजीवानां धर्मादि कथनं नृणाम् ॥ 15 ॥

रत्नत्रयादि भावेन श्रीजिन स्मरणेन च ।

निर्ग्रन्थ भक्तितो भव्या लभन्ते पुण्यमद्भुतम् ॥ 16 ॥

देवशास्त्र गुरुसेवा संसारे नित्यभीरुता ।
पुण्याय जायते पुंसां, सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया ॥ 17 ॥
वैराग्यवासितं चित्तं ज्ञानाभ्यासादि तत्परम् ।
सर्व सत्त्वदयोपेतं सूते पुण्यं शरीरिणाम् ॥ 18 ॥
धर्मोपदेश संयुक्तं-वाक्यं भूतहितावहम् ।
विकथादि-विनिर्मुक्तं भवेत्सत्पुण्यकर्मणे ॥ 19 ॥

क्षमादिक दस धर्म, बारह व्रत, उत्कृष्ट श्रावक का आचार, बारह तप, समीचीन मुनि के लिये चार प्रकार का आहारादि दान-देना, ज्ञान-ध्यान आदि का अभ्यास करना, सद्गुरु की सदा सेवा करना, जिनेन्द्र देव की पूजा करना, समीचीन धर्मके धारक पुरुषों का सम्मान करना, सद् गुरु की सेवा करना, जिन प्रतिमाओं व जिन मंदिरों का निर्माण कराना, जिनेन्द्र प्रतिमाओं का महोत्सव के साथ अभिषेक करना, जिन प्रतिमाओं की महान अभ्युदय को सिद्ध करने वाली प्रतिष्ठा कराना, तप के लिये समीचीन पुरुषार्थ करना, अनुप्रेक्षाओं आदि का चिन्तन करना, तप के लिए समीचीन पुरुषार्थ करना अन्य जीवों का उपकार करना तथा मनुष्यों को धर्म आदि का उपदेश देना, इन कार्यों से तथा रत्नत्रय आदि भावों से, श्री जिनेन्द्र देव के स्मरण से एवं निर्ग्रन्थ साधुओं की भक्ति करने से भव्य जीव आश्चर्यकारी पुण्य को प्राप्त करते हैं ।

देव शास्त्र, गुरु की सेवा, संसार से सदा भयभीत रहना तथा सम्यक्त्व वर्धिनी क्रिया पुरुषों के पुण्यबन्ध के लिये है ।

वैराग्य से युक्त, ज्ञान के अभ्यास आदि में तत्पर और सब जीवों की दया से युक्त चित्त जीवों को पुण्य उत्पन्न करता है ।

धर्मोपदेश से सहित, प्राणियों का हितकारक एवं विकथा आदि से रहित वचन समीचीन पुण्य कर्म के लिये होता है अर्थात् उपर्युक्त वचन बोलने से पुण्य कर्म का बन्ध होता है । (सर्वोपयोगी श्लोक संग्रह पृ. नं. 354)

भूतव्रत्यनुकम्पादानसरागसंयमादियोगः क्षान्तिःशौचमिति सद्बेद्यस्य ॥

'भूतानुकम्पा, व्रत्यानुकम्पा, दान, सरागसंयमादि योग, क्षमा और शौच ये भाव सातावेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।'

(5) पाप कर्मों के संचय (आस्रव) का कारण

मिथ्यात्वपञ्चभिः क्रूरैः कषायैश्चाप्यसंयमैः ।
प्रमादैः सकलैर्निन्दैर्योगैः कौटिल्यकर्मभिः ॥ 4 ॥
आतरौद्रातिदुर्ध्यानैर्दुर्लेश्याभिश्च दुर्धिया ।
शल्यदण्डत्रिकैर्मिथ्यागुरुदेवादिसेवनैः ॥ 5 ॥
धर्मादिकरणैः पापदेशनैः पापिनां सदा ।
अन्यैर्वात्र दुराचारैर्जायते पापमर्जितम् ॥ 6 ॥

(सप्त दश अधिकार-श्री वीर वर्धमान चरित)

एकान्त विपरीत आदि पाँच प्रकार के मिथ्यात्वों से, क्रोधादि चार क्रूर कषायों से - षट्कायिक जीवों की हिंसादि करने रूप असंयमों-से, पन्द्रह प्रमादों से, सर्व निन्दनीय मन-वचन-कायरूप तीन योगों से, कुटिल कर्मों से, अति आर्त, रौद्ररूप दुर्ध्यानो से, कृष्णादि अशुभ लेश्याओं से, तीन शल्यों से, तीन दण्डों से, कुगुरु कुदेवादि की सेवा करने से, धर्मादि के कर्मों को रोकने से और पापों को करने का उपदेश देने से तथा इसी प्रकार के अन्य दुराचारों से इस लोक में पापियों में सदा उत्कृष्ट पाप कर्मों का संचय होता रहता है ।

परस्त्रीधनवस्त्रादिलम्पटं रागदूषितम् ।
क्रोधमोहाग्निसंतप्तं निर्विचारं च निर्दयम् ॥ 7 ॥
मिथ्यात्ववासितं पापशास्त्रचिन्तापरं मनः ।
सूते घोरं नृणां पापं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥ 8 ॥

परस्त्री, परधन और परवस्त्रादि में लम्पट, राग से दूषित, क्रोध मोहरूप अग्नि से सन्तप्त, विवेक-विचार से रहित, निर्दय, मिथ्यात्ववासना से वासित, और कुशास्त्रों का चिन्तन करने वाला और विषयों से व्याकुलित मन मनुष्यों में घोर पाप उत्पन्न करता है ।

परनिन्दापरं निन्द्यं स्वप्रशंसाकरं भुवि ।
असत्यदूषितं वाक्यं पापकर्मप्ररूपकम् ॥ 9 ॥
कुशास्त्राभ्याससंलीनं तपोधर्मादिदूषकम् ।
जिनसूत्रातिगं पुसां तनोति पापसंचयम् ॥ 10 ॥

संसार में परनिन्दाकारक, स्वप्रशंसाकारक, निन्दनीय, असत्य से दूषित, पाप-प्ररूपक, कुशास्त्राभ्यास-संलग्न, तपोधर्मादि-दूषक और जिनागम-बाह्य वचन

पुरुषों में महापाप का संचय करते हैं ।

कूरकर्मकरः कूरो वधबन्धविधायकः ।

दुर्धरो विक्रियापन्नो दानपूजादिवर्जितः ॥ 11 ॥

स्वेच्छाचरणशीलश्च तपोव्रतपराङ्मुखः ।

जनयेत्पापिनां कायोऽघं महच्छ्वभ्रकारणम् ॥ 12 ॥

कूर, कूरकर्मकारक, वध-बन्ध-विधायक, दुःखद कार्य करने वाला, विकार को प्राप्त, दान-पूजादि से रहित, स्वेच्छाचरणशीलवाला, और व्रत-तप से पराङ्मुख काय, पापी जनों के नरक के कारणभूत महापाप को उपार्जन करता है ।

जिनेन्द्रजिनसिद्धान्तनिर्ग्रन्थधर्मधारिणाम् ।

निन्दनैर्दुधियां निन्द्यं महापापं प्रजायते ॥ 13 ॥

जिनेन्द्र देव, जिन सिद्धान्त, और निर्ग्रन्थ धर्मधारक गुरुजनों की निन्दा करने से दुर्बुद्धि लोगों को निन्द्य महापाप उत्पन्न होता है ।

दुखं शोको वधस्तापः क्रन्दनं परिदेवनम् ।

परात्मद्वितीयस्थानि तथा च परपैशुनम् ॥ 20 ॥

छेदनं भेदनं चैव ताडनं दमनं तथा ।

तर्जनं भर्त्सनं चैव सद्यो विशंसनं तथा ॥ 21 ॥

पापकर्मोपजीवित्वं वक्रशीलत्वमेव च ।

शस्त्र प्रदानं विश्रम्भघातनं विषमिश्रणम् ॥ 22 ॥

शृङ्खलावागुरापाशरज्जुजालादिसर्जनम् ।

धर्मविध्वंसनं धर्मप्रत्यूहकरणं तथा ॥ 23 ॥

तपस्विगर्हणं शीलवृत्तप्रच्यावनं तथा ।

इत्यसद्वेदनीय भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 24 ॥

(तत्त्वार्थ सार पृ. 116)

पराये अपने तथा दोनों में स्थित दुःख, शोक, वध, ताप, क्रन्दन और परिवेदन तथा दूसरे की चुगली, छेदना, भेदना, ताड़ना, दमन करना, डाँटना, झिड़कना, शीघ्रता से (अपराध का विचार किये बिना ही) घात करना, पापकार्यों से जीविका करना, कुटिल स्वभाव रखना, शस्त्र देना, विश्वासघात करना, विष मिलाना, सांकल, जाल, पशु, रस्सी तथा जाल आदि को बनाना, धर्म का विध्वंस करना, धर्म के कार्यों में विघ्न करना, तपस्वीजनों की निन्दा करना और शीलव्रत से च्युत

करना ये सब असातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं ।

दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्याः (तत्त्वार्थसूत्र 6/11)

‘आत्मस्थ, परस्थ और उभय में होने वाले दुःख, शोक, तप, आक्रन्दन, वध परिवेदन ये असाता वेदनीय के आस्रव के कारण हैं ।’

शोकादिग्रहणस्य विकल्पोपलक्षणत्वादन्यसंग्रहः । इमे शोकादयः दुःखविकल्पा दुःखविकल्पानामुपलक्षार्थमुपादीयन्ते, ततोऽन्येषामपि संग्रहो भवति । के पुनस्ते ? अशुभप्रयोगपरपरिवाद-पैशुन्य-अनुकम्पा-भावपरपरितापना-ऽङ्गोपाङ्गच्छेदन-भेदनताडन-त्रासन-तर्जन-भर्त्सन-तक्षण-विशंसन-बन्धन-रोधन-मर्दन-दमन-विहेडन-हेपण-कायरौक्ष्य-परनिन्दात्मप्रशंसा-संक्लेश-प्रादुर्भावनायुर्वहमानता-निर्दयत्व-सत्त्वव्यप-रोपण-महारम्भपरिग्रह-विश्रम्भोपघात-वक्रशीलता-पापकर्मजीवित्वाऽनर्थदण्ड-विष । मिश्रण-शरजालपाशवागुरापञ्जस-यन्त्रोपायसर्जन-बलाभियोग-शस्त्र-परदान-पापमिश्रभावाः । एते दुःखादयः परिणामा आत्मपरोभयस्था असद्वेद्यस्यास्रवा वेदितव्याः ।

(राजनीतिक पृ. 301)

शोकादि का ग्रहण दुःख के विकल्पों के उपलक्षण रूप होने से अन्य सर्व विकल्पों का संग्रह हो जाता है । दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन का ग्रहण दुःख के विकल्पों का उपलक्षण रूप है । जो उपलक्षण होता है, वह अपने सदृश का ग्राही होता है अतः शोकादि के ग्रहण से असाता वेदनीय के आस्रव के कारणभूत अन्य सर्व विकल्पों का संग्रह हो जाता है । वे अन्य कारण कौन से हैं ? अशुभ प्रयोग, पर परिवाद, पैशुन्य, अनुकम्पा का अभाव (अदया) परपरिताप, अंगोपाङ्गच्छेद, भेद, ताड़न, त्रासन, तर्जन, भर्त्सन, तक्षण, विशंसन, बन्धन, रोधन, मर्दन, दमन, वाहन, विहेडन, हेपणशरीर को रूखा कर देना, परनिन्दा आत्मप्रशंसा, संक्लेशप्रादुर्भावन, अपनी आयु यदि अधिक हो तो उसका अभिमान, निर्दयता, हिंसा, महारम्भ महापरिग्रह का अर्जन, विश्वासघात, कुटिलता, पापकर्णजीवित्व, अनर्थदण्ड विषमिश्रण, बाण, जाल, पाश, रस्सी, पिञ्जरा, यन्त्र आदि हिंसा के साधनों का उत्पादन, बलाभियोग, शस्त्र देना और पाप मिश्रित भाव इत्यादि भी दुःख शोकादि से गृहीत होते हैं । आत्मा में, पर में और उभय में रहने वाले ये दुःखादि परिणाम असाता वेदनीय के आस्रव के कारण होते हैं ।

(6) आयुकर्म के आस्रव

नरक के योग्य कर्म

- सप्तदुर्व्यसनासक्ताः परस्त्रीश्रूयादिकाङ्क्षणाः ।
 बह्वारम्भकृतोत्साहा बहुश्रीसंग्रहोद्यताः ॥ 65 ॥
 क्रूरकर्मकराः क्रूरा निर्दया रौद्रमानसाः ।
 रौद्रध्यानरताः नित्यं विषयाभिषलम्पटाः ॥ 66 ॥
 निन्द्यकर्मान्विता निन्द्या जिनशासननिन्दकाः ।
 प्रतिकूला जिनेन्द्राणां धर्मिणां च सुयोगिनाम् ॥ 67 ॥
 कुशास्त्राभ्याससंलीना मिथ्यामतमदोद्धताः ।
 कुदेवगुरुभक्ताः कुकर्माघप्रेरकाः खलाः ॥ 68 ॥
 अत्यन्तमोहिनः पापपण्डिता धर्मदूरगाः ।
 निःशीलाश्च दुराचारा व्रतमात्रपराङ्मुखाः ॥ 69 ॥
 कृष्णलेश्याशया रौद्रा महापञ्चाघकारकाः ।
 इत्यन्यबहुदुःकर्मकारिणः पापिनोऽखिला ॥ 70 ॥
 ये ते व्रजन्ति दुःकर्मजातपापोदयेन च ।
 रौद्रध्यानेन वै मृत्वा नरकं पापिनां ग्रहम् ॥ 71 ॥

(श्री वीर वर्धमान चरिते सप्तदश अधिकार)

जो जीव सप्त दुर्व्यसनों में आसक्त है, पर स्त्री और परधन आदि की आकांक्षा रखते हैं, बहुत आरम्भ-समारम्भ करने में उत्साही हैं, बहुत लक्ष्मी और परिग्रह के संग्रह में उद्यत हैं, क्रूर हैं, क्रूर कर्म करने वाले हैं, निर्दयी हैं, रौद्र चित्त वाले हैं, रौद्रध्यान में निरत हैं, नित्य ही विषयों में लम्पट हैं, मांस-लोलुपी हैं, निन्द्य कर्मों में संलग्न हैं, निन्दनीय हैं, जैन शास्त्रों के निन्दक हैं, जिनेन्द्र देव, जिनधर्म और उत्तम गुरुजनों के प्रतिकूल आचरण करते हैं, कुशास्त्रों के अभ्यास में संलग्न हैं, मिथ्यामतों के मद से उद्धत हैं, कुदेव और कुगुरु के भक्त हैं, खोटे कर्मों और पापों की प्रेरणा देते हैं, दुष्ट हैं, अत्यन्त मोही हैं, पाप करने में कुशल हैं, धर्म से दूर रहते हैं शील रहित हैं, दुराचारी हैं, व्रतमात्र से पराङ्मुख हैं, जिनका हृदय कृष्णलेश्या से युक्त रहता है, जो भयंकर हैं, पाँचों महापापों को करते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से दुष्कर्मों को करने वाले हैं, ऐसे समस्त प्राणी जीव इन दुष्कर्मों से

उत्पन्न हुए पाप के द्वारा तथा रौद्रध्यान से मरकर पापियों के घर नियम से जाते हैं।

आद्यादिसप्तमान्तं स्वदुष्कर्मयोग्यमञ्जसा ।

विश्वदुःखाकरीभूतं निमेषार्धसुखातिगम् ॥ 72 ॥

उन पापियों के घर पहले से लेकर सातवें नरक तक हैं, वे पापी अपने दुष्कर्म के अनुसार यथायोग्य नरकों में जाते हैं। वे नरक संसार के समस्त दुःखों के निधानस्वरूप हैं और उनमें अर्ध निमेष मात्र भी सुख नहीं है।

कुबुद्धया येऽत्र सेवन्ते सप्त वै व्यसनान्यलम् ।

विषयाभिषलाम्पट्यान्मूर्खा दुर्गतिगामिनः ॥ 113 ॥

जो लोग कुबुद्धि से यहाँ पर सातों व्यसनों का भरपूर सेवन करते हैं, वे मूर्ख विषय लोलुपता और मांस भक्षण की लम्पटता से दुर्गतियों में जाते हैं।

मित्रत्वं च प्राकुर्वन्ति व्यसनासक्तचेतसाम् ।

मिथ्यादृशां च साधुभ्यो दूरं नश्यन्ति पापिनः ॥ 114 ॥

ते श्वभ्रादिगतीभ्रान्त्वा पुनः श्वभ्रादिसिद्धये ।

उत्पद्यन्तेऽतिपापेन खला दुर्व्यसनाकुलाः ॥ 115 ॥

जो लोग नरकादि की सिद्धि के लिये व्यसनासक्त चित्त वाले मिथ्यादृष्टियों के साथ मित्रता करते हैं, और साधु पुरुषों से दूर रहते हैं, वे पापी जन विनाश को प्राप्त होते हैं, वे अति पाप के उदय से नरकादि गतियों में परिभ्रमण कर दुर्व्यसनी और दुःखों से व्याकुल दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं।

उत्कृष्टमानता शैलराजीसदृशरोषता ।

मिथ्यात्वं तीव्रलोभत्वं नित्यंनिरनुकम्पता ॥ 30 ॥

अजस्रं जीवघातित्वं सततानृतवादिता ।

परस्वहरणं नित्यं नित्यं मैथुनसेवनम् ॥ 31 ॥

कामभोगाभिलाषाणां नित्यं चातिप्रवृद्धता ।

जिनस्यासादनं साधुसमयस्य च भेदनम् ॥ 32 ॥

मार्जारताम्रचूडादिपापीयः प्राणिपोषणम् ।

नैःशील्यं च महारम्भपरिग्रहतया सह ॥ 33 ॥

कृष्णलेश्यापरिणतं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ।

आयुषो नारकस्येति भवन्त्यास्रवहेतवः ॥ 34 ॥

(तत्त्वार्थसार पृ. 118)

अन्य निर्मल आचरणों से जो जीव यहाँ पर विभूषित होते हैं, वे पुण्य के परिपाक से शुभ के आश्रयभूत आर्यखण्ड में सत्कुल से युक्त, राज्यादि लक्ष्मी के सुख से भरी हुई मनुष्यगति को प्राप्त करते हैं । (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

ऋजुत्वमीषदारम्भपरिग्रहतया सह ।

स्वभावमार्दवं चैव गुरुपूजनशीलता ॥ 40 ॥

अल्पसंक्लेशता दानं विरतिः प्राणिघाततः ।

आयुषो मानुषस्येति भवन्त्यास्त्रवहेतवः ॥ 41 ॥

अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह के साथ परिणामों में सरलता रखना, स्वभाव से कोमल होना, गुरुपूजन का स्वभाव होना, अल्प संक्लेश का होना, दान देना और प्राणिघात से दूर रहना ये मनुष्यायु के आस्रव के कारण हैं ।

(तत्वार्थसार -चतुर्थोधिकार पृ. 120)

मनुष्य होने योग्य कर्म

शुद्धाचरणशीला या मायाकौटिल्यवर्जिताः ।

विचारचतुरा दक्षा दानपूजादितत्पराः ॥ 98 ॥

स्वल्पाक्षशर्मसंतोषान्विता दृग्ज्ञानभूषिताः ।

नार्यः पुंवेदपाकेन जायन्तेऽत्र च मानवाः ॥ 99 ॥

जो शुद्धाचरणशाली हैं, माया-कुटिलता से रहित हैं, हेय-उपादेय के विचार में चतुर हैं, दक्ष हैं, दान-पूजादि में तत्पर हैं, अल्प इन्द्रिय सुख से जिनका चित्त सन्तोषयुक्त है, और सम्यग्दर्शन ज्ञान से विभूषित हैं, ऐसी स्त्रियाँ पुरुष वेद के परिपाक से यहाँ पर मनुष्य होती हैं । (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

स्त्री पर्याय को प्राप्त करने योग्य कर्म

येऽत्र मायाविनो मर्त्या अतृप्ताः कामसेवने ।

विकारकारिणोऽङ्गादौ योषिद्वेषादिधारिणः ॥ 96 ॥

मिथ्यादुःशश्च रागान्धा निःशीला मूढचेतसः ।

नार्यो भवन्ति ते लोके मृत्वा स्त्रीवेदपाकतः ॥ 97 ॥

जो मनुष्य यहाँ पर मायावी होते हैं, काम सेवन करने पर भी जिनकी तृप्ति नहीं होती, शरीरादि से विकारी कार्य करते हैं, स्त्री आदि के वेष को धारण करते हैं, मिथ्या दृष्टि हैं, रागान्ध हैं, शील-रहित हैं और मूढ़ चित्त हैं, ऐसे मनुष्य मरकर

श्री वेद के परिपाक से इस लोक में स्त्री होते हैं । (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

निर्विकारः सदैवात्मा स्त्रीत्वं पुंस्त्वं न चात्मनि ।

कर्म प्रकारेण तथा जात्यां जात्यां प्रजायते ॥

कृत्वा तु पौरुषं कर्म स्त्री पुमानपि जायते ।

स्त्रीभावयुक् पुमान् कृत्वा कर्मणा प्रमदा भवेत् ॥

जीवात्मा सदा ही निर्विकार है । यह न स्त्री है न पुरुष । वह कर्म के अनुसार विभिन्न जातियों में जन्म लेता है । पुरुषोचित कर्म करके स्त्री भी पुरुष हो सकती है । और स्त्री भावना से युक्त पुरुष तदनुरूप कर्म करके उस कर्म के अनुसार स्त्री हो सकता है । (महाभारत अनुशासन पर्व दान धर्म पर्व)

भोग भूमिज के योग्य कर्म

भक्त्योत्तमसुपात्रायान्नदानं ददतेऽत्र ये ।

महाभोगसुखाकीर्णा भोगभूमिं व्रजन्ति ते ॥ 95 ॥

जो पुरुष भक्ति से उत्तम सुपात्रों को यहाँ पर आहारदान देते हैं, वे महान् भोगों और सुखों से भरी हुई भोगभूमि को जाते हैं । (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

नपुंसक होने योग्य कर्म

अतीवकामसेवान्धाः परदारादिलम्पटाः ।

अनङ्गक्रीडनासक्ता निःशीला व्रतवर्जिताः ॥ 100 ॥

नीचधर्मरता नीचा नीचमार्गप्रवर्तिनः ।

ये ते नपुंसकाः स्युश्च क्लीबवेदवशाज्जडाः ॥ 101 ॥

जो पुरुष काम-सेवन में अत्यन्त अन्ध (आसक्त) होते हैं, पर स्त्री-पुत्री आदि में लम्पट हैं, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीडा में आसक्त रहते हैं, शील रहित हैं, व्रत-रहित हैं, नीच धर्म में संलग्न हैं, नीच हैं, और नीच मार्ग के प्रवर्तक हैं ऐसे जड़-जीव नपुंसक वेद के वश से नपुंसक होते हैं । (श्री-वीरवर्धमानचरिते)

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ।

ये पुरा मनुजा भूत्वा घोरकर्मरतास्तथा ॥

पशुपुंस्त्वोपघातेन जीवन्ति च रमन्ति ।

एवंयुक्तसमाचाराः कालधर्म गतास्तु ते ॥

दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ।

यदि चेन्मानुषं जन्म लभेस्ते तथाविधाः ।

क्लीबा वर्षवराश्चैव षण्डकाश्च भवन्ति ते ॥

श्री महेश्वर ने कहा— कल्याणि ! मैं वह कारण तुम्हें बताता हूँ , सुनो ! जो मनुष्य पहले भयंकर कर्म में तत्पर होकर पशु के पुरुषत्व का नाश करने अर्थात् पशुओं को बधिया करने के कार्य—द्वारा जीवन—निर्वाह करते और उसी में सुख मानते हैं। प्रिये ! ऐसे आचरण वाले मनुष्य मृत्यु को पाकर यमदण्ड से दण्डित हो चिरकाल तक नरक में निवास करते हैं, यदि मनुष्य जन्म धारण करते हैं तो वैसे ही कायर, नपुंसक और हीजड़े होते हैं ।

स्त्रीणामपि तथा देवि यथा पुंसां तु कर्मजम् ।

इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

देवि ! जैसे पुरुषों को कर्म जनित फल प्राप्त होता है । उसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने—अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है । यह विषय मैंने तुम्हें बता दिया । अब और क्या सुनना चाहती हो । (महाभारत अनुशासन पर्वदान धर्म पर्व)

तिर्यग्गति के योग्य कर्म

मायाविनोऽतिकौटिल्यकर्मकोटिविधायिनः ।

परश्रीहरणसक्ता अष्टप्रहरभक्षकाः ॥ 73 ॥

महामूर्खाः कुशास्त्रज्ञाः पशुवृक्षादिसेविनः ।

नित्यस्नानकराः शुद्धयै कुतीर्थगमनोद्यताः ॥ 74 ॥

जिनधर्मबहिर्भूता व्रतशीलादिदूरगाः ।

निन्द्याः कपोतलेश्याढया आर्तध्यानकराः सदा ॥ 75 ॥

इत्याद्यपरदुष्कर्मरता ये मूढमानसाः ।

आर्तध्यानेन ते प्राप्य मरणं दुःखविह्वलाः ॥ 76 ॥

तिर्यग्गतीः प्रगच्छन्ति बह्वीर्दुःखखनीर्दुत्तम् ।

मरणोत्पत्तिसंपूर्णाः पराधीनाः सुखच्युताः ॥ 77 ॥

जो मायाचारी हैं, अतिकुटिलता युक्त कोटि—कोटि कार्यों के विधायक हैं, पर लक्ष्मी के अपहरण करने में आसक्त हैं, दिन—रात के आठों पहरो में खाते—पीते रहते हैं, महामूर्ख हैं, खोटे शास्त्रों के ज्ञाता हैं, धर्म मानकर पशुओं और वृक्षों की सेवा पूजा करते हैं । शुद्धि के लिये नित्य स्नान करते हैं, कुतीर्थों की यात्राथ जाने को उद्यत रहते हैं, जिन धर्म से बहिर्भूत हैं, व्रत—शीलादि से दूर रहते हैं, निन्दनीय

हैं, कापतो लेश्या से युक्त हैं, सदा आर्तध्यान करते रहते हैं, तथा इसी प्रकार के अन्य दुष्कर्मों के करने में जो मूढचित्त पुरुष संलग्न रहते हैं, वे आर्तध्यान से मरण कर दुःखों से विह्वल होकर बहुत दुःखों की खानरूप तिर्यग्गति में जाते हैं, जहाँ पर वे उत्पत्ति से लेकर मरण—पर्यन्त पराधीन और दुःखी रहते हैं ।

(श्री—वीरवर्धमानचरिते)

निगोद के योग्य कर्म

नास्तिका ये दुराचाराः परलोकं वृषं तपः ।

वृत्तं जिनेन्द्राशास्त्रादीन् मन्यन्ते न च दुर्धियः ॥ 78 ॥

तेऽत्यन्तविषयासक्तास्तीव्रमिथ्यात्वपूरिताः ।

अन्तातीतं निकोतं प्रयान्ति दुःखकैसागरम् ॥ 79 ॥

अनन्तकालपर्यन्तं महादुखं वचोऽतिगम् ।

भुञ्जन्ति तत्र ते पापान्मरणोत्पत्तिजं खलाः ॥ 80 ॥

जो नास्तिक हैं, दुराचारी हैं, परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र शास्त्र आदि को नहीं मानते हैं, दुर्बुद्धि हैं, विषयों में अत्यन्त आसक्त हैं, तीव्र मिथ्यात्व से भरे हुए हैं, ऐसे जीव अनन्त दुःखों के सागर ऐसे निगोद को जाते हैं । और वहाँ पर वे पापी अपने पाप से अनन्त काल पर्यन्त वचनातीत जन्म—मरण—जनित महादुःखों को भोगते हैं ।

(श्री—वीरवर्धमानचरिते)

नैःशील्यं निर्वृत्तं च मिथ्यात्वं परवञ्चनम् ।

मिथ्यात्वसमवेतानामधर्माणां देशनम् ॥ 35 ॥

कृत्रिमागुरुकपूरकुङ्कुमोत्पादनं तथा ।

तथा मानतुलादीनां कूटादीनां प्रवर्तनम् ॥ 36 ॥

सुवर्णभौक्तिकादीनां प्रतिरूपकनिर्मितः ।

वर्णगन्धरसादीनामन्यथापादनं तथा ॥ 37 ॥

तक्रक्षीरघृतादीनामन्य द्रव्यविमिश्रणम् ।

वाचान्यदुत्काकरणमन्यस्य क्रियया तथा ॥ 38 ॥

कापोतनीललेश्यात्वमार्त्तध्यानं च दारुणम् ।

तैर्यग्योनायुषो ज्ञेया माया चास्त्रवहेतवः ॥ 39 ॥

शील रहित होना, व्रत रहित होना, मिथ्यात्व धारण करना, दूसरों को ठगना, मिथ्यात्व से सहित अधर्म का उपदेश देना, कृत्रिम अगुरु, कपूर और केशर को

बनाना, झूठे नापतौल के बाट तराजू तथा कूट आदि को चलाना, नकली स्वर्ण तथा मोती आदि को बनाना, वर्ण, गन्ध, रस आदि को बदलकर अन्यरूप देना, छाँच, दूध तथा घी आदि में अन्य पदार्थों को मिलाना, वाणी तथा क्रिया द्वारा दूसरों की विषयाभिलाषा को उत्पन्न करना, कपोत और लेश्या से युक्त होना तीव्र आर्तध्यान करना और मायाचार करना ये सब तिर्यञ्च आयु के आस्रव के हेतु जानना चाहिये।
(तत्त्वार्थसार, पृ. 119)

कौआ, गीध, सुअर में जन्म लेने का कर्म

यश्च मांसप्रियो नित्यं काकगृध्रान् स संस्पृशेत् ।

सुरापः सततं मर्त्यः सूकरत्वं व्रजेद् ध्रुवम् ॥

जो प्रतिदिन मांस के लिये लालायित रहता है, वह कौओं और गीधों की योनि में जन्म लेता है। सदा शराब पीने वाला मनुष्य निश्चय ही सुअर होता है।

(अनुशासनपर्वणि दानधर्मपर्व, पृ. 5985)

कौआ, प्रेत होने का कर्म

अभक्ष्यभक्षणो मर्त्यः काकजातिषु जायते ।

आत्मघ्नो यो नरः कोपात् प्रेतजातिषु तिष्ठति ॥

अभक्ष्य भक्षण करने वाला मनुष्य कौए के कुल में उत्पन्न होता है तथा क्रोधपूर्वक आत्महत्या करने वाला पुरुष प्रेत योनि में पड़ा रहता है।

मुर्गा, मृग होने का कर्म

पैशुन्यात् परिवादाच्च कुक्कुटत्वमवाप्नुयात् ।

नास्तिकश्चैव यो मूर्खो मृगजातिं स गच्छति ॥

दूसरों की चुगली और निन्दा करने से मुर्गे की योनि में जन्म लेना पड़ता है। जो मूर्ख नास्तिक होता है, वह मृग-जाति में जन्म ग्रहण करता है।

कीड़ा, गधा होने का कर्म

हिंसाविहारस्तु नरःकृमिकीटेषु जायते ।

अतिमानयुतो नित्यं प्रेत्य गर्दभतां व्रजेत् ॥

हिंसा या शिकार के लिए भ्रमण करने वाला मानव कीड़ों की योनि में जन्म लेता है। अत्यन्त अभिमान युक्त पुरुष सदा मृत्यु के पश्चात् गधे की योनि में जन्म पाता है।

चूहा होने का कर्म

आगम्यागमनाच्चैव परदारनिषेवणात् ।

मूषिकत्वं व्रजेन्मर्त्यो नास्ति तत्र विचारणा ॥

अगम्या-गमन और परस्त्रीसेवन करने से मनुष्य चूहा होता है, इसमें शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है।

सियार, भेड़िया, स्थावर होने का कर्म

कृतघ्नो मित्रघाती च शृगालवृकजातिषु ।

कृतघ्नः पुत्राघाती च स्थावरेष्वथ तिष्ठति ॥

कृतघ्न और मित्रघाती मनुष्य सियार और भेड़ियों की योनि में जन्म लेता है। दूसरों के किए हुए उपकार को न मानने वाला और पुत्रघाती मनुष्य स्थावर योनि में जन्म लेता है।
(महाभारत)

सर्पादि गति प्राप्त योग्य कर्म

वितरन्ति न दानं ये पात्रेभ्यः कृपणाः क्वचित् ।

धनं न जिनपूजायै त्रिजगच्छ्रीसुखार्थिनः ॥ 162 ॥

ते दुर्गतौ चिरं भ्रान्त्वा तीव्रलोभाकुला ह्यघात् ।

पुनः सर्पादिगत्याप्त्यै जायन्ते कृपणा भुवि ॥ 163 ॥

जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रों के लिये दान नहीं देते हैं और तीन लोक की लक्ष्मी और सुख के इच्छुक होकर के भी जिनपूजा के लिये धन नहीं देते हैं, वे कृपण अपने इस पाप के द्वारा तीव्र लोभ से आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियों में परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदि की गति पाने वाले होते हैं।

(श्री वीरवर्धमान चरिते, सप्तदशोऽधिकारः, पृ. न.-185)

(7a) अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु

मनोवाक्कायवक्रत्वं विसंवादनशीलता ।

मिथ्यात्वं कूटसाक्षित्वं पिशुनास्थिरचित्तता ॥ 44 ॥

विषकिं येष्टकापाकदावाग्नीनां प्रवर्तनम् ।

प्रतिमायतनोद्धानप्रतिश्रयविनाशनम् ॥ 45 ॥

चैत्यस्य च तथा गन्धमाल्यधूपादिमोषणम् ।

अतितीव्रकषायत्वं पापकर्मोपजीवनम् ॥ 46 ॥

परुषासह्यवादित्वं सौभाग्यकारणं तथा ।
अशुभस्येति निर्दिष्टा नाम्न आस्रवहेतवः ॥ 47 ॥

(तत्त्वार्थसार चतुर्थोधिकार)

मन, वचन, काय की कुटिलता, विसंवाद करने का स्वभाव, मिथ्यात्व, झूठी गवाही देना, चुगली करना, चित्त का अस्थिर रहना, विष के प्रयोग, ईंट पकाना तथा दावाग्नि-वन में आग लगाने की प्रवृत्ति चलाना, मंदिर सम्बन्धी उद्यान के भवन का विनाश करना, प्रतिमा को चढ़ाने योग्य गन्ध, माला तथा धूप आदि की चोरी करना, अत्यन्त तीव्र कषाय करना, पाप कार्यों से जीविका करना, कठोर और असह्य वचन बोलना तथा सौभाग्य वृद्धि के लिये वशीकरण आदि उपायों को मिलाना ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं ।

योगवक्रताविसंवादनं चाऽशुभस्य नाम्नः ॥22॥ (तत्त्वार्थवार्तिक पृ. 324)

मन, वचन और काय की कुटिल वृत्ति रूप योगवक्रता तथा विसंवादन ये अशुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ।

मिथ्यादर्शन-पिशुनताऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरणसुवर्णमणि-रत्नाद्यनुकृति-कुटिलसाक्षित्वा-ऽङ्गोपाङ्ग्यावन-वर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जर क्रिया-द्रव्यान्तरविषयसंबन्धनिकृतिभूयिष्ठता-परनिन्दात्मप्रशंसा-ऽनृतवचनपरद्रव्यादान-महारम्भपरिग्रहउज्ज्वलवेषमद-परुषासभ्यप्रलाप-आक्रोश-मौख्य-सौभाग्योपयोगवशी-करणप्रयोग-परकुतूहलोत्पादना-ऽलङ्कारादरचैत्यप्रदेशगन्ध-माल्यधूपदिमोषण-विलम्ब-नोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशन-तीव्रक्रोधमान-मायालोभपापकर्मोपजीवनादि लक्षणः । स एष सर्वोऽशुभस्य नाम आस्रवः ।

मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिर चित्त स्वभावता, कूटमान तुलाकरण (झूठे बाट, तराजू रखना) कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी साक्षी देना, अंग-उपाङ्ग का छेदन करना, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श का विपरीतपना अर्थात् स्वरूपविकृति कर देना, यन्त्र पिंजरा आदि पीड़ा कारक पदार्थ बनाना, एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का विषय सम्बन्ध करना, माया की बहुलता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा, मिथ्याभाषण, परद्रव्यहरण, महारम्भ, महापरिग्रह, उज्ज्वल वेष और रूप का घमण्ड करना, कठोर और असभ्य भाषण करना, क्रोध भाव रखने और अधिक बकवाद करने

में अपने सौभाग्य का उपभोग करना, दूसरों को वश करने के प्रयोग करना, दूसरे में कुतूहल उत्पन्न करना, बढ़िया-बढ़िया आभूषण पहनने की चाह रखना, जिनमंदिर-चैत्यालय से गन्ध (चन्दन) माल्य, धूप, आदि को चुरा लेना, किसी की विडम्बना करना, उपहास करना, ईंट-चूने का भट्टा लगाना, वन में अग्नि लगाना, प्रतिमा का प्रतिमा के आयतन का अर्थात् चैत्यालय का और जिनकी छाया में विश्राम लिया जाये ऐसे बाग-बगीचों का विनाश करना, तीव्र, क्रोध, मान, माया और लोभ करना तथा पाप कर्म जिसमें हो ऐसी आजीविका करना इत्यादि बातों से भी अशुभ नामकर्म का आस्रव होता है । ये सब अशुभ नामकर्म के आस्रव के हेतु हैं ।

(7b) शुभनाम के आस्रव के कारण

संसार भीरुता नित्यमविसंवादनं तथा ।

योगानां चार्जव नाम्नः शुभस्यास्रवहेतवः ॥ 48 ॥

संसार से निरन्तर भयभीत रहना, सहधर्मी जनों के साथ विसंवाद विरोध नहीं करना और योगों की सरलता रखना ये शुभनाम कर्म के आस्रव के हेतु हैं ।

(तत्त्वार्थसार, पृ. 121)

तद् विपरीतं शुभस्य ॥ 23 ॥

योग वक्रता और विसंवादन से विपरीत योगों की सरलता और अविसंवादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं । (रा. वा. पृ. 326 स. 23)

सरल योग और अविसंवादन उस योगवक्रता आदि से विपरीत हैं । मन, वचन, काय की सरलता और अविस्वादन शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं । धर्मात्मा पुरुषों का दर्शन करना, आदर सत्कार, करना, उनके प्रति सद्भाव रखना, संसार भीरुता, प्रमाद का त्याग, निश्छल चारित्र्य का पालन आदि पूर्वोक्त अशुभ नाम कर्म के आस्रव के कारण से विपरीत परिणाम शुभ नामकर्म के आस्रव के कारण हैं । इन सब शुभ नामकर्म के आस्रव के कारणों का 'च' शब्द से संग्रह होता है ऐसा समझना चाहिये ।

तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के हेतु

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तिः ।

मार्गप्रभावना चैव सम्पत्तिर्विनयस्य च ॥ 49 ॥

शीलव्रतानतीचारो नित्यं संवेगशीलता ।

ज्ञानोपयुक्तताभीक्षणं समाधिश्च तपस्विनः ॥ 50 ॥

वैयावृत्यमनिर्हाणिः षड्विधावश्यकस्य च ।

भक्तिः प्रवचनाचार्यजिनप्रवचनेषु च ॥ 51 ॥

वात्सल्यं च प्रवचने षोडशैते यथोदिताः ।

नाम्नस्तीर्थकरत्वस्य भवन्त्यास्रव हेतव ॥ 52 ॥

(तत्त्वार्थसार चतुर्थोधिकार, पृ. 121)

सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता, शक्ति के अनुसार किये हुए तप और त्याग, मार्ग प्रभावना, विनयसम्पन्नता, शील और व्रतों में अतिचार नहीं लगाना, निरन्तर संसार संबंधी दुःखों से भयभीत रहना, निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना, साधु-समाधि-मुनियों के तपश्चरण में बाधा आने पर उसे दूर करना, वैयावृत्य, छः आवश्यकों के करने में न्यूनता नहीं करना, प्रवचन भक्ति, आचार्य भक्ति, अर्हन्द्रक्ति, बहुश्रुतभक्ति और प्रवचन वात्सल्य-सहधर्मीजनों के साथ स्नेहभाव रखना ये सोलह, तीर्थकर नामकर्म के आस्रव के कारण हैं ।

मोक्ष साधक तीर्थप्रवर्तक तीर्थकर पुण्य प्रकृति

शरीर में चुभे हुए काँटे को निकालने के लिये जैसे एक शक्तिशाली काँटे की आवश्यकता होती है एवं घुसे हुए काँटे को निकालने के पश्चात् उस शक्तिशाली काँटे की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार घाति रूप पाप कर्म का छेदन करने के लिए सातिशय पुण्य की आवश्यकता होती है । तीर्थङ्कर नाम कर्म रूप पुण्य प्रकृति सबसे उत्कृष्टतम पुण्य प्रकृति है । तीर्थकर पुण्य-कर्म से केवल तीर्थङ्कर ही मोक्ष के अधिकारी नहीं होते हैं, बल्कि भव्य जीवों के लिये मोक्ष मार्ग रूप धर्म का भी प्रवर्तन करते हैं । कुन्दकुन्द स्वामी प्रवचनसार में पुण्य का फल बताते हुए कहते हैं -

“पुण्यफला अरिहंता” गाथा 45। अर्हन्त खलु सकलसम्यक् परिपक्वपुण्यकल्पपादफला एव भवन्ति ॥

पुण्य का फल अरिहन्त अवस्था है अर्थात् अरिहन्त पद तीर्थकर नाम कर्म रूपी सम्यक् परिपक्व पुण्यकल्पवृक्ष का फल है ।

तीर्थकर प्रकृति के बन्ध के निमित्त

पढमुवसमिये सम्पेसेसतिय अविरदादि चत्तारि ।

तित्थयर बंध पारंभया णरा केवलि दुगंते ॥ 93 ॥ (गो. कर्मकाण्ड)

प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व में तथा क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत से अप्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मनुष्य ही तीर्थकर प्रकृति के बंध का प्रारम्भ केवली या श्रुत केवली के पादमूल में करते हैं ।

तीर्थङ्कर प्रकृति का लक्षण

“आर्हन्त्यकारणं तीर्थङ्करत्व नाम” सर्वाथसिद्धि ।

आर्हन्त्य का कारण तीर्थकर नाम कर्म है ॥

जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स ।

तिलोय पूजा होदितमत्तित्थयरंणाम ॥

(ध. 6/1,81.30/67)

जिस कर्म के उदय से जीव की त्रिलोक में पूजा होती है, वह तीर्थङ्कर नाम कर्म है ।

सकलभुवनैकनाथस्तीर्थकरो वण्यंते मुनिवरिष्ठेः ।

विधुध धवलचामराणां तस्य स्याद्वै चतुःषष्टिः ॥ 44 ॥

(ध.1/11,1गा.44/58)

जिनके ऊपर चन्द्रमा के समान धवल चौसठ चमर दुरते हैं, ऐसे सकल भुवन के अद्वितीय स्वामी को श्रेष्ठ मुनि तीर्थङ्कर कहते हैं ।

तित्थयो चटुणाणी सुरमहिदो सिञ्जिदव्य धुवम्भि।

(भगवती आ. 302/516)

श्रुतं गणधरा.....तदुभया करणा तीर्थकरः ।

मार्गो रत्नत्रयात्मक उच्यते तत्कारणात्तीर्थकरो भवति ॥ 302 ॥

मति-श्रुति, अवधि और मनः पर्यय ऐसे चार ज्ञान के धारक, स्वर्गावतरण जन्माभिषेक और दीक्षा कल्याणादिकों में चतुर्णिकाय देवों से पूजे गए हैं, जिनको नियम से मोक्ष प्राप्ति होगी ऐसे तीर्थकर..... । श्रुत और गणधर को भी जो कारण है उनको तीर्थकर कहते हैं ।

अथवा रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को जो प्रचलित करते हैं उसको तीर्थङ्कर कहते हैं ।

तीर्थकृतः संसारोत्तरण हेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः।

(समाधि श.टी.)

संसार से पार होने के कारण को तीर्थ कहते हैं, उसके समान होने से आगम को तीर्थ कहते हैं, उस आगम के कर्त्ता को तीर्थकर कहते हैं ।

सयलभुवणेक्कणाहो तित्थयरो कोमुदीव कुंदवा ।

धवलेहि चामरेहिं चउसट्ठिहिं विज्जमाणो सो ॥ 686 ॥ (त्रिलोकसार)

जो सकल लोक का एक अद्वितीय नाथ है । बहुरि गडूलनी के समान या कुन्द के फूल के समान श्वेत चौसठि चमरनि करि वीज्यमान है सो तीर्थकर जानना ।

“तीर्थकर संत कर्मिक तीसरे भव अवश्य मुक्ति प्राप्त करता है ।”

पारद्ध तित्थयरबंध भावादो तदियभवे तित्थयर ।

संतकम्मियजीवाणं मोक्खगमणणियमादो ॥ (धवला 8/3)

जिस भव में तीर्थकर प्रकृति का बन्ध प्रारंभ किया है । उससे तीसरे भव में तीर्थकर प्रकृति के सत्व से युक्त जीवों के मोक्ष जाने का नियम है ।

“तीर्थकर बन्ध के पश्चात् सम्यक्त्व च्युति का अभाव”

प्रारब्धतीर्थबन्धस्य बद्ध देवायुष्कवदबद्धा युष्कस्यापि सम्यक्त्वप्रच्युत्याभावान् ॥

(गो. क. 550 जी. प्र. 743)

देवायु का बंध सहित तीर्थकर बंध वाले के जैसे सम्यक्त तें भृष्टता न होई वैसे अबध्यायु देव के भी न होई ।

प्रारब्धतीर्थ बन्धस्यान्यत्र बद्धनरकायुष्कात्सम्यक्त्वाप्रच्युतिर्नेति तीर्थबन्धस्य नैरन्तर्यात् ॥ (गो. क. जी. प्र. 64516)

तीर्थकर बन्ध का प्रारम्भ भये पीछे पूर्वे नरक आयु बन्ध बिना सम्यक्त्व तें भ्रष्टता न होइ अर तीर्थकर का बन्ध निरन्तर है ।

विशेष बात यह है कि तीर्थकर प्रकृति को बांधने वाले सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यात्व को प्राप्त होकर तीर्थकर प्रकृति की सत्ता के साथ द्वितीय व तृतीय पृथिवियों में उत्पन्न होते हैं वैसे इन पृथिवियों में उत्पन्न नहीं होते ।

“नरक में भी तीसरे नरक के माध्यम पटल से आगे नहीं जाते”

तत्थ हेट्टिमइंदए णीललेस्सासहिए तित्थयर संतकम्मियमिच्छाईट्ठीणमुव-
वादाभावादो । कुदो तत्थ तित्से पुठवीए उक्कस्साउदंसणादो ।

(ध. 8/3, 258/332/3)

(तीसरी पृथ्वी में) नील लेश्या युक्त अधस्तन इन्द्रक में तीर्थकर प्रकृति के सत्व

वाले मिथ्या दृष्टियों की उत्पत्ति का अभाव है । इसका कारण है कि वहाँ उस पृथ्वी की उत्कृष्ट आयु देखी जाती है ।

“नरकायु छह माह शेष रह जाती है तब तीर्थकर प्रकृति सत्ता वाले के उपसर्ग दूर होता है तथा देव की माला नहीं मुरझाती है ।”

तित्थयर सन्त कम्मवसग्गं णिरए णिवारयंति सुरा ।

छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाण मालंको ॥ 155 ॥ (त्रिलोकसार)

तीर्थकर प्रकृति के सत्व वाले जीव के नरकायु विषै छह महीना अवशेष रहे, देव, नरक विषै ताका उपसर्ग निवारण करै है । बहुरि स्वर्ग विषै छह महीना आयु अवशेष रहे माला का मलिन होना चिह्न न हो है ।

यो बद्धं नारकायुस्तीर्थं सत्त्व.....तस्य षण्मासावशेषबद्धमनुष्यायुष्कस्य नरकोपसर्ग निवारणं । गर्भावतरण कल्याणादयश्च भवन्ति ॥ (गो. क. 38)

जिस जीव के नरकायु का बन्ध तथा तीर्थकर का सत्व होई, तिसके छह महीना आयु का अवशेष रहे मनुष्यायु का बन्ध होई अर नारक उपसर्ग का निवारण अर गर्भकल्याणादिक होइ ।

“तीर्थकर संतकर्मिक को क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति स्वतः हो जाती है”

सामान्यतः तो जीव दुषम-सुषम काल में तीर्थकर, केवली या चतुर्दशपूर्वी के पादमूल में ही दर्शन मोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ करते हैं, किन्तु जो उसी भव में तीर्थकर या जिन होने वाले हैं वे तीर्थकरादि की अनुपस्थिति में तथा सुषम-दुषम काल में भी दर्शन मोह का क्षपणा करते हैं ।

(उदा. कृष्णादि व वर्धन कुमार /ध. 6/1-9/8)

उपर्युक्त आगम प्रमाण से सिद्ध होता है कि तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध साक्षात् बन्ध होने पर भी वह बंध संसार परम्परा की वृद्धि करने वाला नहीं है परन्तु संसार की परम्परा को विच्छेद करने वाला है । एक बार सम्यक्त्व प्राप्ति होकर छूटने के बाद संसार की परम्परा उत्कृष्ट की अपेक्षा -अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक चल सकती है । अर्थात् सम्यक्त्व से च्युत होकर यह जीव चतुर्गति रूपी संसार में नर, नरकादि पर्याय में यहाँ तक कि निगोद-अवस्था को प्राप्त करके जन्म-मरण रूपी दुःखों को अनन्त भव तक अनुभव कर सकता है । बद्ध-आयुस्क जीव क्षायिक

जाति, कुल, बल, रूप, वीर्य, परिज्ञानैश्वर्यतपो विशेषतः आत्मोत्कर्षाऽप्रणिधानं परावज्ञानौद्धत्यनिन्दाऽसूयोपहासपरपरिवाद निवृत्तिः विनिहतमानता धर्म्यजन पूजा ऽभ्युत्थानाञ्जलिप्रणतिवन्दना ऐदंयुगीनान्य पुरुष दुर्लभ गुणस्याप्यनुसिक्तता, अहङ्काराऽत्यये नीचैवृत्तिता भस्मावृतस्येव हुतभुजः स्वमाहात्म्या प्रकाशनं धर्म साधनेषु परसम्भ्रम इत्यादि ।

(भाग 2 राजवार्तिक पृ. 336)

जाति, कुल, बल, सौन्दर्य, वीर्य (शारीरिक शक्ति), ज्ञान, ऐश्वर्य और तपादि की विशेषता होने पर भी अपने में बड़प्पन का भाव नहीं आने देना, पर का तिरस्कार नहीं करना, अनौद्धत्य (अदृण्डता नहीं होना), पर की निंदा नहीं करना, किसी की असूया, उपहास, बदनामी आदि नहीं करना, मान नहीं करना, धर्मात्माओं का सम्मान करना, उनके आने पर खड़े होना, उनको हाथ जोड़ना, नमस्कार करना, इस युग में अन्य जनों में न पाये जाने वाले ज्ञानादि गुणों के होने पर भी उनका रंचमात्र भी अहङ्कार नहीं करना, निरहंकार नम्रवृत्ति, भस्म से ढकी हुई अग्नि की तरह अपने छके हुए माहात्म्य का प्रकाशन नहीं करना और धार्मिक साधनों में अत्यन्त आदर, बुद्धि रखना आदि कारणों से भी उच्च गोत्र कर्म का आश्रय होता है ।

- सर्वोत्तम मनुष्य वे नहीं है जो अवसरों की बात जोहते हैं, अपितु वे हैं जो अवसर को अपना दास बना लेते हैं ।

-ई. एच. चेपिन

- हमेशा भाग्य के धागों को कौन देख सकता है । क्षण-भर के लिये हितकारी अवसर आता है, हम उसे खो देते हैं और महीनों तथा वर्षों का नाश हो जाता है ।

- कार्लाइल

- जो सोचते हो, उसे निश्चय से पूर्ण करो, भाग्य के सहारे मत बैठो किन्तु विवेक से विचार कर लो कि वह हितकर व श्रेयस्कर हो ।

3

कर्म बंध होने का दार्शनिक एवं वैज्ञानिक कारण

निश्चय नय से प्रत्येक जीव स्वभावतः द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नो कर्म से रहित होने के कारण शुद्ध, निर्मल, निरंजन, अमूर्तिक, स्वभाव वाले हैं । इतना ही नहीं निश्चयतः प्रत्येक जीव अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अब्याबाधादि अनंत अमूर्तिक गुणो का अखण्ड पिण्ड है । इसीलिए जीव पौद्गलिक कर्म से रंजायमान आकर्षण-विकर्षण रूप राग-द्वेष से रहित है । अतः जीव आकाश के समान स्पर्श, रस, गंध वर्ण, भार तथा परिस्यंद आदि से रहित है । ऐसी अवस्था में जीव के साथ भौतिक मूर्तिक अनंतानंत पुद्गल परमाणुओं का समूह स्वरूप कर्म वर्गणाएँ जीव के साथ किस प्रकार संश्लेष रूप एक क्षेत्रावगाही बंध होता है ? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है । इस प्रश्न का समाधान देते हुए प्राचीन जैनाचार्यों ने स्पष्ट रूप से एक मत से स्वीकार किया है कि जीव अनादि काल से संतति परम्परा अपेक्षा कर्म से संश्लेष बंध होने के कारण व्यवहार नय से जीव मूर्तिक स्वभाव वाला है ।

पूज्यपाद् स्वामी ने सिद्ध भक्ति में कहा भी है - "अस्त्यात्मानादि बद्धः" यह आत्मा अनादि काल से द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म से बंधा हुआ है । इस अपेक्षा संसारी आत्मा मूर्तिक है । यदि संसारी आत्मा को भी जैसे - निश्चय नय से द्रव्य दृष्टि से अमूर्तिक माना जाता है । उसी प्रकार व्यवहारनय से संसारी जीव को एकान्ततः अमूर्तिक माना जायेगा तब संसार का ही अभाव हो जायेगा ।

देवसेन आचार्य ने आलाप पद्धति में कहा है -

सर्वथाऽमूर्त्स्यापि तथात्मनः, संसार विलोपः स्यात् ।

आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक मानने में संसार का लोप हो जायेगा । द्रव्य कर्म आदि के संश्लेष रूप बंध के अभाव से यदि संसारी आत्मा को सर्वथा अमूर्तिक माना जावे तब सदैव कर्म का अभाव रहने से संसार का ही अभाव हो जायेगा अर्थात् कोई भी जीव संसारी नहीं रहेगा । सब जीव सदा मुक्त, सदा शिव, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन स्वरूप होकर अनंत सुख एवं शान्ति के भोक्ता बन जायेंगे । परन्तु इसी प्रकार अनुपलब्ध हैं । अविकसित एक कोषीय, सूक्ष्म, रोगाणु, वायरस, वनस्पति, कीट-

बंध होने पर जिसके साथ बंध होता है उसके साथ एक दूसरे में प्रवेश हो जाने पर परस्पर एकता हो जाती है। जैसे सुवर्ण और चाँदी को एक साथ गलाने से दोनों एक रूप हो जाते हैं। उसी तरह जीव और कर्मों का बन्ध होने से परस्पर एक रूप बन्ध हो जाता है। तथा यह कर्म बन्ध के कारण संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदि से इसका ज्ञान बिगड़ जाता है। यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाश में मदिरा रहते हुए आकाश को मदवान नहीं कर सकती है वैसे आत्मा के ज्ञान में कभी विकार नहीं होता। संसारी आत्मा मूर्तिक है इसी से उसको कर्म बन्ध होता है जैसे आत्मा निश्चय से अमूर्ति है वैसे ही उसके निश्चय से बन्ध भी नहीं होता है। इस तरह अनेकांत से समझ लेने में कोई प्रकार की शंका नहीं रहती है। सर्वथा शुद्ध अमूर्तिक यदि आत्मा होती तो यह बन्ध मूर्तिक से कभी प्रारम्भ नहीं हो सकता था। अनादि संसार में कर्म सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसे अनादि से ही चला आ रहा है इससे कर्मबन्ध की व्यवस्था सिद्ध होती है।

आचार्य कुन्दकुन्द देव ने निश्चय से अमूर्तिक एवं व्यवहार से मूर्तिक आत्मा किस प्रकार कर्म बन्धन से सहित होती है उसका वर्णन 'प्रवचनसार' में निम्न प्रकार किया गया है -

रूपादिर्एहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि ।

द्व्वाणि गुणे य जथा तह बंधो तेण जाणीहि ॥ 174 ॥

जैसा रूपादि रहित गुण वाले द्रव्यों के रूपादि गुणों को देखता है और जानता है उसी प्रकार उसके साथ बंध जानो।

जैसे अमूर्तिक व परम चैतन्य में परिणमन रखने के कारण यह परमात्मा वर्ण आदि से रहित है। ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित मूर्तिक द्रव्यों को और उनके गुणों को मुक्तावस्था में एक समय में वर्तने वाले सामान्य और विशेष को ग्रहण करने वाले केवलदर्शन और केवलज्ञान उपयोग के द्वारा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध से देखता, जानता है। यद्यपि उन ज्ञेयों के साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है अर्थात् वे मूर्तिक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता दृष्टा उनसे भिन्न है अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेद ज्ञान को न पाता हुआ, काष्ठ व पाषाण आदि की अचेतन जिन प्रतिमा को देखकर यह मेरे द्वारा पूजने योग्य है ऐसा मानता है। यद्यपि यहाँ सत्ता को देखने मात्र दर्शन के साथ उस प्रतिमा तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि दृश्य दर्शक सम्बन्ध है अथवा समवशरण में प्रत्यक्ष जिनेश्वर को

देखकर यह मानता है कि यह मेरे द्वारा आराधने योग्य है, यहाँ भी यद्यपि देखने व जानने का जिनेश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य आराधक सम्बन्ध है। तैसे ही मूर्तिक द्रव्य के साथ बन्ध होना समझो।

यद्यप्यमात्मा निश्चयेनामूर्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्ब्यवहारेण मूर्तः सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूत रागादिविकल्परूपं भावबन्धोपयोगं करोति । तस्मिन्सति मूर्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्तदृष्टान्तेन संश्लेषसम्बन्धोऽस्तीति नास्ति दोषः ॥74॥ प्रवचनानुसार

यहाँ यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनय से अमूर्तिक है तथापि अनादि कर्मबन्ध के वश से व्यवहार से मूर्तिक होता हुआ द्रव्य बन्ध के निमित्त कारण रागादि विकल्प भावबन्ध के रूप उपयोग को करता है। ऐसी अवस्था होने पर यद्यपि मूर्तिक द्रव्यकर्म के साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि पूर्व में कहे हुए दृष्टान्त से संश्लेष सम्बन्ध है इसमें कोई दोष नहीं है।

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहे हैं -

देहोदयेण सइओ जीवो आहरदि कम्म णोकम्मं ।

पडि समयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं ॥ (जीवकाण्ड)

यह जीव औदारिक आदि शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरणादि आठ कर्म रूप होने वाली कर्म वर्गणाओं को, तथा औदारिक आदि चार शरीर (1) औदारिक, (2) वैक्रियक, (3) आहारक, (4) तैजस, रूप होने वाली नो कर्म वर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण करता है जैसा कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब ओर से अपनी तरफ खींचता है।

पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो ।

कणयोबले मलं वा ताणत्थितं सयं सिद्धं ॥ 2 ॥

कारण के बिना वस्तु का जो सहज स्वभाव होता है उसको प्रकृति, शील अथवा स्वभाव कहते हैं जैसा कि आग का स्वभाव ऊपर को जाना, पवन का तिरछा बहना, और जल का स्वभाव नीचे को गमन करना है, इत्यादि। प्रकृति में यह स्वभाव जीव तथा अंग (कर्म) का ही लेना चाहिये। इन दोनों में से जीव का स्वभाव रागादि रूप परिणमने (हो जाने) का है, और कर्म का स्वभाव रागादि रूप परिणमापने का है। तथा इन दोनों का सम्बन्ध सुवर्ण पाषाण में मिले हुये मल (मैल) की तरह अनादिकाल से है, और इसलिये जीव तथा कर्म का अस्तित्व भी स्वयं ईश्वरादि

कर्त्ता के बिना ही—अपने आप सिद्ध है ।

पूज्यपाद स्वामी ने भी समाधि तंत्र में उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन निम्न प्रकार किया है —

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम् ।

वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्र भार्यादिगोचरः ॥ 11 ॥

आत्म को न जानने वाले बहिरात्मा पुरुषों का देह/शरीर में अपने तथा परायेपन के विचार से पुत्र—स्त्री आदि सम्बन्धित भ्रम होता है ।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढ ।

येन लोकोद्भवेव स्वं पुनप्यभिमन्यते ॥ 12 ॥

उसी ही मिथ्याश्रद्धान से बहिरात्मा जीवों की अविद्या या अज्ञान नामक संस्कार या धारण अथवा भावना दृढ मजबूत हो जाती है । जिस संस्कार या भावना से संसारी स्त्री—पुरुष शरीर को ही कालान्तर में भी, अन्य भव में भी अपना मानता रहता है ।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।

स्वात्मन्येवात्मधीस्तमाद्वियोजयति देहिनम् ॥ 13 ॥

इस मिथ्यासंसार से बहिरात्मा शरीर में अपनी बुद्धि—ज्ञान या अपनेपन की मान्यता निश्चय से आत्मा को जोड़ती है, तथा अपनी आत्मा में ही अपने आत्मापन की श्रद्धा—भावना या ज्ञान अपनी आत्मा को उस शरीर से अलग करता है ।

देहेष्वात्माधिया जाताः पुत्र भार्यादिकल्पनाः ।

सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥ 14 ॥

“शरीर में आत्मबुद्धि के कारण पुत्र—पत्नी आदि की कल्पनायें—बनावटी, झूठी मान्यतायें हुई हैं । उन कल्पनाओं से अपनी पुत्र—पत्नी आदि को सम्पत्ति रूप बहिरात्मा जीव मानता है । हाय ! इस तरह यह संसारी जनता मारी गई—ठगी गई है ।”

परत्राहंमतिः स्वस्माच्च्युतो वधनात्यसंशयम् ॥ 43 ॥

अपनी आत्मा की श्रद्धा से गिरा हुआ या छूटा हुआ और अपनी आत्मा से भिन्न जड़ में अहम् मान्यता यानि ‘मैं शरीर रूप हूँ’ ऐसी श्रद्धा और ज्ञान वाला जीव निःसन्देह निश्चय से कर्मबन्ध से बँधता है ।

बज्जदि कम्मं जेणदु चेदण भावेण भावबंधो सो ।

कम्मादपदेसाणं अण्णोण्णपवेसणं इदरो ॥ 32 ॥ (द्रव्य संग्रह)

जिस चेतन भाव से कर्म बँधता है वह तो भाव बन्ध है, और कर्म तथा आत्मा के प्रदेशों का परस्पर प्रवेशन रूप अर्थात् कर्म और आत्मा के प्रदेशों का एकाकार होने रूप दूसरा द्रव्य बन्ध है ।

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।

पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ॥ 175 ॥

जो उपयोगमय जीव विविध विषयों को प्राप्त करके मोह करता है, राग करता है अथवा द्वेष करता है, उनके द्वारा बन्धरूप हैं ।

यह जीव निश्चय नय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग का धारी है तो भी अनादि काल से कर्म बन्ध की उपाधि के वश से जैसे स्फटिक मणि उपाधि के निमित्त से अन्य भाव रूप परिणमती है इसी तरह कर्म कृत औपाधिक भावों से परिणमता हुआ इन्द्रियों के विषयों से रहित परमात्मा स्वरूप की भावना से विपरीत नाना प्रकार पञ्चेन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों को पाकर उनमें राग, द्वेष, मोह कर लेता है । ऐसा होता हुआ यह जीव राग—द्वेष—मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमयी परम धर्म को न अनुभवता हुआ इन राग, द्वेष, मोह भावों के निमित्त से बद्ध होता है । यहाँ पर जो इस जीव के यह राग, द्वेष, मोह रूप परिणाम हैं सो ही भाव बन्ध हैं ।

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगद विसये ।

रज्जदि तेणवे पुणो बज्जदि कम्मत्ति उवदेसो ॥ 176 ॥ (प्रवचनसार)

जीव जिस भाव से विषयागत पदार्थ को देखता है और जानता है उसी से उपरक्त (आसक्त) होता है, और कर्म बँधता है ऐसा उपदेश है ।

यह जीव पाँचों इन्द्रियों के जानने में जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते हैं उनको जिस परिणाम से निर्विकल्परूप से देखता है व सविकल्परूप से जानता है उसी दर्शन ज्ञानमयी उपयोग से राग करता है क्योंकि वह आदि, मध्य, अन्त रहित व राग द्वेषादि रहित चैतन्य ज्योति स्वरूप निज आत्म—द्रव्य को न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ समस्त रागादि विकल्पों को छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ वर्तन कर रहा है इससे ही रागी, द्वेषी, मोही होकर राग, द्वेष, मोह कर लेता है । यही भाव बंध है । इसी भाव बन्ध के कारण नवीन द्रव्य कर्मों को बँधता है ऐसा उपदेश है ।

बन्ध के भेद एवं कारण (सामान्य)

जीव प्रदेश एवं कर्म वर्गणाओं का संश्लेष रूप सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं । इस अपेक्षा बन्ध एक प्रकार होते हुए भी विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न भेद भी

हो जाते हैं। भाव बन्ध एवं द्रव्य बन्ध की अपेक्षा बन्ध दो प्रकार का है -

भाव बन्ध :- मोह, राग, द्वेष आदि जीव के वैभाविक भाव को भाव बन्ध कहते हैं।

द्रव्य बन्ध :- आत्मा के साथ पूर्व बद्ध कर्म पुद्गल के साथ नवीन पुद्गल कर्म परमाणुओं का बँधना द्रव्य बन्ध है।

(1) भाव बन्ध (2) कर्म बन्ध एवं नौ कर्म बन्ध अपेक्षा बन्ध 4 प्रकार का भी है - (1) प्रकृति बन्ध (2) प्रदेश बन्ध (3) स्थिति बन्ध (4) अनुभाग बन्ध। इनकी अपेक्षा बन्ध चार प्रकार के हैं। एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा बन्ध पाँच प्रकार के भी हैं। पञ्च स्थावर एवं त्रस काय की अपेक्षा बन्ध छः प्रकार के भी हैं। इसी प्रकार बन्ध संख्यात, असंख्यात और अनंत होते हुए भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश बन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं इसलिए इन चारों बन्धों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पयडि दिट्ठि अणुभाग प्पदेश भेदादु चदुविधो बंधो ।

जोगा पयडि पदेशा ठिदि अणुभागा कसायदो होति ॥ 33 ॥ (द्रव्य संग्रह)
प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन भेदों से बन्ध चार प्रकार के हैं। इनमें योगों से प्रकृति तथा प्रदेश बन्ध होते हैं और कषायों से स्थिति तथा अनुभाग बन्ध होते हैं।

सपदेशो सो अप्पा तेसु पदेशेसु पुग्गला काया ।

पविसंति जहा जोगं चिट्ठंति य जंति बज्झंति ॥ (गा 178 प्रवचनसार)
वह आत्मा सप्रदेशी है उन प्रदेशों में पुद्गल समूह प्रवेश करते हैं यथायोग्य रहते हैं, निकलते हैं और बँधते हैं।

मन, वचन, काय वर्गणा के आलम्बन से और वीर्यान्तराग के क्षयोपशम से जो आत्मा के प्रदेशों में सकम्पना होता है उसको योग कहते हैं। उस योग के अनुसार कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल काय आस्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यन्त ठहरते हैं तथा अपने उदय काल को पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा केवल ज्ञानादि अनंत चतुष्टय की प्रकटता रूप मोक्ष से प्रतिकूल बन्ध के कारण रागादिकों का निमित्त पाकर फिर भी द्रव्य बन्धरूप हो जाते हैं। इससे यह बताया गया है कि रागादि परिणाम ही द्रव्य बन्ध का कारण है। अथवा इस गाथा से दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि "सविशान्ति" शब्द से प्रदेश बन्ध "तिष्ठन्ति" से स्थिति, बन्ध, "जंति" से फल देकर

जाते हुए अनुभाग बन्ध और "बद्धयेन्ते" से प्रकृतिबन्ध ऐसे चार प्रकार बन्ध को समझना।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो जीवस्स रागमादीहि ।

अण्णोण्णमवगाहो पुग्गल जीवप्पगो भणिदो ॥ 177 ॥

स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध रागादि के साथ जीव का बन्ध और अन्योन्य अवगाह पुद्गल जीवात्मक बन्ध कहा गया है।

जीव के रागादि भावों के निमित्त से नवीन पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का पूर्व में जीव के साथ बंधे हुए पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के साथ अपने यथायोग्य चिकने-रूखे गुणरूप उपादान कारण से वह बन्ध होता है उसको पुद्गल बन्ध कहते हैं। वीतरग परम चैतन्यरूप निज आत्म तत्त्व की भावना से शून्य जीव का जो रागादि भावों में परिणमन करना जो जीव बन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होने के कारण स्निग्ध रुक्ष की जगह राग-द्वेष में परिणमन होते हुए जीव का बन्ध योग्य स्निग्ध रुक्ष परिणामों में परिणमन होने वाले पुद्गल के साथ जो परस्पर अवगाह रूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है। इस तरह तीन प्रकार बन्ध का लक्षण जानने योग्य है।

बन्ध के संक्षिप्त कारण बताते हुए कुन्दकुन्द स्वामी पुनः कहते हैं - "रत्तो बंधदि कम्म" अर्थात् रागी जीव कर्म को बाँधता है।

सामान्यतः राग एक प्रकार होते हुए भी उसके अनेक भेद-प्रभेद हो जाते हैं। तब द्रव्यबन्ध में भेद-प्रभेद हो जाते हैं। यथा :-

परिणामदो बंधो परिणामो रागदोस मोह जुदो ।

असुहो मोह पदेशो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥ 180 ॥

परिणाम से बन्ध वह है, वह परिणाम राग-द्वेष-मोह युक्त है। मोह और द्वेष अशुभ हैं राग शुभ अथवा अशुभ होता है।

"सुहो परिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भव्यि मण्णेषु ।"

पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है, ऐसा कहा है।

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।

तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादि भावेहिं ॥ 187 ॥

जैसे नवमेघ जल के भूमिसंयोग रूप परिणाम के समय अन्य पुद्गल परिणाम स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्म पुद्गल परिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार

वाक्य की परिसमाप्ति की विचित्रता होने से समुदाय और अवयव दोनों ही बन्ध के कारण हैं। अर्थात् मिथ्यादर्शन आदि समुदित और पृथक्-पृथक् भी बन्ध के हेतु होते हैं, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि वाक्य की परिसमाप्ति अनेक प्रकार से देखी जाती है। उनमें मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये चार बन्ध के कारण हैं। संयतासंयत के अविरति मिश्र प्रमाद, कषाय और योग ये चार बन्ध के कारण हैं। प्रमत्त संयत के प्रमाद, कषाय और योग ये तीन बन्ध के कारण हैं। क्षीणकषाय, उपशान्तकषाय और सयोगी केवली के बन्ध का कारण केवल एक योग है। अयोग केवली के बन्ध के हेतु नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन के पाँच भेद, अविरति के 12 भेद आदि जितने भेद-प्रभेद हैं उन सभी भेदों को बन्ध का कारण समझना चाहिये। अर्थात् सभी बन्ध के हेतु होते हैं, क्योंकि मिथ्यादर्शनादि के सभी भेद एक आत्मा में एक साथ नहीं हो सकते हैं। अर्थात् पन्द्रह योगों में से एक समय में एक योग, पाँच मिथ्यात्वों में एक मिथ्यात्व अविरति में से एक स्थान में 7 अविरति होती हैं, इत्यादि।

कर्म सिद्धान्त को प्रायः प्रत्येक धर्म, दर्शन के द्वारा स्वीकार करने के कारण प्रायः प्रत्येक धार्मिक ग्रन्थ में कार्य का वर्णन यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। हिन्दू धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ गीता में भाव कर्म का वर्णन करते हुए नारायण श्रीकृष्ण ने निम्न प्रकार कहा है -

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्यसंजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ 62 ॥

क्रोधाद्भवति संमोह संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ 63 ॥ (अ.3)

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष का इन विषयों में संग बढ़ जाता है, फिर इस संग से यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये और (इस काम तृप्ति होने में विघ्न होने से) उस काम से ही क्रोध स्मृति क्रम, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से पुरुष का सर्वस्व नाश हो जाता है।

सर्व जीवाण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं ।

सर्वेसु विपएसेसु, सर्व्वं सर्व्वेण बद्धं ॥ 18 ॥ (उत्तराध्ययन सूत्र पृ. 359)

सभी जीवों के लिये संग्रह - बद्ध करने योग्य कर्म पुद्गल छहों दिशाओं में आत्मा से स्पष्ट-अवगाहित सभी आकाश प्रदेशों में हैं। वे सभी कर्म पुद्गल बन्ध के सम्यु-आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ बद्ध होते हैं।

“कर्म बन्ध” के भेद (विशेष)

जीव के यथायोग्य मन, वचन, काय से परिस्पन्दन के निमित्त से विश्व में खचाखच भरी हुई कार्मण वर्गणा से यथायोग्य कर्म वर्गणायें आकर्षित होकर जीव के आत्म प्रदेशमें प्रवेश कर लेती हैं। इसको जैन सिद्धान्त में आस्रव कहते हैं। आस्रव का अर्थ आना, प्रवेश करना है। जैसे - चुम्बक स्वयोग्य चुम्बक क्षेत्र में स्थित योग्य लोह खण्ड को आकर्षित करता है, उसी प्रकार योग्य (परिस्पन्दन) से युक्त जीव कर्म को आकर्षित करता है। चुम्बक से आकर्षित लोह खण्ड जैसे- चुम्बक के साथ चिपक जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व (असत्यअभिप्राय), अविरति भाव, प्रमाद (धर्म कार्य में असावधानी) कषाय, (क्रोध-मान-माया-लोभ-काम-अरति, शोक-भयादि) से अनुरंजित जीव कर्म-वर्गणाओं को स्व-आत्म प्रदेश के साथ संश्लेषित रूप से मिलता है, इसे जैन सिद्धान्त में कर्म-बन्ध कहते हैं।

सामान्य दृष्टि से यह बन्ध एक होते हुए भी विशेष दृष्टि से इनके अनेक भेद प्रभेद हो जाते हैं। द्रव्यबन्ध, भावबन्ध के भेद से दो भेद, कर्मबन्ध, नोकर्म-बन्ध, भावबन्ध के भेद से तीन प्रकार के हैं - (1) प्रकृतिबन्ध, (2) स्थितिबन्ध, (3) अनुभव (अनुभाग) प्रदेशबन्ध के भेद से बन्ध चार प्रकार के हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्म के भेद से बन्ध आठ प्रकार के भी हैं। 148 (एक सौ अड़तालीस) भेद रूप कर्म की अपेक्षा बन्ध 148 प्रकार के भी हैं। परन्तु मुख्यतः प्रकृति आदि प्रकार के बन्ध भेदों का वर्णन यहाँ कर रहे हैं।

महान् तत्त्वज्ञ, दार्शनिक महर्षि उमास्वामी ने ज्ञान-विज्ञान-धर्म एवं दर्शन की अनुपम कृति तत्त्वार्थ सूत्र में 4 प्रकार के बन्धों का वर्णन करते हुए कहा भी है-

प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः ॥3॥ (रा.वा.अ.8)

प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से बन्ध चार प्रकार का है।

प्रकृति बन्ध

प्रकृति स्वभाव इत्यनर्थास्तरम् ॥4॥ (रा.वा.अ.8-पृ.452)

प्रकृति और स्वभाव ये एकार्थवाची शब्द हैं। जैसे - नीम की प्रकृति क्या है? नीम क स्वभाव तिवक्तता है, गुड़ का स्वभाव या प्रकृति मधुर है अर्थात् नीम की प्रकृति कडुआपन है और गुड़ की प्रकृति मधुरता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय की प्रकृति अथवा स्वभाव है अर्थज्ञान नहीं होने देना, अतः प्रकृति और स्वभाव एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार दर्शनावरण की प्रकृति (स्वभाव) है अर्थ का दर्शन नहीं

करने देना, वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन कराना, दर्शन मोहनीय की प्रकृति है तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं होने देना, चारित्र्य मोहनीय की प्रकृति है असंयम परिणाम, आयु का स्वभाव है भव धारणा, नामकर्म की प्रकृति है नारक, तिर्यच आदि नाम व्यवहार कराना, गोत्र का स्वभाव है ऊँच-नीच का व्यवहार कराना तथा अन्तराय कर्म का स्वभाव है दानादि में विघ्न करना। इस प्रकार के कार्य जिससे उत्पन्न होते हैं; जिससे किये जाते हैं, वह प्रकृति बन्ध है और अपादान साधन से निष्पन्न यह प्रकृति शब्द है।

स्थिति बन्ध

तत्त्वभावाप्रच्युतिः स्थितिः ॥ 15॥ (रा.वा.अ.8,पृ.453)

उस स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है अर्थात् उस स्वभाव की अप्रच्युति स्थिति कहलाती है। जैसे-बकरी, गाय, भैंसादि के दूध का अपने माधुर्य स्वभाव से च्युत नहीं होना स्थिति है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय आदि कर्म-प्रकृति का अपने अर्थानवगम आदि (अर्थों का ज्ञान नहीं हो, वेदना आदि) स्वभाव से च्युत न होना स्थिति है।

अनुभाग बन्ध

तद्रसविशेषोऽनुभवः ॥ 6॥ (रा.व.अ.8,पृ.453)

कर्मों के रस विशेष (फलदान शक्ति विशेष) को अनुभाग बन्ध कहते हैं। जैसे - बकरी, गाय और भैंस आदि के दूध में तीव्र मन्द आदि भाव से रस विशेष होता है अर्थात् दूध सामान्य होते हुए भी उसमें स्निग्धता, मधुरता आदि में विशेषता होती है, उसी प्रकार कर्म पुद्गलों की स्वकीय फलदान शक्ति के सामर्थ्य विशेष को अनुभव। अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेश बन्ध

इयत्ताऽवधारणं प्रदेशः ॥ 7॥ (रा.वा.अ.8, पृ.454)

इयत्ता के अवधारण को प्रदेश बन्ध कहते हैं अर्थात् कर्म रूप से परिणत पुद्गल स्कन्धों के परमाणुओं की गणना को प्रदेश बन्ध कहते हैं।

तत्र योग निमित्तौ प्रकृति प्रदेशौ ॥ 9॥ (रा.वा.अ.8,पृ.454)

उन बन्ध के विकल्पों में प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से होते हैं, ऐसा जानना चाहिए।

स्थित्यनुभवौ कषायहेतुकौ ॥ 10॥ (रा.वा.अ.8पृ. 454)

स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय के कारण से होता है, अर्थात् स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कषाय हेतुक हैं ऐसा जानना चाहिए। इन कषायों के तारतम्य से स्थिति, अनुभाग में विचित्रता आती है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है।

(1) कर्मों के स्वभाव (प्रकृति-बन्ध)

जीव के परिस्पन्दन से आकर्षित होकर अनन्तान्तत पुद्गल परमाणुओं के समूह स्वरूप कार्माण वर्गणाएँ आकर जीव के आत्म-प्रदेश में प्रवेश करती हैं इसको जैन दार्शनिक शब्दावली में आस्रव कहते हैं। जीव के उपयोग (रागद्वेष, मोह, अध्यावसाय) को निमित्त प्राप्त करके कर्म वर्गणाएँ जीव के प्रदेशों में संक्लेश रूप से बँध जाती है। इसको जैन दर्शन में कर्म-बन्ध कहते हैं। सामान्य अपेक्षा से कर्म वर्गणाएँ एक होते हुए भी जीव के विभिन्न प्रकार के योग-उपयोग को प्राप्त करके विभिन्न कर्म रूप में परिणमन कर लेती हैं। जैसे - मनुष्य के द्वारा भुक्त भोजन मनुष्य की विभिन्न पाचन क्रियाओं को प्राप्त करके रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, ओज, रूप परिणमन कर लेता है, उसी प्रकार कर्म वर्गणाएँ भी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नामकर्म, गोत्र, अन्तराय आदि रूप में परिणित हो जाती है। जैसे एक प्रकार की भूमि में अंकुरित विभिन्न वृक्ष एक ही प्रकार के जलवायु सूर्य किरणों को प्राप्त करने पर भी विभिन्न वृक्ष में रसादि का परिणमन विभिन्न प्रकार होता है। नीम के वृक्ष को निमित्त पाकर कड़वा, गन्ने को प्राप्त होने पर मीठा, इमली में खट्टा, मिरची में चरपरा, आदि विभिन्न रस रूप परिणमन कर लेते हैं। तत्त्वार्थ राजवर्तिक में भद्रकालक देव स्वामी ने कर्म वर्गणाएँ किस रूप में परिणमन करती हैं उसका व्याख्यान अष्टम अध्याय के चतुर्थ सूत्र में निम्न प्रकार किया है -

ज्ञानावरणस्याविशेषेऽपि प्रत्यास्रवं मत्यादि विशेषो जलवत् (7) यथा अम्भो नभशः पतदेकरसं भाजन विशेषात् विष्वग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञान शक्त्युपरोधस्वभावाऽविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यास्रवं सामर्थ्य भेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते। (पृ. 458)

ज्ञानावरण रूप से अविशेषता होने पर भी जल के समान प्रत्यास्रव में मत्यादि

3. वेदनीय

अक्खाणं अणुभवणं वेयणियं सुहरूवयं सादं ।

दुक्ख सरूवमसादं तं वेदयदीदि वेदणियं ॥ 14 ॥ (गो. कर्मकाण्ड)

इन्द्रियों का अपने-अपने रूपादि विषय का अनुभव करना वेदनीय है । उसमें सुख रूप अनुभव करना साता वेदनीय है । उस सुख-दुःख का अनुभव जो करावे वह वेदनीय कर्म है ।

जो कर्म वेदन किया जाता है उसे वेदनीय कर्म कहते हैं । इस अपेक्षा सभी कर्म वेदनीय किए जाते हैं इसीलिए सभी कर्म वेदनीय होने पर भी विशेष रूप से संसारी जीव सुख-दुःख का अधिक रूप से वेदन करता है इसलिए सुख दुःख को देने वाले कर्म को ही वेदनीय कर्म कहते हैं । दूसरी बात यह है कि वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म के भेद जो रागद्वेष हैं उनके उदय के बल से ही घातिया कर्मों की तरह जीवों का घात करता है । अर्थात् इन्द्रियों के रूपादि विषयों में से किसी में रति (प्रीति) और किसी में अरति (द्वेष) का निमित्त पाकर सुख तथा दुःख स्वरूप साता और असाता का अनुभव करके जीव को अपने ज्ञानादि गुणों में उपयोग नहीं करने देता है, परस्वरूप में लीन करता है ।

4. मोहनीय कर्म

जो जीव को मोहित करें वह मोहनीय कर्म है । इस दृष्टि से मोहनीय कर्म सामान्य से एक होते हुए भी विशेष अवस्था में दो भेद हैं । जो दर्शन गुण को मोहित करके विपरीत करे वह दर्शन मोहनीय है । जो चारित्र गुण को मोहित करके विपरीत करे वह चारित्र मोहनीय है ।

(A) दर्शन मोहनीय

सम्मत्त पडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहिं परिकहिदं ।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिदित्तिणादव्वो ॥ 168 ॥ (समयसार)

It is declared by Jina that mityatya karma is adverse to Right belief; when that begins to operate the self becomes a wrong believer; so let it be known.

आत्मा के सम्यक्त्व गुण को रोकने वाला मिथ्यात्व कर्म है जिसके उदय से यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है ।

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ 17 ॥ (गो. जीव)

उदय में आये मिथ्यात्व का वेदन अर्थात् अनुभवन करने वाला जीव विपरीत दर्शन अर्थात् अतत्त्व श्रद्धा से युक्त होता है । वह न केवल अतत्त्व की ही श्रद्धा करता है, अपितु अनेकान्तात्मक धर्म अर्थात् वस्तु स्वभाव को अथवा मोक्ष के कारण भूत रत्नत्रयात्मक धर्म को भी पसन्द नहीं करता इसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे – पित्त ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति मीठे दूध आदि रस को पसन्द नहीं करता । उसी तरह मिथ्यादृष्टि को धर्म नहीं रुचता ।

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं ण सहहदि ।

सहहदि असम्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ 1 ॥ (गो. जीव)

मिथ्यादृष्टि जीव 'उपदिष्ट' अर्थात् अर्हन्त आदि के द्वारा कहे गये, 'प्रवचन' अर्थात् आप्त आगम और पदार्थ ये तीन, इनका श्रद्धान नहीं करता है । प्रवचन अर्थात् जिसका वचन प्रकृष्ट है ऐसा आप्त, प्रकृष्ट का वचन प्रवचन अर्थात् परमागम, प्रकृष्ट रूप से जो कहा जाता है अर्थात् प्रमाण के द्वारा कहा जाता है, वह प्रवचन अर्थात् पदार्थ । इन निरुक्तियों प्रवचन शब्द से आप्त, आगम और पदार्थ तीनों कहे जाते हैं तथा वह मिथ्यादृष्टि असद्भाव अर्थात् मिथ्यारूप प्रवचन यानी आप्त आगम पदार्थ का 'उपदिष्ट' अर्थात् आप्तभासों के द्वारा कथित अथवा अकथित का भी श्रद्धान करता है ।

(B) चारित्र मोहनीय

चारित्र पडि णिबद्धं कसायं जिणवरेहिं परिकहिदं ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥ 170 ॥ (समयसार)

It is declared by Jina that kashaya (Soul-soiling gross emotions) is adverse to Right conduct; when this begins to operate, the self becomes acharitra (devoid of Right conduct); so let it be known.

चारित्र गुण को रोकने वाला कषाय भाव जिसके उदय से यह जीव चारित्र रहित अर्थात् अचारित्री हो रहा है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया है ।

(5) आयु कर्म

एत्यनेन गच्छति नारकादि भव मित्यायुः । (राज. 8, अ. पृ. 456)

जिस कर्म के उदय से जीव नारकादि पर्यायों को प्राप्त होता है, नारकादि भवों

में वास करता है, उसे आयु कर्म कहते हैं। इसका स्वभाव लोहे की सांकल व काठ के यन्त्र के समान है। जैसे -- सांकल अथवा काठ का यन्त्र पुरुष को अपने स्थान में ही स्थित रखता है दूसरी जगह नहीं जाने देता, ठीक उसी प्रकार आयु कर्म जीव को मनुष्यादि पर्याय में स्थित (मौजूद) रखता है, दूसरी जगह नहीं जाने देता।

(6) नाम कर्म

गदि आदि जीव भेदं देहादी पोग्गलाण भेदं च ।

गदियंतर परिणमनं करेदिणाम् अणेय विहं ॥12॥ (गो. कर्म.)

नाम कर्म गति आदि अनेक तरह का है। वह नारकी वगैरह जीव की पर्यायों के भेदों को और औदारिक शरीर आदि पुद्गल भेदों को तथा जीव के एक गति से दूसरी गतिरूप परिणमन को करता है। अर्थात् चित्रकार की तरह वह अनेक कार्यों को किया जाता है। नाम कर्म के कारण ही विभिन्न प्रकार वैचित्र्य पूर्ण शरीर, शरीर के अवयव, इन्द्रियों, शरीर के आकार-प्रकार आदियों का निर्माण होता है शुभ नाम कर्म से सुन्दर प्रशस्त शरीर आदि की उपलब्धि होती है तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से असुन्दर हीनाङ्ग अधिकाङ्ग कि विकलाङ्ग सहित शरीर की प्राप्ति होती है।

(7) गोत्र कर्म

संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा ।

उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं ॥ 13 ॥

कुल की परिपाटी के क्रम से चला आया जो जीव का आचरण उसकी गोत्र संज्ञा है, अर्थात् उसे गोत्र कहते हैं। उस कुल परम्परा में ऊँचा (उत्तम) आचरण हो तो उसे उच्च गोत्र कहते हैं, यदि निम्न आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहा जाता है। जैसे एक कहावत है कि -- सियाल का एक बच्चा बचपन में सिंहनी ने पाला। वह सिंह के बच्चों के साथ खेला करता था। एक दिन खेलते हुए वे सब बच्चे किसी जगत में गये। वहाँ उन्होंने हाथियों का समूह देखा। देखकर जो सिंहनी के बच्चे थे वे तो हाथी के सामने हुए लेकिन वह सियाल जिसमें कि अपने कुल का डरपोकपने का संस्कार था हाथी को देखकर भागने लगा तब वे सिंह के बच्चे भी अपना बड़ा भाई समझ उसके साथ पीछे लौटकर माता के पास आये, और उस सियाल की शिकायत की कि इसने हमें शिकार से रोका। तब सिंहनी ने उस सियाल के बच्चे

को एक श्लोक कहा, जिसका मतलब यह है कि अब बेटा! तू यहाँ से भाग जा, नहीं तो तेरी जान नहीं बचेगी। "शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।" अर्थात् हे पुत्र! तू शूर-वीर है, विद्यावान है, देखने योग्य (रसवान) है, परन्तु जिस कुल में तू पैदा हुआ है उस कुल में हाथी नहीं मारे जाते।

(8) अन्तराय

वहिर्योगे वा, यस्मिन् मध्येऽवस्थिते दात्रादीनां -दानादिक्रियाऽभावः, दानादीच्छाया वहिर्भावो वा सोऽन्तरायः ।

दाता और पात्र आदि के बीच में विघ्न करावे व जिस कर्म के उदय से दाता और पात्र के मध्य में अन्तर डाले उसे अन्तराय कहते हैं अथवा, जिसके रहने पर दाता आदि-अनादि क्रियाएँ नहीं कर सके, दानादि की इच्छा से पराङ्मुख हो जाय, वह अन्तराय कर्म है। (गोम्मटसार)

'कर्मों की 148 उत्तर प्रकृतियाँ'

अन्याः पञ्च नव द्वे च तथाष्टाविंशतिः क्रमात् ।

चतस्रश्च त्रिसंयुक्ता नवतिर्द्वे च पञ्च च ॥ 23 ॥

ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयु की चार, नाम की तिरानवे, गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच इस प्रकार सब मिलाकर एकसौ अड़तालीस उत्तर प्रकृतियाँ हैं। (तत्त्वार्थसूत्र अ.इ., पृ. 146)

(1) ज्ञानावरण की 5 प्रकृतियाँ

मतिः श्रुतावधी चैव मनःपर्ययके वले ।

एषामावृत्तयो ज्ञानरोधप्रकृतयः स्मृताः ॥ 24 ॥

मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण की प्रकृतियाँ हैं। ये क्रम से आत्मा के मतिज्ञान आदि गुणों को घातती हैं।

(2) दर्शनावरण की 9 प्रकृतियाँ

चतुर्णां चक्षुरादीनां दर्शनानां निरोधतः ।

दर्शनावरणाभिख्यं प्रकृतीनां चतुष्टयम् ॥ 25 ॥

निद्रानिद्रा तथा निद्रा प्रचलाप्रचला तथा ।

प्रचला स्त्यानगृद्धिश्च द्यूरोधस्य नव स्मृताः ॥ 26 ॥

चक्षुर्दर्शन आदि चार दर्शनों को रोकने से चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्रायें सब मिलाकर दर्शनावरण-कर्म की नौ प्रकृतियाँ स्मरण की गई हैं ।

आत्मा के दर्शन गुण को घातने वाला कर्म दर्शनावरण कर्म कहलाता है । दर्शन गुण के चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अर्वाधदर्शन और केवल दर्शन के भेद से चार भेद हैं, इनको आवृत करने वाले चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार भेद दर्शनावरण कर्म के मूल भेद हैं । इनके सिवाय निद्रा आदि पाँच प्रकार की निद्रायें भी सामान्य रूप से दर्शन गुण का घात करती हैं । दोनों मिलाकर दर्शनावरण की नौ प्रकृतियाँ होती हैं । चक्षुर्दर्शनावरण आज के लक्षण नाम से ही स्पष्ट है शेष पाँच निद्राओं के लक्षण इस प्रकार हैं -

निद्रा - मद, खेद तथा थकावट को दूर करने के लिये जो सोया जाता है वह निद्रा है ।

निद्रानिद्रा - निद्रा की गहरी अवस्था को निद्रानिद्रा कहते हैं ।

प्रचला - जिससे बैठे-बैठे आँख मिच जावें उसे प्रचला कहते हैं ।

प्रचलाप्रचला - प्रचाल की जो तीव्ररूपता है उसे प्रचलाप्रचला कहते हैं । इस निद्रा में मुख से लार बहने लगती है तथा अङ्गोपाङ्ग चलने लगते हैं ।

स्त्यानगृद्धि - जिसके उदय से आत्मा सोते समय भयंकर कार्य कर ले परन्तु जागने पर उनका स्मरण न रहे उसे स्त्यानगृद्धि कहते हैं ।

(3) वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ

द्विधा वेद्यसद्वेद्यं असद्वेद्यं च प्रकीर्तितम् ।

असद्वेद्य और सद्वेद्य की अपेक्षा वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ हैं । जिसके उदय से यह जीव देवादि गतियों में प्राप्त सामग्री में सुख का अनुभव करे उसे सद्वेद्य कहते हैं और जिसके उदय से नरकादि गतियों में प्राप्त सामग्री में दुःख का अनुभव करे उसे असद्वेद्य कहते हैं ।

“पाप कर्म प्रकृतियाँ”

नीचैर्गोत्रमसद्वेद्यं श्वभ्रायुर्नाम चाशुभम् ।

द्वयशीतिर्घातिभिः सार्द्धं पापकृतयः स्मृताः ॥ 53 ॥ (तत्त्वार्थसार पं. अ.)

नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, अशुभनाम तथा घातिया कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ सब मिलकर ब्यासी पाप प्रकृतियाँ मानी गई हैं ।

घातियाँ कर्मों की सैंतालीस प्रकृतियाँ (5+9+28+5=47) नीचगोत्र, असातावेदनीय, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि चार जातियाँ, समचतुरस्र को छोड़कर पाँच संस्थान वज्रर्षभनाराचसंहनन को छोड़कर पाँच संहनन, अशुभवर्ण, रस, गंध और स्पर्श के बीस (अभेदाविवक्षा में चार) उपघात, अप्रशस्त विहायोगति और स्थावरादि दश (स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशः कीर्ति) इस प्रकार ये बन्ध की अपेक्षा भेदविवक्षा में अट्ठानवे और अभेदविवक्षा में ब्यासी तथा उदय की अपेक्षा भेदविवक्षा में सौ और अभेदविवक्षा में चौरासी पाप प्रकृतियाँ हैं । वर्णादिक की बीस प्रकृतियाँ पुण्य और पाप दोनों में सम्मिलित होती हैं, क्योंकि एक ही वर्णादि किसी के लिये शुभरूप और किसी के लिए अशुभरूप होते हैं ।

“पुण्यकर्म प्रकृतियाँ”

उच्चैर्गोत्रं शुभायुषि सद्वेद्यं शुभनाम च ।

द्विचत्वारिंशदित्येवं पुण्यप्रकृतयः स्मृताः ॥ 52 ॥ (तत्त्वार्थसार पं. अ.)

उच्चगोत्र शुभायु, सातावेदनीय और शुभनामकर्म इस तरह ब्यालीस पुण्य प्रकृतियाँ मानी गई हैं ।

सातावेदनीय, नरकायु को छोड़कर तीन शुभ आयु, उच्चगोत्र, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, औदारिकादि पाँच शरीर, पाँच संघात, तीन आङ्गोपाङ्ग वर्णादिक चार के बीस, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रर्षभनाराचसंहनन, उपघात को छोड़कर अगुरुलघु आदि छह (अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, आताप, उद्योत) प्रशस्त विहायोगति और त्रस आदि बारह (त्रस, बादर, पर्याप्तक, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशस्कीर्ति, निर्माण तीर्थकर) ये अड़सठ, भेद विवक्षा में और ब्यालीस अभेदविवक्षा में पुण्य प्रकृति कहलाती हैं ।

(4) मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ

त्रयः सम्यक्त्वमिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व भेदतः ।

क्रोधो मानस्तथा माया लोभोऽनन्तानुबन्धिनः ॥ 27 ॥

तथा च एव चाप्रत्याख्यानानावरणसंज्ञिकाः ।

प्रत्याख्यान रुधश्चैव तथा संज्वलनाभिधाः ॥ 28 ॥

हास्यं रत्यरती शोको भयं सह जुगुप्सया ।

नारीपुंषण्ढवेदाश्च मोह प्रकृतयः स्मृताः ॥ 29 ॥ (त.सा.अ.5)

मोहनीय कर्म के मूल में दो प्रकृतियाँ हैं— 1. दर्शन मोहनीय 2. चरित्र मोहनीय । दर्शनमोहनीय के 3 भेद हैं— 1. मिथ्यात्व प्रकृति 2. सम्यक्त्व प्रकृति 3. सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति । चारित्र मोहनीय के भी कषाय वेदनीय और नो कषायवेदनीय की अपेक्षा दो भेद हैं । कषाय वेदनीय के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानानावरण क्रोध मान—माया—लोभ, प्रत्याख्यानानावरण क्रोध—मान—माया—लोभ, संज्वलन क्रोध—मान—माया—लोभ के भेद से सोलह भेद हैं और नो कषाय के हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद की अपेक्षा नौ भेद हैं । सब मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद होते हैं ।

दिगम्बर जैन परम्परा का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ धवला सिद्धान्त में आचार्य वीरसेन स्वामी ने इसका सविस्तार वर्णन निम्न प्रकार किया है ।— वह मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय ॥91 ॥

(छक्खंडागमे वग्गणा खंड-5.5.91, पृ. 357)

जो मोहित करता है वह मोहनीय नामक द्रव्यकर्म है । आप्त, आगम और पदार्थों में जो प्रत्यय, रुचि, श्रद्धा और दर्श होता है उसका नाम दर्शन है । उसको मोहित करने वाला अर्थात् उससे विपरीत भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म दर्शन मोहनीय कहलाता है । राग का न होना चरित्र है । उसे मोहित करने वाला अर्थात् उससे विपरीत भाव को उत्पन्न करने वाला कर्म चारित्र मोहनीय कहलाता है ।

जो दर्शन मोहनीय कर्म है वह बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का है ॥92 ॥

क्योंकि, उसके बन्ध के कारण बहुत नहीं हैं । कारण के भेद से ही कार्य में भेद होता है, अन्यथा नहीं होता । इसीलिए दर्शन—मोहनीय कर्म बन्ध की अपेक्षा एक प्रकार का ही है, यह सिद्ध है ।

किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकार का है—सम्यक्त्व मिथ्यात्व, और सम्यक्त्व मिथ्यात्व ।

शंका — जो मोहनीय कर्म बन्धकाल में एक प्रकार का है वह सत्त्व अवस्था में तीन प्रकार का कैसे हो जाता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है क्योंकि दला जाने वाला एक ही प्रकार का क्रोदों द्रव्य एक काल में एक क्रिया—विशेष के द्वारा चावल, आधे चावल और क्रोदों, इन तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है । उसी प्रकार प्रकृति में भी जानना चाहिए ।

शंका— यहाँ क्रिया युक्त जाते (एक प्रकार की चक्की) के संबंध से उस प्रकार का परिणमन भले ही हो जावे, किन्तु यहाँ वैसा नहीं हो सकता ?

समाधान— नहीं क्योंकि यहाँ पर भी अनिवृत्तिकरण सहित जीव के संबंध से एक प्रकार के मोहनीय का तीन प्रकार परिणमन होने में कोई विरोध नहीं आता । उत्पन्न हुए सम्यक्त्व में शिथिलता का उत्पादक और उसकी अस्थिरता का कारणभूत कर्म सम्यक्त्व कहलाता है ।

शंका — इस कर्म की सम्यक्त्व संज्ञा कैसे है ?

समाधान— सम्यक्त्व का सहचारी होने से ।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप दोनों भावों के संयोग से उत्पन्न हुये भाव का उत्पादक कर्म सम्यग्मिथ्यात्व कहलाता है ।

शंका — सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावों की एक जीव द्रव्य में एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान — नहीं क्योंकि(?) के समान उक्त दोनों भावों के कथंचित् जात्यन्तर भूत संयोग के होने में कोई विरोध नहीं है ।

आप्त, आगम, और पदार्थों में अश्रद्धा को उत्पन्न करने वाला कर्म मिथ्यात्व कहलाता है इस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का है ।

जो चरित्र मोहनीय कर्म है वह दो प्रकार का है —

कषाय वेदनीय और नौ कषाय वेदनीय ॥94॥

जिस कर्म के उदय से जीव कषाय का वेदन करता है वह कषाय वेदनीय कर्म है । जिस कर्म के उदय से जीव नो कषाय का वेदन करता है वह नो कषाय वेदनीय कर्म है । सुख और दुःख रूपी धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूपी क्षेत्र को जो कृषते हैं अर्थात् जोतते हैं वे कषाय हैं । ईषत् कषायों को नो कषाय कहा जाता है ।

शंका — नो कषायों में अल्प रूपता किस कारण से है ?

समाधान— स्थिति बन्ध और अनुभागबन्ध की अपेक्षा उनमें अल्परूपता है ।

सुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशस्कीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च ॥11॥
(तत्त्वार्थवार्तिके अ. आठ)

गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येकशरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्ति, स्थिर, आदेय यशस्कीर्ति और इनसे विपरीत साधारण, स्थावर, दुर्भग, दुश्चर, अशुभ, स्थूल, अपर्याप्ति, अस्थिर, अनादेय, अयशस्कीर्ति तथा तीर्थकरत्व प्रकृति ये ब्यालीस नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

चार गतियाँ, पाँच जातियाँ, पाँच शरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, समचतुरस्रसंस्थान, न्याग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, कुब्जकसंस्थान, वामनसंस्थान और हुण्डकसंस्थान के भेद से छह प्रकार का संस्थान, वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तसृपाटिका के भेद से छह प्रकार का संहनन, कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत और उष्ण के भेद से आठ प्रकार का स्पर्श, मधुर, अम्ल, कटुक, तिक्त और कषाय के भेद से पाँच प्रकार का रस, शुक्ल आदि के भेद से पाँच प्रकार का वर्ण, सुगन्ध दुर्गन्ध के भेद से दो प्रकार का गन्ध, नरकगत्यानुपूर्वी आदि के भेद से चार प्रकार का आनुपूर्वी, उपघात, परघात, अगुरुलघु, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, प्रशस्त-अप्रशस्त-विहायोगति, प्रत्येकशरीर, साधारण शरीर त्रस, पर्याप्तक स्थावर पर्याप्तक, वादर, सूक्ष्म, शुभ, अशुभ, स्थिर, अस्थिर, सुस्वर, दुःस्वर, सुभग, दुर्भग, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति और तीर्थकरत्व ये नामकर्म की तिरानवे प्रकृतियाँ हैं।

गति — जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य या देव अवस्था को प्राप्त होता है उसे गतिमान कर्म कहते हैं इसके नरकगति आदि चार भेद हैं।

जाति — जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन पाँच जातियों में उत्पन्न हो उसे जातिनाम कर्म कहते हैं। इसके एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच भेद हैं।

शरीर— जिस कर्म के उदय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस और कार्मण इन शरीरों की रचना के योग्य परमाणुओं की प्राप्ति हो उसे शरीर नाम कर्म कहते हैं इसके औदारिक शरीर आदि पाँच भेद हैं।

अङ्गोपाङ्ग — जिस कर्म के उदय से अङ्गों तथा उनके अवयवभूत उपाङ्गों की रचना हो उसे अङ्गोपाङ्गनामकर्म कहते हैं। इसके औदारिक शरीराङ्गोपाङ्ग, वैक्रियक शरीराङ्गोपाङ्ग और आहारक शरीर आङ्गोपाङ्ग के भेद से तीन भेद हैं। इनके लक्षण स्पष्ट हैं। निर्माण — जिसके उदय से अङ्गोपाङ्गों की रचना यथास्थान तथा यथाप्रमाण हो उसे निर्माणनामकर्म कहते हैं।

बन्धन — जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त हों उसे बन्धनाम कर्म कहते हैं। इसके औदारिक बन्धन आदि पाँच भेद हैं।

संघात — जिस कर्म के उदय से औदारिक आदि शरीरों के परमाणु परस्पर छिद्र रहित सम्बन्ध को प्राप्त हो उसे संघातनामकर्म कहते हैं। इसके औदारिक संघात आदि पाँच भेद हैं।

संस्थान — जिसके उदय से शरीर की आकृति विशेष की रचना होती है उसे संस्थाननामकर्म कहते हैं इसके समचतुरस्र आदि छः भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं —

समचतुरस्रसंस्थान :- जिसके उदय से शरीर की आकृति सुडौल हो उसे समचतुरस्रसंस्थान कहते हैं।

न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान — जिसके उदय से शरीर की आकृति न्यग्रोधवट वृक्ष के समान हो अर्थात् नाभि से नीचे का भाग छोटा और ऊपर का भाग बड़ा हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान कहते हैं।

स्वातिसंस्थान :- जिसके उदय से शरीर की आकृति स्वाति — साप की बामी के समान हो अर्थात् नाभि के नीचे का भाग बड़ा और ऊपर का भाग छोटा हो उसे स्वातिसंस्थान कहते हैं।

कुब्जकसंस्थान — जिसके उदय से शरीर कुबड़ा हो उसे कुब्जकसंस्थान नामकर्म कहते हैं।

वामन संस्थान— जिस कर्म के उदय से शरीर बौना हो उसे वामन संस्थान कहते हैं।

हुण्डक संस्थान— जिस कर्म के उदय से शरीर की रचना किसी निश्चित आकार की नहीं होती उसे हुण्डक संस्थान नामकर्म कहते हैं।

संहनन— जिस कर्म के उदय से संहनन—हड्डियों की रचना होती है— उसे

संहनननामकर्म कहते हैं। इसके वज्रवृषभनाराच आदि छह भेद हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं —

वज्रवृषभनाराचसंहनन— जिसके उदय से वज्र के हाड़, वज्र के वेष्टन और वज्र की कीलें हों उसे वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं।

वज्रनाराचसंहनन— जिसके उदय से वज्र के हाड़ और वज्र की कीलें हों परन्तु वेष्टन वज्र के नहीं होते उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं।

नाराचसंहनन— जिस कर्म के उदय से वज्ररहित वेष्टन और कीलों से सहित हाड़ हों उसे नाराचसंहनन नामकर्म कहते हैं।

अर्द्धनाराचसंहनन— जिस कर्म के उदय से हाड़ों की संधियाँ आधी कीलित हों उसे अर्द्धनाराचसंहननकर्म कहते हैं।

कीलकसंहनन— जिस कर्म के उदय से हाड़ परस्पर कीलित हों उसे कीलकसंहनन कहते हैं।

असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन— जिस कर्मके उदय से हाड़ नसों में बँधे हों, कीलों से युक्त न हों उसे असंप्राप्तसृपाटिका संहनन कहते हैं।

स्पर्श— जिसके उदय से शरीर में स्पर्श की रचना हो उसे स्पर्शनामकर्म कहते हैं इसके कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण ये आठ भेद हैं।

रस— जिसके उदय से शरीर में रस की रचना हो उसे रसनामकर्म कहते हैं इसके मधुर, अम्ल, कटु तिक्त और कषायला ये पाँच भेद हैं।

वर्ण— जिसके उदय से शरीर में वर्ण की रचना हो उसे वर्णनामकर्म कहते हैं इसके शुक्ल, कृष्ण, नील, लाल और पीला ये पाँच भेद हैं।

गन्ध— जिसके उदय से शरीर में गन्ध की रचना हो उसे गन्धनामकर्म कहते हैं इसके सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दो भेद हैं।

आनुपूर्वी— जिसके उदय से विग्रहगति में जीव के प्रदेशों का आकार पूर्व शरीर के समान रहता है उसे आनुपूर्वीनामकर्म कहते हैं। इसके नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी ये पाँच भेद हैं।

उपघात— जिसके उदय से अपना ही घात करने वाले अङ्गोपाङ्गों की रचना हो उसे उपघातनामकर्म कहते हैं।

परघात— जिसके उदय से दूसरों का घात करने वाले अङ्गोपाङ्गों की रचना हो

उसे परघातनामकर्म कहते हैं।

अगुरुलघु— जिसके उदय से ऐसे अङ्गोपाङ्ग हों जो न भारी हों और न लघु हों उसे अगुरुलघु—नामकर्म कहते हैं।

उच्छ्वास— जिस कर्म के उदय से श्वासोच्छ्वास होता है उसे उच्छ्वासनामकर्म कहते हैं।

आतप— जिस कर्म के उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल तो शीत रहे परन्तु प्रभा उष्ण हो उसे आतपनामकर्म कहते हैं।

उद्योत— जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका मूल और प्रभा दोनों ही शीतल रहें उसे उद्योतनामकर्म कहते हैं।

विहायोगति— जिसके उदय से आकाश में गति हो उसे विहायोगतिनामकर्म कहते हैं, इसके प्रशस्तविहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति ये दो भेद हैं।

प्रत्येक शरीर— जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसका एक जीव ही स्वामी हो उसे प्रत्येकशरीरनामकर्म कहते हैं।

साधारण शरीर— जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जिसके अनेक जीव स्वामी हों उसे साधारणशरीरनामकर्म कहते हैं।

त्रस— जिसके उदय से इस जीव का द्वीन्द्रियादि जीवों में जन्म होता है उसे त्रसनामकर्म कहते हैं।

स्थावर— जिसके उदय से एकेन्द्रिय जीवों में जन्म हो उसे स्थावर नामकर्म कहते हैं।

पर्याप्त— जिस कर्म के उदय से आहार आदि पर्याप्तियों की पूर्णता होती है उसे पर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

अपर्याप्त— जिसके उदय से एक भी पर्याप्ति पूर्ण न हो उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

बादर— जिसके उदय से बादर—दूसरों को रोकने वाला और दूसरों में रुकनेवाला शरीर प्राप्त हो उसे बादरनामकर्म कहते हैं।

सूक्ष्म— जिसके उदय से सूक्ष्म—दूसरों को नहीं रोकने वाला तथा दूसरों से नहीं रुकने वाला शरीर प्राप्त हो उसे सूक्ष्मनामकर्म कहते हैं।

शुभ— जिसके उदय से शरीर के अवयव शुभ हों उसे शुभनामकर्म कहते हैं।

अशुभ — जिसके उदय से शरीर के अवयव अशुभ हों उसे अशुभनामकर्म कहते हैं ।

स्थिर — जिसके उदय से शरीर की धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहें उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं ।

अस्थिर— जिसके उदय से शरीर की धातुएँ और उपधातुएँ अपने-अपने स्थान पर स्थिर न रहें उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं ।

सुस्वर— जिसके उदय से अच्छा स्वर प्राप्त हो उसे सुस्वर नामकर्म कहते हैं ।

दुःस्वर— जिसके उदय से अच्छा स्वर प्राप्त न हो उसे दुःस्वर नामकर्म कहते हैं ।

सुभग— जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो अन्य लोगों को प्रीति उत्पन्न करने वाला हो उसे शुभगनामकर्म कहते हैं ।

दुर्भग — जिसके उदय से ऐसा शरीर प्राप्त हो जो रूपादिगुणों से युक्त होने पर भी दूसरों के लिए प्रीति उत्पन्न करने वाला न हो उसे दुर्भगनामकर्म कहते हैं ।

आदेय — जिसके उदय से शरीर एक विशिष्ट प्रकार की प्रभा से सहित हो उसे आदेयनामकर्म कहते हैं ।

अनादेय — जिसके उदय से शरीर विशिष्ट प्रभा से सहित न हो उसे अनादेय नामकर्म कहते हैं ।

गोत्र कर्म की दो प्रकृतियाँ

गोत्र कर्म द्विधा ज्ञेयमुच्च नीच विभेदतः । (तत्त्वार्थसार अ.5.पृ.154)

अर्थ—उच्च और नीच के भेद से गोत्रकर्म दो प्रकार का जानना चाहिये । जिस के उदय से लोकमान्य एवं मोक्षमार्ग प्रचलन के योग्य कुल में जन्म हो उसे उच्च गोत्र कर्म कहते हैं और जिस के उदय से लोक निन्द्य एवं मोक्ष मार्ग प्रचलन के अयोग्य कुल में जन्म हो उसे नीच गोत्र कर्म कहते हैं ।

अन्तराय कर्म के पाँच भेद

स्याद्दानलाभवीर्याणां परिभोगोपभोगयोः ॥ 40 ॥

अन्तरायस्य वैचित्र्यादन्तरायोऽपि पञ्चधा ।

अर्थ—दान, लाभ, वीर्य, परिभोग और उपभोग सम्बन्धी अन्तराय की विचित्रता से अन्तराय कर्म भी पाँच प्रकार का होता है ।

भावार्थ — जो दान में बाधा डाले उसे दानान्तराय, जो लाभ में बाधा डाले उसे

लाभान्तराय, जो वीर्य में बाधा डाले उसे वीर्यान्तराय, जो परिभोग में बाधा डाले उसे परिभोगान्तराय और जो उपभोग में बाधा डाले उसे उपभोगान्तराय कहते हैं । जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे उपभोग, जो वस्तु बार-बार भोगने में आती है उसे परिभोग कहते हैं । लोक में उपभोग के लिये भोग और परिभोग के लिये उपभोग शब्द प्रचलित हैं । पर तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वामी ने इनके लिये उपभोग और परिभोग शब्दों का प्रयोग किया है तदनुसार इस ग्रंथ में भी उन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

द्वे त्यक्त्वा मोहनीयस्य नाम्नः षड्विंशतिस्तथा ॥ 41 ॥

सर्वेषां कर्मणां शेषा बन्ध प्रकृतयः स्मृताः ।

अबन्धा मिश्र सम्यक्त्वे बन्धसंघातयो दश ॥ 42 ॥

स्पर्शं सप्त तथैका च गन्धेऽष्टौ रसवर्णयोः ।

अर्थ—मोहनीय की दो और नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियों को छोड़कर समस्तकर्मों की शेष प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य मानी गई हैं । मोहनीय की सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा नामकर्म की बन्धन और संघात दश एवं स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण सम्बन्धी सोलह इस तरह छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्ध प्रकृतियाँ कही गई हैं ।

भावार्थ — दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेदों में मात्र मिथ्यात्व का बन्ध होता है । पीछे सम्यग्दर्शन होने पर उसके प्रभाव से उसके तीन खण्ड हो जाते हैं—(1) मिथ्यात्व (2) सम्यग्मिथ्यात्व और (3) सम्यक्त्व प्रकृति । नामकर्म के पाँच बन्धन और पाँच संघात इन दश प्रकृतियों का पाँच शरीरों में ही अन्तर्भूत हो जाना और स्पर्शादिक की बीस प्रकृतियों को बन्ध तथा उदय के प्रकरण में भेदरूप न लेकर अभेदरूप लिया जाता है इसलिए सोलह प्रकृतियाँ इनकी कम हो जाती हैं, इस तरह सब मिलाकर नामकर्म की छब्बीस प्रकृतियाँ अबन्ध रूप हैं । 148 प्रकृतियों में अभेद विवक्षा में सामान्य रूप से 120 प्रकृतियाँ बन्ध के योग्य और 28 प्रकृतियाँ अबन्ध के योग्य मानी गयी हैं । उदय की अपेक्षा 122 प्रकृतियाँ उदय के योग्य और छब्बीस प्रकृतियाँ उदय के अयोग्य मानी गयी हैं ।

सत्त्व का वर्णन आचार्यों ने भेद विवक्षा से ही किया है इसलिए सभी प्रकृतियाँ सत्त्व के योग्य हैं असत्त्व के योग्य कोई भी प्रकृति नहीं है ।

(2) कर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध

वेद्यान्तराययोज्ञानिदृगावरणयोस्तथा ॥ 43 ॥

कोटीकोट्यः स्मृतास्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः ।

मोहस्य सप्ततिस्ताः स्युर्विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥ 44 ॥

आयुषस्तु त्रयस्त्रिंशत्सागराणां परा स्थितिः । (तत्त्वार्थसार पञ्चमाधिकार)

वेदनीय, अन्यराय ज्ञानावरण और दर्शनावरण की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ा-कोड़ी सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर, नाम और गोत्र की बीस कोड़ा-कोड़ी सागर तथा आयु की तैंतीस कोड़ा-कोड़ी सागर उत्कृष्ट स्थिति है।

कर्मों का जघन्य स्थितिबन्ध

मुहूर्ता द्वादश ज्ञेया वेद्येऽष्टौ नामगोत्रयोः ॥ 45 ॥

स्थितिरन्तर्मुहूर्तस्तु जघन्या शेषकर्मसु ।

वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम और गोत्र की आठ मुहूर्त तथा शेष समस्त कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है।

ऊपर मूल प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बताया गया है। परन्तु उत्तर प्रकृतियों के स्थितिबन्ध में विशेषता है जो कि इस प्रकार है— असातावेदनीय एक और ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय की उन्नीस सब मिलकर बीस प्रकृतियों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ा-कोड़ी सागर का है। साता-वेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्यगति और मनुष्यगत्यानुपूर्वी इन चार प्रकृतियों का पन्द्रह कोड़ा-कोड़ी सागर, दर्शनमोहनीय के भेदरूप मिथ्यात्व प्रकृति का सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागर और चरित्रमोहनीय के भेदरूप सोलह कषायों का चालीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध हैं। हुण्डक संस्थान और असंप्राप्तसृपाटिकासंहनन का बीस कोड़ा-कोड़ी सागर, वामनसंस्थान और कीलित संहनन का अठारह कोड़ा-कोड़ी सागर, कुब्जकसंस्थान और अर्धनाराच संहनन का सोलह कोड़ा-कोड़ी सागर, स्वातिसंस्थान और नाराच संहनन का चौदह कोड़ा-कोड़ी सागर, न्योग्रोधपरिमण्डलसंस्थान और ब्रजनाराज संहनन का बारह कोड़ा-कोड़ी सागर तथा समचतुरस्रसंस्थान और वज्रवृषभनाराच संहनन का दश कोड़ा-कोड़ी प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति और सूक्ष्म, अपर्याप्त तथा साधारण इन छह प्रकृतियों का अठारह कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट

स्थितिबन्ध है अरति, शोक, नपुंसकवेद तथा तिर्यञ्च, भय, नरक, तेजस और औदारिक इन पाँचों का जोड़ा, वैक्रियिक और आतप इन दो का जोड़ा, नीच गोत्र तथा त्रस-वर्ण और अगुरुलघु इन तीन की चौकड़ी, एकेन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, स्थावर, निर्माण, अप्रशस्त विहायोगति और अस्थिर आदि छह इन इकतालीस प्रकृतियों का बीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। हास्य, रति, उच्चगोत्र, पुरुषवेद, स्थिर आदिक छह प्रशस्त विहायोगति और देवगति देवगत्यानुपूर्वी इन तेरह प्रकृतियों का दश कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। आहारक शरीर, आहारक शरीराङ्गोपाङ्ग और तीर्थकर प्रकृति इन तीनों का अन्तः कोड़ा-कोड़ी अर्थात् कोड़ी से ऊपर और कोड़ा-कोड़ी से नीचे सागर प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति बन्ध है। देवायु और नरकायु का तैंतीस सागर, मनुष्यायु तथा तिर्यचायु का तीन पत्य प्रमाण उत्कृष्ट स्थितिबन्ध है। किस जीव को कितनी स्थिति का बन्ध होता है आदि विषय गोम्मतसारादि ग्रन्थों से जानना चाहिये।

(3) अनुभवबन्ध का लक्षण

विपाकः प्रागुपात्तानाम यः शुभाशुभकर्मणाम् ॥ 46 ॥

असावनुभवो ज्ञेयो यथानाम भवेच्च सः । (त. पञ्चमाधिकार पृ., 156)

पहले कहे हुए शुभ, अशुभ कर्मों का जो विपाक है उसे अनुभव या अनुभाग जानना चाहिये। जिस कर्म का जैसा नाम है — उसका वैसा ही अनुभव होता है। पूर्वाचार्यों ने कहा भी है —

सू. -विपाकोऽनुभवः ॥ 21 ॥ (तत्त्वार्थवार्तिके, पृ. नं. 505)

उदय में आकर कर्मों के फल देने को अनुभव (अनुभाग) बंध कहते हैं अर्थात् फल देने की शक्ति को अनुभाग कहते हैं।

नाना प्रकार के विशिष्ट पाक का नाम विपाक है। अनुग्रह और उपघात करने वाली ज्ञानावरण आदि कर्म प्रकृतियों के पूर्वाश्रय के कारण तीव्र, मन्द भाव निमित्तक विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव लक्षण निमित्त भेदजनित विशिष्ट पाक को विपाक कहते हैं। यही विपाक अनुभव कहा जाता है। शुभपरिणामों की प्रकर्षता में शुभ प्रकृतियों का उत्कृष्ट और अशुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है तथा अशुभ परिणामों की प्रकर्षता में अशुभ कर्म प्रकृतियों का उत्कृष्ट और शुभ कर्म प्रकृतियों का निकृष्ट अनुभाग बन्ध होता है। वही अनुभाग अर्थात् कर्मों के फल का विपाक कारणवश

दो प्रकार से होता है – स्वमुख से और परमुख से। सर्व मूल कर्म प्रकृतियों का विपाक तो स्वमुख से ही होता है, परन्तु उत्तर कर्म प्रकृतियों में आयु, दर्शनमोह और चरित्रमोह को छोड़कर शेष सजातीय प्रकृतियों का विपाक परमुख से भी होता है और स्वमुख से भी। क्योंकि नरकायु अपने स्वमुख (नरकायुरूप) से ही फल देती है –तिर्यञ्चायु मनुष्यायु व देवायु रूप से नहीं। दर्शन मोहनीय, चारित्र मोहनीय रूप से व चारित्र मोहनीय, दर्शन रूप से फल नहीं दे सकती, अतः दर्शन मोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्म का विपाक स्वमुख से ही होता है।

(4) प्रदेश बन्ध

**नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकश्रेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्म-
प्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशाः ॥24॥ (तत्त्वार्थवार्तिके, अ.8, पृ. 510)**

अपने नाम के अनुसार सभी भवों में योगविशेष से आने वाले, आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों में सूक्ष्म एकश्रेत्रावगाही अनन्तान्त कर्म पुद्गल प्रदेश बन्ध हैं।

सर्वेषु भवेषु सर्वतः ॥ 2॥

सभी भवों में होने वाला सर्वतः कहा जाता है। अन्यतः भी देखा जाता है, इस प्रकार 'तस्' प्रत्यय करने पर सर्व भवों में होने वाला सर्वतः ऐसा बनता है। इस सर्वतः शब्द से काल का ग्रहण किया गया है। एक जीव के अतिक्रान्त अनन्त भव और आगामी-असंख्यात, संख्यात एवं अनन्त भव होते हैं। उन सर्व भवों में कर्मों का आस्रव होता है।

योगविशेषादिति वचनं निमित्तनिर्देशार्थम् ॥ 3॥

योगविशेष वचन निमित्त के निर्देश के लिये है। मन, वचन, काय रूप योग का लक्षण पूर्व में कह दिया गया है। परस्पर विशिष्य होता है, वह विशेष है। योगविशेष-मन, वचन, काय के निमित्त से कर्म रूप पुद्गलों का आगमन होता है, अतः इस योग विशेष से निमित्त का (कर्मों के आने के कारण का) निर्देश किया गया है।

सूक्ष्मग्रहणं ग्रहणयोग्यस्वभाव प्रतिपादनार्थम् ॥ 4॥

सूक्ष्म का ग्रहण कर्म योग्य पुद्गलों के स्वभाव का प्रतिपादन करने के लिये है, अर्थात् कर्म रूप से ग्रहण करने योग्य पुद्गल सूक्ष्म हैं, स्थूल नहीं, इसका प्रतिपादन करने के लिये सूक्ष्म शब्द का प्रयोग किया है।

एकश्रेत्रावगाहवचनं क्षेत्रान्तरनिवृत्त्यर्थम् ॥ 5॥

एक श्रेत्रावगाह वचन श्रेत्रान्तर की निवृत्ति के लिये है। आत्म प्रदेश और कर्म पुद्गल वर्गणाओं का अधिकरण (आकाश क्षेत्र) एक ही है, भिन्न-भिन्न अधिकरण नहीं है। अतः भिन्न अधिकरण की निवृत्ति के लिये 'एकश्रेत्रावगाह' यह पद दिया गया है।

स्थिता इति वचनं क्रियान्तरनिवृत्त्यर्थम् ॥ 6॥

इस सूत्र में स्थित शब्द का प्रयोग क्रियान्तर की निवृत्ति के लिये है स्थित ही कर्म भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नहीं। बस प्रकार क्रियान्तर की निवृत्ति के लिये 'स्थिता' इस शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् स्थिता का तात्पर्य यह है कि स्थित पुद्गल, कर्म भाव को प्राप्त होते हैं, चलते हुए नहीं। सूक्ष्म शब्द के ग्रहण से कर्म के योग्य पुद्गलों के स्वभाव का निर्देश किया गया है। अर्थात् 2 3 प्रकार के पुद्गल वर्गणाओं में जो कर्म योग्य पुद्गल वर्गणा है वही प्रदेश बन्ध में ग्राह्य है।

सर्वात्मप्रदेशेष्विति वचनमेकप्रदेशाद्यपोहार्थम् ॥ 7॥

सर्व आत्म प्रदेशों में ऐसा कहने पर एक प्रदेश आदि का निषेध किया गया है। एक, दो, तीन, चार आदि प्रदेशों में आत्मा के कर्म प्रदेशों की प्रवृत्ति नहीं है। अपितु ऊपर, नीचे, बीच में सब जगह सर्वात्मप्रदेशों में व्याप्त होकर प्रत्येक आत्मप्रदेश में कर्म-पुद्गलस्थिति है, इस बात का ज्ञान कराने के लिए 'सर्वात्मप्रदेशेषु' यह कथन किया है। अर्थात् सर्वात्मप्रदेशों में कर्मवर्गणायें स्थित हैं, एक दो आदि में नहीं।

अनन्तानन्तप्रदेशवचनं प्रमाणान्तरव्यपोहार्थम् ॥ 8॥

**न संख्येयाः न चाऽसंख्येयाः नाप्यनन्ताः इति प्रतिपादनार्थम् -अनन्तानन्त-
प्रदेशा इत्युच्यन्ते । ते खलु पुद्गलस्कन्धा अभव्यानन्तगुणाः
सिद्धानन्तभागप्रमितप्रदेशाः घनाङ्गुलासंख्येयभागश्रेत्रावगाहिनः एकद्वित्रिचतुः
संख्येयासंख्येयसमयस्थितिकाः पञ्चवर्णरसद्विगन्धचतुः स्पर्शभावाः
अष्टविधकर्मप्रकृतियोग्याः योगवशात् आत्मना आत्मसात्क्रियन्त इति
प्रदेशबन्धः समासतो वेदितव्यः ।**

अनन्तानन्त प्रदेश वचन का ग्रहण प्रमाणान्तर के निराकरण के लिये है। ये न तो संख्यात हैं न असंख्यात हैं और न अनन्त हैं अपितु अनन्तानन्त हैं इसका

प्रतिपादन करने के लिये अनन्तान्त शब्द का ग्रहण है। एक समय में आत्मा के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करने वाले ये पुद्गलस्कन्ध अभव्यों से अनन्तगुणे और सिद्धों के अनन्तवें भाग प्रमाण हैं। वे -घनाङ्गुल के असंख्येय भाग रूप श्रेत्रावगाही एक, दो, तीन, चार संख्यात, असंख्यात समय की स्थिति वाली पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श वाली तथा आठ प्रकार के कर्म रूप से परिणमन करने के योग्य पुद्गल वर्णणावें आत्मा के द्वारा योगों के कारण आत्मसात् की जाती हैं, वह प्रदेशबन्ध है। इस प्रकार संक्षेप से प्रदेश बन्ध का वर्णन समझना चाहिये। तत्त्वार्थसार में कहा भी है -

घनाङ्गुलस्यासंख्येयभागक्षेत्रावगाहिनः ॥ 47 ॥ (अ.5)

एकद्वित्र्याहासंख्येय समयस्थितिकांस्तथा ।

उष्णरुक्षहिमस्निग्धान्सर्ववर्णरसान्वितान् ॥ 48 ॥

सर्वकर्मप्रकृत्यर्हान् सर्वेष्वपि भवेषु यत् ।

द्विविधान् पुद्गलस्कन्धान् सूक्ष्मान् योगविशेषतः ॥ 49 ॥

सर्वेष्व्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशकान् ।

आत्मसात्कुरुते जीवः स प्रदेशोऽभिधीयते ॥ 50 ॥

जो घनाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण एक क्षेत्र में स्थित हैं, जिनकी एक, दो, तीन आदि असंख्यात समयों की स्थिति है, जो उष्ण, रुक्ष, शीत और स्निग्ध स्पर्श से सहित हैं, समस्त वर्णों और समस्त रसों से सहित हैं, समस्त कर्म-प्रकृतियों के योग्य हैं, पुण्य और पाप के भेद दो प्रकार के हैं, सूक्ष्म हैं, समस्त भवों में जिनका बन्ध होता है तथा जो समस्त आत्मप्रदेशों में अनन्तानन्त प्रदेशों को लिये हुए हैं ऐसे पुद्गलस्कन्धों को - कर्मवर्णणा के परमाणुसमूह को यह जीव जो अपने अधीन करता है वह प्रदेशबन्ध कहलाता है।

सर्व्वेसिं चैव कम्माणं, पएसग्गमणन्तगं ।

गण्ठिय-सत्ताईयं, अन्तो सिद्धाण आहियं ॥ 96 ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र पृ. 359)

एक समय में ग्राह्य बद्ध होने वाले सभी कर्मों का प्रदेशाग्र-कर्म पुद्गलरूप द्रव्य अनन्त होता है। वह ग्रन्थिग तत्वों से अर्थात् ग्रन्थि भेद न करने वाले अनन्त अभव्य जीवों से अनन्त गुणा अधिक और सिद्धों के अनन्तवें भाग जितना होता है।

4 पुण्य एवं पाप कर्म के फल

द्रव्य दृष्टि से आस्रव, बन्ध एवं कर्म की अपेक्षा पुण्य कर्म एवं पाप कर्म समानता को प्राप्त होते हुए भी पर्याय दृष्टि से संज्ञा, कारण और फल की अपेक्षा दोनों में महान् अन्तर है। जैसे शुद्ध मर्यादित द्राक्षा रस से बना हुआ मद्य द्रव्य दृष्टि से एक होने पर भी पर्याय दृष्टि से संज्ञा, लक्षण, फल आदि की अपेक्षा से दोनों में महान् अन्तर है। द्राक्षा रस सेवन से तृप्ति, आह्लाद के साथ-साथ शरीर, मन एवम् इन्द्रियों को पौष्टिक तत्व मिलता है। परन्तु द्राक्षा रस से बना हुआ मद्य सेवन से जीव में ग्लानि, प्रमाद उत्पन्न होता है और शरीर, मन इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। मद्य पीकर हिताहित विवेक से भी रहित हो जाता है।

गाय के शरीर से दूध एवं रक्त निकलने पर भी दूध एक सात्त्विक, निर्दोष और पौष्टिक शाकाहारी तत्व है। रक्त, तामसिक, सदोष, मांसाहारी तत्व है। सज्जन, साधु, सन्त यहाँ तक कि मुनि अवस्था में तीर्थंकर भी दूध का सेवन करते हैं। दूध के सेवन से शरीर, मन एवं इन्द्रियों को बल मिलता है। दूध सेवनकारी के मन में उत्तम विचार उत्पन्न हो सकते हैं। दूध सेवन को कोई घृणित पापात्मक कार्य नहीं मानते हैं। शुद्ध दूध सेवन से विशेष प्राणी हिंसा भी नहीं होती है। परन्तु उसी गाय से निकला हुआ रक्त सेवन से मन में क्रूर, हिंसात्मक व मलिन भाव उत्पन्न होते हैं। रक्तपान करने वाला कभी भी साधु, महात्मा व सज्जन नहीं हो सकता है। योग्य रीति से, योग्य परिणाम से गाय का दूध निकालने पर उसे कष्ट नहीं होता है। पहले प्राणी को कष्ट देकर रक्त निकाला जाता है। इससे हिंसा होती है। रक्त में किसी भी अवस्था में अनन्तानन्त सूक्ष्म त्रसजीव पाये जाते हैं जैसे गाय का रक्त है तो उसमें गाय-जातीय सूक्ष्म पंचेन्द्रिय जीव पाये जाते हैं। इसलिये रक्तपान से उन जीवों की हिंसा का पाप लगता है। रक्त पीने वाले मनुष्य को नरराक्षस माना जाता है। इसी लिये तात्त्विक दृष्टि से रक्त एवं दूध में विशेष अन्तर न होते हुए भी पर्याय दृष्टि में उसमें महान् अन्तर है।

विष एवं घी द्रव्य दृष्टि से पुद्गल होने के कारण दोनों में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु पर्याय दृष्टि में उसमें कितना महान् अन्तर है, यह आबाल-गोपाल जानते हैं। घृत एक सात्त्विक व पौष्टिक भक्ष्य तत्व है। विषपान से शारीरिक, मानसिक

एवं इन्द्रियजनित बल के क्षय के साथ-साथ आयु कर्म भी क्षीण हो जाता है, जिससे मरण तक हो जाता है। घृतपान से शारीरिक, भौतिक आदि बल वृद्धि के साथ-साथ विष का प्रभाव क्षीण हो जाता है।

प्रकाश एवं अंधकार पुद्गल के ही पर्याय होने पर भी प्रकाश मंगल सूचक तथा वस्तुओं को प्रकाशित करने में समर्थ है परन्तु अंधकार अमंगल सूचक तथा दृष्टि शक्ति अवरोधक है। इसी प्रकार पुण्य और पाप द्रव्य दृष्टि से समान होने पर भी पर्याय दृष्टि से महान् अन्तर है। पुण्य कर्म, शारीरिक, इन्द्रिय जनित, सांसारिक सुख के साथ परम्परा से मोक्ष सुख को देने वाला है। परन्तु पाप कर्म शारीरिक, मानसिक, इन्द्रियजनित दुःख के साथ-साथ संसार की परम्परा की वृद्धि करके सांसारिक दुःख को देने वाला है। कुएँ से पानी निकालने के लिये सातिशय पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्धन चाहिये। कुएँ से पानी निकाने के बाद जैसे रस्सी को खोल देते हैं उसी प्रकार संसार की अन्तिम अवस्था में एवम् मोक्ष के प्रथम समय में पाप के साथ-साथ पुण्यबंधन भी पूर्णरूप से मुक्त हो जाता है। पूज्यपाद स्वामी पुण्य एवं पाप का फल बताते हुए सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं -

पुण्य के फल

पुनात्यात्मानं पूयतेऽनेनेति वा पुण्यम् ।

जो आत्मा को पवित्र करता है या जिससे आत्मा पवित्र होता है वह पुण्य है।

धवल सिद्धान्त शास्त्र में वीरसेन स्वामी ने कहा है -

कानि पुण्य फलानि ? पुण्य के फल कौन-कौन से हैं ?

तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सूर-विज्जाहररिद्धीओ।

तीर्थकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।

कपड़े का स्वभाव गंदगी नहीं है परन्तु धूलि, मिट्टी, पसीना आदि के संयोग से कपड़ा गन्दा हो जाता है। धूलि आदि के सम्पर्क से कपड़े की स्वच्छता में परिवर्तन हो जाता है जिससे कपड़ा गन्दा हो जाता है। उस गंदे कपड़े को स्वच्छ करने के लिए स्वच्छ पानी, सोडा, साबुन, टीनोपॉल, सर्फ आदि की आवश्यकता होती है। सोडा आदि को कपड़े में लगाने पर कपड़े की गंदगी धीरे-धीरे निकलती जाती है। कपड़े में अधिक गंदगी होने पर उसमें अधिक सोडा मिलाकर गर्म पानी में धोते हैं। अधिक गंदगी होने पर एक बार धोने से ही कपड़ा स्वच्छ नहीं हो पाता है।

उस गंदगी को पूर्ण रूप से निकालने के लिए बार-बार सोडा आदि का प्रयोग कर धोना पड़ता है। जिस समय में अधिक गंदगी रहती है उस समय में सोडे आदि के प्रयोग से कम झाग (फेन) निकलता है। गंदगी निकलते-निकलते जब कम से कम होती जाती है तब अधिक से अधिक फेन निकलता है। गंदगी पूर्णरूप से निकलने के बाद कपड़े को शुद्ध पानी में डालकर धोते हैं और निचोड़ कर सुखा देते हैं। सूखने के बाद कपड़ा स्वच्छ हो जाता है। उसी प्रकार निर्मल, पवित्र, निरंजन, भगवान आत्मा, अनादि काल से पाप कर्म रूपी कल्मष (गंदगी) से कलुषित हुई है। उस पापरूपी कलंक को धोने के लिए पुण्य, शुभोपयोग, तप आदि रूप स्वच्छ पानी, सोडा, साबुन, सर्फ टीनोपॉल आदि चाहिए। उपर्युक्त पुण्यादि रूप सोडा आदि से कलुषित आत्मा को धोने पर पाप रूपी गंदगी निकलने के बाद पुण्यादि रूप साधनों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि कपड़े से जैसे गंदगी भिन्न है उसी प्रकार साबुन आदि भी भिन्न हैं। गंदगी के सम्बन्ध से कपड़ा अस्वच्छ हो जाता है और साबुन आदि के प्रयोग से कपड़ा स्वच्छ होता जाता है। कपड़े के साथ गंदगी का सम्बन्ध एवं साबुन आदि का सम्बन्ध एक होते हुए भी गंदगी के संबंध से स्वच्छता गुण नष्ट होता है परन्तु साबुन आदि के संबंध से स्वच्छता गुण निखरता है। उसी प्रकार बंध की अपेक्षा पुण्य और पाप दोनों समान होते हुए भी पाप से आत्मा मलिन होती जाती है किन्तु पुण्य से आत्मा पवित्र होता जाती है। इसीलिए पुण्यबंध, पाप बंध के छेद के साथ-साथ संसार छेद का भी कारण बनता है। सम्पूर्ण स्वच्छता के लिए जैसे कपड़े से साबुन आदि को भी धोकर निकालना पड़ता है एवं पानी को निचोड़कर, सुखाकर निकालना पड़ता है उसी प्रकार पूर्ण रूप से कर्म बन्धन से रहित होने के लिए पाप के साथ-साथ चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में पुण्य से भी मुक्त होना पड़ता है। यदि गंदगी के समान साबुन आदि को पर द्रव्य मानकर साबुन आदि का प्रयोग नहीं करेंगे तब तक गंदगी नहीं निकल सकती है और कपड़ा स्वच्छ नहीं हो सकता है। उसी प्रकार पाप के सदृश्य पुण्य भी पर द्रव्य मानकर पाप करते हुए भी, पापों से आत्मा मलिन होते हुए भी जब तक हम पुण्य नहीं करेंगे तब तक मलिन आत्मा, पतित आत्मा, पवित्र आत्मा या शुद्ध आत्मा नहीं हो सकती है। इसीलिए आचार्य ने कहा है सम्यग्दृष्टि एवं पुण्य आत्मा को पवित्र करता है।

पाप का फल

“पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम् ।” (सवार्थसिद्धिषष्ठोऽध्याय)

जो आत्मा को शुभ से बचाता है वह पाप है ।

शंका — कानि पाप फलानि ?

पाप के फल कौन से हैं ?

समाधान— णिरय—तिरय—कुमाणुस जोणीसु जाइ—जरा—मरण—वाहि—वेयणा—दालिहादीणि ।

नारक, तिर्यच और कुमाणुष की योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्यता आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं । (धवला पु. 1, पृ. 105)

पापकर्म केवल असाता वेदनीय नहीं है जिसके उदय से जीव को संसार सम्बन्धी शारीरिक आदि दुःख मिलता है या जिससे जीव को भौतिक सम्पत्ति की उपलब्धि नहीं होती है । असाता वेदनीय कर्म, ये तो सामान्य अघाति सम्बन्धी—पापकर्म हैं, इस पाप कर्म के उदय से जीव के आत्मभूत अणुजीवी गुण यथा—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य गुण का घात नहीं होता है । परन्तु यथार्थ से महापाप कर्म तो घातिया कर्म की 47 प्रकृतियाँ हैं । इन घाति कर्म के उदय से जीव के आत्मभूत अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य रूपी अणुजीवी गुण का घात होता है, जिससे जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त आध्यात्मिक सुख के भोगी एवं अनन्त सुख को अनुभव करने योग्य अनन्त वीर्यवान् नहीं हो सकता है । इन घातिकर्म रूपी पाप कर्म में दर्शन मोहनीय पापकर्म का चक्रवर्ती है । दर्शन मोहनीय पापकर्म के उदय से जीव अपने स्वरूप से विमुख रहता है । उसको तत्त्व श्रद्धान, आत्म श्रद्धान एवं धर्म के प्रति प्रीति नहीं रहती है । जब तक महापाप कर्म मिथ्यात्व का उदय रहता है, तब तक मोक्षमार्ग का शुभारंभ ही नहीं होता है । इसीलिए समन्तभद्र स्वामी जीवों के परम शत्रु मिथ्यात्व के समान अन्य कोई नहीं है ऐसा बताते हैं —

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्विजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ 34 ॥ र. श्रा.

शरीर धारी प्राणियों को तीन लोक और तीन काल में सम्यक्त्व सरीखा दूसरा कोई भी कल्याण या कल्याण का कारण नहीं और मिथ्यात्व सरीखा कोई दूसरा अहित अथवा उसका घातक नहीं है ।

मोहनीय कर्म के उत्तर भेद स्वरूप चारित्र मोहनीय कर्म भी पाप कर्म है क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्ज्ञान होते हुए भी जीव सम्यक् चारित्र रूप परिणमन करने में असमर्थ होता है । तद्भव मोक्षगामी, तीन ज्ञान के धारी, क्षायिक सम्यग्दृष्टि तीर्थकर भी तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से संसार शरीर भोग से विरक्त होकर आत्मकल्याण करने के लिए भी असमर्थ रहते हैं । वे पिंजड़े में बंद हुए तोते के समान इन्द्रिय जनित भोग के राज्य में बंधे रहते हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म एवं दर्शनावरणीय कर्म रूपी पाप कर्म के उदय से लोकालोक को प्रकाशित करने वाले अनन्तज्ञान एवं अनन्तदर्शन रूपी गुण प्रगट नहीं होते हैं जिससे महान् आत्मसाधक क्षपक श्रेणी आरोहण करने वाले महामुनि भी छद्मस्थ अवस्था को धारण करते हैं ।

अन्तराय कर्म रूपी पापकर्म के उदय से अनन्त क्षायिक दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य जीव में प्रकट नहीं होते हैं ।

नीच गोत्र रूपी पाप कर्म के उदय से जीव नीच गोत्र में उत्पन्न होता है । नीच गोत्र वाला निर्ग्रन्थ मुनि रूप को धारण नहीं कर सकता है । बिना मुनि हुए मोहनीय कर्म (चारित्र मोहनीय कर्म) का क्षय नहीं हो सकता है । बिना चारित्र मोहनीय क्षय हुए वीतराग अवस्था प्रकट नहीं हो सकती है । बिना वीतरागता हुए दर्शनावरण कर्म, ज्ञानावरण कर्म एवं अन्तराय कर्म क्षय नहीं हो सकते हैं, अतः नीच गोत्र भी मोक्ष के लिए बाधक कर्म है ।

नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी रूपी पाप कर्म के उदय से जीव सतत, शारीरिक, मानसिक, क्षेत्रज, रोगज आदि दुःखों को अनुभव करता है । इतना ही नहीं, इन कर्मों के उदय से क्षायिक सम्यग्दृष्टि भावी तीर्थङ्कर तक परस्पर युद्ध, हिंसा, कलह करते रहते हैं । इतना ही नहीं, इन कर्मों के उदय से देशचारित्र और संकल चारित्र को भी जीव धारण नहीं कर सकता है, मोक्ष प्राप्त करने की बात तो बहुत दूर ही है ।

तिर्यचगति, तिर्यचगत्यानुपूर्वी, एकेन्द्रियादि 4 जातियाँ पाप प्रकृतियाँ हैं । इनके उदय से जीव तिर्यच गति में उत्पन्न होता है । एकेन्द्रिय से लेकर चतुरीन्द्रिय तक तिर्यच जीव में कर्णेन्द्रिय एवं मन की भी उपलब्धि नहीं होती है । इसके अभाव से जीव गुरोपदेश—श्रवण एवं मनन तक नहीं कर सकता है, हिताहित विवेक से रहित होता है । इसीलिये वे सम्यग्दर्शन को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं । इसीलिए

वे आत्म स्वरूप से सर्वथा ही पराङ्मुख रहते हैं। मोक्ष प्राप्ति की बात तो बहुत दूर है परन्तु सम्यग्दर्शन भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

प्रथम उत्तम संहनन को छोड़कर शेष पाँच संहनन भी पाप कर्म हैं। उपरोक्त संहनन के उदय से जीव क्षपक श्रेणी आरोहण करने के लिए अयोग्य रहता है, जिससे वे कर्म को क्षय करके सिद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए भी असमर्थ होते हैं।

स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण कर्मरूपी पाप कर्म के उदय से जीव की दशा तो अत्यन्त दयनीय होती है। उपरोक्त कर्म के उदय से जीव अत्यन्त निम्न श्रेणीय, पतितावस्था को प्राप्त करता है। उन कर्मों के उदय से जीव एक श्वास में अठारह बार जन्म लेता है एवं मरता है। सूक्ष्म लब्धि-अपर्याप्तक अवस्था में ज्ञान तो एक अक्षर का अनन्तवाँ भाग प्रमाण रहता है। साधारण (निगोदियां) अवस्था में तो जीव अनन्तकाल तक केवल दुःख ही दुःख भोगता रहता है।

शेष पाँच संस्थान, 20 अशुभ वर्णादि, उपघात अप्रशस्त विहायगति, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति रूपी पापकर्म के उदय से जीव को अनेक प्रकार दुःख मिलता है।

उपरोक्त आगमोक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि पापकर्म, मोक्षमार्ग के लिये हेय है, उपादेय नहीं। इसीलिए गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं कि -

पापाद् दुःख धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।

तस्माद्विहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ 8 ॥

Sin Produces Pain, Happiness follows truth (Dharma) this is well-known to all. Therefore the man who desires happiness should always refrain from sin (and) follow Dharma.

पाप से दुःख होता है, धर्म से सुख मिलता है। इस बात को सभी अच्छी तरह से जानते हैं। इसीलिए सुख चाहने वाले को सदा पाप को त्यागकर धर्म सेवन करना चाहिये।

समन्तभद्रस्वामी ने इसीलिये स्पष्ट रूप से कहा भी है -

यदिपापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।

अथ पापास्त्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥

यदि पाप का निरोध हो चुका है तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है और यदि पाप का आस्रव हो रहा है तो अन्य सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है?

दर्शन मोहनीय रूप पाप निरोध से सम्यग्दर्शन रूपी आध्यात्मिक सम्पदा की उपलब्धि होती है। चारित्र मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय रूपी पापकर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य रूपी अध्यात्म विभूति की उपलब्धि होती है इसीलिए आचार्य श्री ने ठीक ही कहा है कि पाप निरोध होने के बाद अन्य सम्पत्ति की क्या आवश्यकता रहती है? यदि उपरोक्त पापकर्म का उदय है तो भौतिक सम्पत्ति से क्या प्रयोजन है?

पाप कर्म के तीव्र उदय से पहले तो जीव को सम्यग्दर्शन ही प्राप्त नहीं होता है, कथञ्चित्, मन्द उदय से सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्र मोहनीय आदि पाप कर्म के उदय से विशेष शुभ क्रियाओं के करने में भी असमर्थ रहता है। शुद्ध भाव, शुद्ध क्रियायें उसके लिये बहुत ही दूर हैं। इसलिये पाप कर्म एकान्ततः मोक्षमार्ग के लिये हेय एवं त्याज्य हैं।

श्रीतीर्थाधिपचक्रवर्तिहलभृल्लक्ष्मीशामुख्याः परा ।

धर्मादेव जगत्प्रयोत्तमयशः श्वेतीकृताशान्तराः ॥ 1 ॥

जिन्होंने विद्याधर चक्रवर्ती, इन्द्र और राजाओं के समूह को भी कम्पित किया है, जिन्होंने प्रताप युक्त अपने नाम से जगत् को पवित्र किया है तथा जिन्होंने जगत्त्रय में फैले हुए अपने उत्तम यश से दिशाओं के मध्यम भाग को धवलित किया है ऐसे श्री तीर्थकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और लक्ष्मीश (नारायण) आदि पुरुष रत्न धर्म के ही प्रभाव से जगत् में उत्पन्न हुए हैं।

करचरणादौ तुल्ये दृश्यन्ते दुःखदूनमनसोऽन्ये ।

तत्राधर्मः स्फूर्जति सातिशयं निश्चयाज्जगति ॥ 2 ॥

इस जगत् में हाथ, पाँव आदि के समान होने पर भी कुछ लोग मन में दुःख से व्यथित दिखते हैं। यह निश्चय से अधर्म का ही प्रभाव है।

समेऽपि यत्ने पुरुषाः प्रकृष्टे लभन्ते एके हि फल विशालम् ।

परे तु कष्टं परितोऽपि पुष्टं समर्थ्यते सिद्धिरिहायदृष्टम् ॥ 3 ॥

समान रूप से महान् यत्न करने पर भी कितने ही सज्जनों को प्रचुर सुख रूप फल मिलता है, किन्तु दूसरों को सब ओर से कष्ट ही कष्ट प्राप्त होता है। अतः इस शुभाशुभ फल की प्राप्ति में अदृष्ट (दैव) कारण है, ऐसा सज्जन समर्थन करते हैं।

पाथोदाः परिपूरयन्ति परितः पायोभिरेतां धरां ।

कालेयत्पवनो वहत्यपि तथा शीतं च ताप क्वचित् ॥

तत्रापि प्रपत्यवारितरसः संसारिधर्मो ध्रुवं ।

नैव चेदगमिष्यदेकतमतामोभूर्भुव स्वस्वयी ॥ 11 ॥

योग्य वर्षा काल में – वर्षा के समय में – मेघ के पानी से इस पृथ्वी को चारों ओर से परिपूर्ण करते हैं, योग्य काल में वायु कदाचित् शीतपना और कदाचित् उष्णता को धारण करती हुई बहती है। इस प्रकार मेघादिक जो यह कार्य करते हैं उसमें भी निश्चय से अनिवार्य पराक्रम से संयुक्त उस संसारी प्राणियों के धर्म (पुण्य, पाप) का ही प्रताप समझना चाहिये, कारण कि यदि ऐसा न होता तो तीनों लोक समानता को प्राप्त हो जाते सो ऐसा नहीं।

पतितं नरकं प्रायो लोकोऽनिपित्सुरपि ध्रुवं ।

वृजिनभरतो जानानः संस्तदोयगतियथा ।

नृपतिवनिताधीनं धन्य परे भुवनाचितं ।

सुरपतिपुरं पुण्यवासा, प्रयान्त्यपरे तथा ॥ 12 ॥

जिस प्रकार नरक में पड़ने का इच्छुक न होकर भी प्राणी पाप भार के कारण उसकी गति को –नरक वेदना को–जानता हुआ भी नरक में पड़ता है, उसी प्रकार अन्य पुण्यशाली जन राजा व स्त्री की अनुकूलता युक्त लोक पूज्य धन अवस्था को प्राप्त होते हैं तथा पुण्य के आवास –विशाल पुण्य के धारक दूसरे कितने ही इन्द्रपुर (स्वर्ग) को प्राप्त होते हैं।

यथाऽगमध्यक्षसुखे हि धर्मस्तथा परोक्षेऽपि च मोक्ष सौख्ये ।

भोगोपभोगादिसुखाय धर्मो मित्रादियत्नोऽपि निमित्तमात्रम् ॥ 13 ॥

धर्म जैसे प्रत्यक्ष सुख का कारण है, वैसे ही वह परोक्ष स्वरूप मोक्ष सुख का भी है। भोगोपभोगादि सुख के लिये धर्म ही कारण है। इस सुख के लिये मित्रादिकों को यत्न भी निमित्तमात्र है।

ये वाञ्छन्ति ततोऽकलङ्कपदवीं ये त्रैदेशं मानुषं ।

सौख्यं विश्वजनैकविस्मयंकरं कल्याणमलाधरम् ।

धर्मस्तैरुचितो विधातुमनिशं तस्माद्विनैतन्नयत् ।

छायाच्छन्नदिगन्तस्तरुवरो दृष्येन बीजद्विना ॥ 14 ॥

जो भव्य जीव अकलंक पदवी को – ज्ञानावरणादि कर्म कलंक से सर्वहित मोक्ष पद को चाहते हैं, जो देवों सम्बन्धी सुख को चाहते हैं, जो मनुष्य गति के सुख का चाहते हैं तथा जो सम्पूर्ण जन को आश्चर्य उत्पन्न करने वाले व जन्मादि पाँच

कल्याण रूपी माला को धारण करने वाले सुख को –तीर्थकर विभूति को चाहते हैं, उन्हें निरन्तर धर्म का आचरण करना योग्य है। कारण यह है कि धर्म के बिना संसार भय दूर नहीं होगा। ठीक है, अपनी छाया से दिशाओं के मध्य भाग को व्याप्त करने वाला उत्तम वृक्ष कभी बीज के बिना नहीं देखा गया है। तात्पर्य जैसे – बीज के बिना वृक्ष सम्भव नहीं है, वैसे ही धर्म के बिना सुख सम्भव नहीं है।

धर्माज्जन्मकुले कलङ्कविकले कल्प वपुयौवनं ।

सौभाग्य चिरजीवितव्यरुचिरं रामा रतिर्वापुरा ॥

सामर्थ्यं शरणार्थं रक्षण परं स्थानं प्रधान सुखं ।

स्वनिः श्रेयससंभव वरमपि प्राप्यते किं नो नृभिः ॥ 15 ॥

पूर्वाचरित धर्म से निर्दोष कुल में जन्म होता है, शरीर सदा निरोगी तथा तरुण रहता है, दीर्घ आयु से रमणीय, सौभाग्य अर्थात् सर्वजनप्रियता प्राप्त होती है, दूसरी रति के समान सुन्दर स्त्री प्राप्त होती है। शरण में आये हुए लोगों के रक्षण में तत्पर ऐसा सामर्थ्य प्राप्त होता है, उत्कृष्ट स्थान की प्राप्ति होती है तथा स्वर्ग में और मोक्ष में उत्पन्न हुए उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। ठीक है, धर्म के द्वारा मनुष्य क्या नहीं प्राप्त करते हैं? अर्थात् धर्माचरण से जीवों को सभी उत्तम वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

जायन्ते जन्तवो जातौ धर्मात् सिद्धगताविव ।

पापादतीव निन्द्यायामन्ये श्वभ्रगतामिव ॥ 16 ॥

धर्माचरण करने से प्राणी सिद्धगति के समान उच्च जाति में उत्पन्न होते हैं और दूसरे पापीजन पाप से नरक गति के समान अतिशय निन्द्य जाति में उत्पन्न होते हैं। हिन्दू धर्म में शुभ (पुण्य) तथा अशुभ (पाप) कर्म के फल का वर्णन करते हुए महाभारत में निम्न प्रकार कहा है –

भुञ्जानाश्चापि दृश्यन्ते क्रमशो भुवि मानवाः ।

ऋद्धिं हानिं सुखं दुखंतत् सर्वमभयं भयम् ॥

इस पृथ्वी पर मनुष्य क्रमशः दोनों प्रकार के फल भोगते देखे जाते हैं। कभी धन की वृद्धि होती है कभी हानि, कभी सुख मिलता है कभी दुःख, कभी निर्भयता रहती है और कभी भय प्राप्त होता है। इस प्रकार सभी फल क्रमशः भोगने पड़ते हैं।

दुःखान्यनुभवन्त्याह्या दारिद्र्याश्च सुखानि च ।

यौगपद्याद्धि भुञ्जाना दृश्यन्ते लोकसाक्षिकम् ॥

कभी धनाह्य लोग दुःख का अनुभव करते हैं और कभी दरिद्र भी सुख भोगते

हैं। इस प्रकार एक ही साथ लोग शुभ और अशुभ का भोग करते देखे जाते हैं। सारा जगत् इस बात का साक्षी है।

नरके स्वर्ग लोके च न तथा संस्थितिः प्रिये ।

नित्यं दुःखं हि नरके स्वर्गे नित्य सुखं तथा ॥

प्रिये ! किन्तु नरक और स्वर्ग लोक में ऐसी स्थिति नहीं है। नरक में सदा दुःख ही दुःख है और स्वर्ग में सदा सुख ही सुख।

तत्रापि समुहद् भुक्त्वा पूर्वमल्पं पुनः शुभे ।

एतत् ते सर्वमाख्यात् किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥

शुभे ! वहाँ भी शुभ या अशुभ में जो बहुत अधिक होता है उसका भोग पहले और जो बहुत कम होता है, उसका भोग पीछे होता है। ये सब बातें मैंने तुम्हें बता दी, अब और क्या सुनना चाहती हो ?

पुण्य कर्म के फल (विशेष)

कामिनीः कमनीयाङ्गाः कामदेवनिभान् सुतान् ।

स्वजनान्मित्रतुल्यांश्च कुटुम्बं शर्मकारणम् ॥ 35 ॥

पर्वतामान् गजेन्द्रादीन् कविवाक्यातिगं सुखम् ।

महाभोगोपभोगांश्च वपुः कान्तं वचः शुभम् ॥ 36 ॥

मानसं करुणाक्रान्तं रुपलावण्यसंपदः ।

लभन्ते पुण्यपाकेनात्रान्यद्वा दुःकरं जनाः ॥ 37 ॥

पुण्य के फल से जीव सुन्दर शरीर वाली स्त्रियों को, कामदेव के समान, सुपुत्रों को, मित्र तुल्य स्वजनो को, सुन्दर शरीर को, मिष्ट शुभ वचन को, करुणा से व्याप्त मन को और रूप-लावण्य-सम्पदा को तथा अन्य दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करते हैं।

जगत्रयस्थिता लक्ष्मीर्दुर्लभा पुण्यकारिणी ।

वशं याति स्वयं पुण्याद् गृहदासीव धर्मिणाम् ॥ 38 ॥

पुण्य के उदय से तीन लोक में स्थित, पुण्यकारिणी लक्ष्मी गृह-दासी के समान धर्मी पुरुषों के वश में होकर स्वयं प्राप्त होती है।

त्रिजगन्नाथसेव्या च परं सर्वज्ञवैभवम् ।

पुण्योदयेन जायेत सतां मुक्तिनिबन्धनम् ॥ 39 ॥

पुण्य के उदय से सज्जनों को मुक्ति का कारण तथा तीन लोक के स्वामियों से पूज्य उत्कृष्ट सर्वज्ञवैभव प्राप्त होता है।

विश्वामरगणाभ्यर्च्य विश्वभोगैकमन्दिरम् ।

विश्वश्रीभूषितं पुण्याल्लभेतेन्द्रपदं कृती ॥ 40 ॥

पुण्य के उदय से सुकृति पुरुष समस्त देवों से पूज्य, सब भोगों का एक मात्र मंदिर और संसार की श्रेष्ठ लक्ष्मी से भूषित इन्द्रपद प्राप्त होता है।

निधिरत्नादिसंपूर्णाः षट्खण्डप्रभवाः श्रियः ।

पुण्योदयेन जायन्ते पुण्यभाजां सुखाकराः ॥ 41 ॥

पुण्यसेवी पुरुषों के पुण्य के उदय से नौ निधि और चौदह रत्नों से परिपूर्ण, षट् खण्ड भूमि में उत्पन्न और सुख का भण्डार ऐसी चक्रवर्ती की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं।

यत्किंचिद् दुर्लभं लोके दुर्घटं वा जगत्रये ।

सारं सद्वस्तु सर्वं भोस्तत्क्षणं लभ्यते शुभात् ॥ 42 ॥

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ अथवा दुर्घट सार उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब हे भव्यों! शुभ पुण्य से तत्क्षण प्राप्त होती हैं। (सप्तदशोऽधिकार श्री वीरवर्धमानचरिते)

“पुण्यात्मा प्रमोद करता है”

श्रावस्ती में एक धार्मिक उपासक जीवन भर पुण्यकर्मों को करके मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न हुआ। जब भिक्षुओं को यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने भगवान् से पूछा। भगवान् ने कहा भिक्षुओ ! अप्रमत्त प्रव्रजित हो या गृहस्थ, दोनों जगह प्रमोद ही करता है। कहकर इस गाथा को कहा है।

इदमोदति पेच्च मोदति कतपुञ्जो उभयतथ मोदति ।

सो मोदति सो पमोदति दिस्वा कम्मविसुद्धिमत्तनो ॥ 16 ॥

इस लोक में मोद करता है और परलोक में जाकर भी पुण्यात्मा दोनों जगह मोद करता है। वह अपने कर्मों की विशुद्धि को देखकर मोद करता है, प्रमोद करता है।

“पुण्यात्मा आनन्द करता है”

अनाथपिण्डक सेठ की सुमनादेवी नाम की एक कन्या थी, जो सकृदागामिनी होकर बचपन में ही मर गई। अनाथपिण्डक रोता हुआ भगवान् के पास गया और उसकी गति पूछा। भगवान् ने कहा “गृहपति ! सुमना मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न हुई है। जो कोई अप्रमाद के साथ विहरने वाला प्रव्रजित हो या गृहस्थ, दोनों जगह आनन्द करता है।” कहकर इस गाथा को कहा -

इधनन्दतिपेच्च नन्दति कतपुञ्जो उभयतथ नन्दति ।

पञ्जं मेकतन्ति नन्दति भीय्यो नन्दति सुग्गति गतो ॥ 18 ॥

इस लोक में आनन्द करता है और परलोक में जाकर भी, पुण्यात्मा दोनों जगह आनन्द करता है । “मैंने पुण्य किया है ” सोचकर आनन्द करता है । सुगति को प्राप्त हो और भी अधिक आनन्द करता है । (सा. धम्मपद पृ. 10)

“पुण्य करने में शीघ्रता करें”

श्रीवस्ती में चूकेलसातक नाम का एक ब्राह्मण था । उसके पास एक ही ओढ़ने की लिये चादर थी । जिसे स्त्री-पुरुष दोनों ओढ़ते थे । एक रात ब्राह्मण ने जेतवन में भगवान का उपदेश सुनते हुए सोचा - “इस चादर को भगवान को दान कर दूँ ” किन्तु फिर मोह आ गया । तत्पश्चात् पुनः दान करने के लिए चित्त उत्पन्न होकर मोह से कंजूसी के रूप में बदल गया । इसी प्रकार दान और मात्सर्य के चित्तों से संग्राम करते ही प्रथम और मध्यम याम बीत गया । पिछले याम में वह उसे ले जाकर भगवान के पाद-पंकजों पर रखकर “मैंने जीत लिया, मैंने जीत लिया” कहा । कौशल नरेश प्रसेनजित ने इसे सुनकर, ऐसा कहने का कारण पुछवाया । जब राजा को ज्ञात हुआ कि चूकेलसातक ब्राह्मण ने महादुष्कर दान दिया है, तब प्रसन्न होकर एक जोड़ा वस्त्र दिया - वह उसे पाकर भगवान को दान कर दिया । इस प्रकार राजा ने क्रमशः ब्राह्मण को बत्तीस जोड़े वस्त्र दिये । ब्राह्मण ने केवल दो जोड़े वस्त्र स्त्री और अपने लिये लेकर शेष सब भगवान को दान कर दिया ।

दूसरे दिन राजा ने चूकेलसातक ब्राह्मण को चार हाथी, चार घोड़े, चार स्त्रियाँ, चार हजार कार्षापण और चार गाँव दिये । सन्ध्या समय धर्म सभा में इसकी चर्चा चली । भगवान ने आकर चलती हुई बात के विषय में पूछा “भिक्षुओ ! पुण्य कर्म करने वाले को उत्पन्न हुए कुशल चित्त के क्षण ही कर लेना चाहिए ।” ऐसे कुशल कर्म करने के लिये उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा -

अभित्थरेथ कल्याणे पाप चित्तं निवारये ।

दन्धं हि करोतो पुण्यं पापस्मिं रमते मनो ॥ 1 ॥

पुण्य करने में शीघ्रता करे, पाप से चित्त को हटाये । पुण्य कर्म की धीमी गति से करने वाले का मन पाप में लग जाता है । (पृ. 82)

“पुण्य का संचय सुखदायक है”

महाकश्यप स्थिविर पिप्फलि गुफा में रहते हुए सातवें दिन ध्यान से उठकर भिक्षाटन के लिये गये । एक खेत की रखवाली करने वाली कन्या स्थिविर को लावा (लाजा) दान की । स्थिविर जब लावा लेकर आगे बढ़े, तब कन्या को एक विषधर

सर्प ने डँस लिया, जिससे वह वहीं मर गयी । कन्या प्रसन्नचित्त से मर कर स्थिविर को दान देने के पुण्य से तावर्तिस भवन में देव कन्या होकर उत्पन्न हुई । वह वहाँ अपने उत्पन्न होने के कारण का विचार करती हुई महाकश्यप स्थिविर को दान देने के कारण को जान, नित्य प्रातः पिप्फलिगुहा के पास आकर झाड़ू लगाना, पानी लाकर रखना आदि करना शुरू किया, जिससे कि उसकी सम्पत्ति स्थिर हो जाये । तब स्थिविर को इसका पता लगा तब उन्होंने देव कन्या को फिर कभी ऐसा न करने को कहा । देव कन्या स्थिविर का उपस्थान करना चाहती हुई बार-बार आज्ञा माँगी, किन्तु स्थिविर ने निषेध ही किया । तब वह आकाश में खड़ी होकर रोने लगी ।

श्रावस्ती के जेतवन महाविहार में बैठे हुये भगवान ने देव कन्या के रोने के शब्द को सुनकर प्रकाश को फैला उसके सामने बैठकर उपदेश करने के समान- “देवधीते ! मेरे पुत्र कश्यप का रोकना कर्तव्य है किन्तु पुण्य करना चाहने वाले को पुण्य-कर्मों को करना ही चाहिये । पुण्य करना इस लोक और परलोक दोनों जगह में सुखदायक है ।” ऐसा उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा -

पुञ्ज्जे पुरिसो कयिरा कयिराथेनं पुनप्पुनं ।

तम्हि छन्द कयिराथ सुखो पुञ्जस्स उच्चयो ॥ 3 ॥

यदि मनुष्य पुण्य करे, तो उसे बार-बार करे । उसमें रत होवे, क्योंकि पुण्य का संचय सुखदायक होता है । (पृ. 83)

“पुण्य को थोड़ा न समझें”

श्रावस्ती का एक गृहस्थ भगवान् के उपदेश को सुनकर दूसरे दिन भोजन कराने के लिये उन्हें भिक्षु संघ के साथ निमन्त्रित किया । उसके पास चावल, दाल आदि की कमी थी, अतः नगर में घूम-घूम कर घोषणा की- “मैंने कल बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ को दान देने के लिये निमन्त्रित किया है, आप लोग अपने सामर्थ्य के अनुसार हमारी सहायता कीजिये ।” इसे सुनकर नगरवासी सभी उपासकों ने उसे चावल, दाल आदि दिया । उपासक ने उसे अलग बर्तन में रखा । सेठ के मन में हुआ, ‘जान पड़ता है यह कल हमारी बेइज्जती करेगा ।’

दूसरे दिन दान के समय सेठ छुरा लेकर गया कि, यदि वह हमारा नाम लेगा तो उसे वहीं मार डालूँगा, किन्तु दान के अन्त में उस उपासक ने कहा - “भन्ते! जो-जो नगरवासी अपने सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा बहुत दान दिये हैं, उन सबके लिये यह महाफल हो ।” उपासक की बात को सुनकर सेठ को बड़ी प्रसन्नता हुई

कि इसने उसका नाम नहीं लिया, परन्तु सबके लिए एक ही भाँति अनुमोदन किया। उसने उपासक के पैरों पर गिर कर क्षमा मांगी और सब बात स्पष्टतः सुना दिया।

भगवान ने इसे जान उस सेठ को सम्बोधित कर कहा – “उपासक ! पुण्य को थोड़ा समझ कर उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये । बुद्धिमान लोग पुण्य करते हुये बूँद-बूँद करके घड़े को पानी से भर जाने के समान थोड़ा-थोड़ा करके पुण्य से भर देते हैं ।” ऐसा उपदेश देते हुये इस गाथा को कहा –

मावमञ्जैथ पुञ्जस्स न मन्तं अगमिस्सति ।

उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति ॥

धीरो पूरति पुञ्जस्स थोकथोकम्पि आचिनं ॥ 7 ॥

“वह मेरे पास नहीं आयेगा” ऐसा सोचकर पुण्य की अवहेलना न करे । (जैसे) पानी की बूँद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा संचय करके पुण्य को भर लेता है । (पृ.86)

“पुण्य स्वागत करते हैं”

वाराणसी में नन्दिय नामक अत्यन्त श्रद्धालु एक श्रेष्ठी-पुत्र था । उसने भिक्षु संघ को दान देकर, ऋषिपतन मृगदाय में एक विहार बनवाकर, भिक्षु संघ के साथ शास्ता को दान दिया । दान देने के क्षण ही तावतिस-भवन में एक बारह योजन में विस्तृत, सौ योजन ऊँचा, सप्त रत्नमय, स्त्रीगण से समलंकृत दिव्य प्रासाद उत्पन्न हुआ ।

एक दिन महामौदगल्यान स्थिविर ने देवलोक में विचरण करते हुए उस प्रासाद को देखकर देवताओं से पूछा । उसी समय अप्सरायें भी प्रासाद से उतर कर बोलीं – “भन्ते ! हम लोग नन्दिय की सेविका होंगी किन्तु उसके बिना अच्छा नहीं लगता है, उसे शीघ्र आने के लिये कहिये ।”

महामौदगल्यान स्थिविर ने भगवान के पास आकर पूछा क्या भन्ते ! मनुष्य लोक में रहते हुए ही पुण्यात्माओं की सम्पत्ति देवलोक में उत्पन्न होती है । भगवान ने – मौदगल्यायन ! तुम स्वयं देखकर हमसे क्यों पूछ रहे हो ? मौदगल्यायन ! जैसे बहुत दिनों के बाद प्रवास से आये हुए पुत्र या पति को देखकर सभी “पुत्र आया, पति आया” आदि कहकर स्वागत करते हैं, वैसे ही पुण्यात्मा स्त्री या पुरुष से इस लोक को त्यागकर परलोक में जाने पर अगवानी करके देवता अभिनन्दन करते हैं । कहकर इस गाथा को कहा –

चिरप्पवसिं पुरिसं दूरतो सोत्थिमागतं ।

जातिमित्ता सुहज्जा च अभिनन्दन्ति आगतं ॥ 11 ॥

तथेव कतपुञ्जअम्पि अस्मा लोका परं गतं ।

पुञ्जानि पतिगणहन्ति पियं जातीव आगतं ॥ 12 ॥

बहुत दिनों तक विदेश में रहने के बाद यात्रा (टूर) से सकुशल घर लौटे पुरुष का जाति भाई, मित्र और हितैषी स्वागत करते हैं ।

वैसे ही लोक से परलोक गये पुण्यात्मा पुरुष को उसके पुण्य अपने संबंधी के समान स्वागत करते हैं । (धम्मपद पृ. 158)

पापकर्मों के कटुफल

क्रूरा भार्या जगन्निन्धाः शत्रुतुल्याश्च बान्धवाः ।

सुता दुर्व्यसनोपेता स्वजनाः प्राणघातिनः ॥ 15 ॥ (सप्तदश अधिकार)

रोगल्के शदरिद्राद्या वधबन्धादयोऽखिलाः ।

पापोदयेन दुःखाद्या उत्पद्यन्ते च पापिनाम् ॥ 16 ॥

पाप कर्म के उदय से ही क्रूर स्त्री, लोकनिन्द्य और शत्रुतुल्य बान्धव, दुर्व्यसनों से युक्त पुत्र, प्राण-घातक स्वजन, रोग-क्लेश-दरिद्रतादि तथा वध-बन्धनादि और सर्व प्रकार के दुःखादिक पापियों के उत्पन्न होते हैं ।

अन्धा मूका कुरूपाश्च विकलाङ्गाः सुखातिगाः ।

पङ्गवो बधिराः कुब्जकाः दासाः परधामनि ॥ 17 ॥

दीनाश्च दुर्धियो निन्धाः क्रूराः पापपरायणाः ।

पापसूत्रताः पापाद्भवन्ति प्राणिनो भुवि ॥ 18 ॥

पाप कर्म के उदय से ही प्राणी संसार में अन्धे, गूँगे, कुरूप, विकलाङ्गी, सुख रहित, पंगु, बहिरे, कुबड़े, पर घर में दास बनकर काम करने वाले, दीन, दुर्बुद्धि निन्द्य, क्रूर, पाप-परायण और पापवर्धक शास्त्रों में निरत होते हैं ।

समैव नरकाण्येव विश्वदुःखाकराणि च ।

सर्वदुःखखनीस्तिर्यग्योनीः जन्म सुखातिगम् ॥ 19 ॥

मातङ्गादिकुलं निन्द्यं म्लेच्छजाति ह्यधाणनिम् ।

लभन्ते पापिनोऽमुत्र दुःखं वाचामगोचरम् ॥ 20 ॥

समस्त दुःखों के भण्डार जो सात नरक हैं, सर्व दुःखों की खान जो तिर्यग्योनि है, मातंग आदि के जो नीच कुल हैं और पापों की भूमि जो म्लेच्छजाति है पापीजीव

परभव में उनमें उत्पन्न होकर वचन-अगोचर दुःखों को पाते हैं ।

अधोमध्योर्ध्वलोकेषु यत्किंचिद्दुःखमुल्बणम् ।

क्लेशदुर्गतिदुःखादि तत्सर्वं लभ्यते ह्यघात् ॥ 21 ॥

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोक में जितने कुछ भी महान् दुःख हैं, क्लेश, दुर्गति-गमन और शारीरिक, मानसिक आदि दुःख हैं, वे सब पाप से ही प्राप्त होते हैं ।
(श्री वीरवर्धमानचिरते)

“पापी शोक करता है”

श्रावस्ती में चुन्दसूकरिक नाम का एक गृहस्थ जीवन भर सूअरों को मारकर अन्त में सूअर के समान चिल्लाते हुए मर कर अवीचि नरक में उत्पन्न हुआ । जब भिक्षुओं को यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने भगवान से पूछा । भगवान ने कहा- “भिक्षुओ! प्रमत्त प्रव्रजित हो या गृहस्थ, दोनों जगह शोक को ही प्राप्त होता है ।” कहकर इस गाथा को कहा -

इध सोचति पेच्च सोचति पापकारी उभयत्थ सोचति ।

सो सोचति सो विहञ्चति दिस्वा कम्मकिलिडुमत्तनो ॥ 15 ॥

इस लोक में शोक करता है और परलोक में जाकर भी, पापी दोनों जगह शोक करता है । वह अपने मैले कर्मों को देखकर शोक करता है, पीड़ित होता है ।

“पापी सन्ताप करता है”

देवदत्त जीवन भर भगवान के साथ वैर करके, अन्त में जेतवन विहार की पुष्करणी के किनारे पृथ्वी में धँसकर अवीचि नरक में उत्पन्न हुआ । भिक्षुओं ने भगवान से उसकी गति पूछी । भगवान ने- “भिक्षुओ! देवदत्त अवीचि महानरक में उत्पन्न हुआ है । जो कोई प्रमाद के साथ विहरने वाला प्रव्रजित हो या गृहस्थ, दोनों जगह सन्ताप ही करता है।” कहकर इस गाथा को कहा -

इध तप्पति पेच्च तप्पति पापकारी उभयत्थ तप्पति ।

पापं में कतन्ति तप्पति भीरयो तप्पति दुग्गतिङ्गतो ॥ 17 ॥

इस लोक में सन्ताप करता है और परलोक में जाकर भी मैंने पाप किया है सोचकर सन्ताप करता है । दुर्गति को प्राप्त होकर और भी अधिक सन्ताप करता है ।
(धम्मपद, पृ. 10-11)

“पाप का संचय दुःखदायक है”

संख्यक स्थिविर लालुदायि स्थिविर के कहने पर जब बार-बार ‘संधादिसेस’ कर्म को किये, तब भगवान ने उसे जानकर शिक्षापद का प्रज्ञापन कर - “पाप कर्म इस जन्म में भी, दूसरे जन्म में भी दुःखदायक ही होता है ।” ऐसे उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा -

पापञ्चे पुरिसो कयिरा न तं कयिरा पुनप्पुनं ।

न तम्हि छन्दं कयिराथ दुक्खो पापस्स उच्चयो ॥ 2 ॥

मनुष्य यदि पाप कर दे तो उसे बार-बार न करे । उसमें रत न हो, क्योंकि पाप का संचय दुःखदायक है ।

“पाप को थोड़ा न समझे”

जेटवन महाविहार में एक असंयत परिष्कार वाला भिक्षु जिस परिष्कार को जहाँ ले आता था, उसे वहीं छोड़ देता था । भिक्षुओं के समझाने और कहने पर भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं देता था । एक दिन भिक्षुओं ने यह बात भगवान से कही । भगवान ने उस भिक्षु को बुलवाकर सब बातों को पूछा - “भिक्षु ! भिक्षुओं को ऐसा नहीं करना चाहिए । पाप कर्म को थोड़ा नहीं समझना चाहिये।” जैसे खुले मैदान में रखा हुआ बर्तन वर्षा होने पर एक-एक बूँद से भर जाता है, ऐसे ही पाप कर्म करने वाला व्यक्ति थोड़ा-थोड़ा करके बहुत अधिक पाप कर्मों को कर डालता है । कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा -

मानवञ्जेथ पापस्स न मन्तं आगमिस्सति ।

उदविन्दुनिपातेन उदकुम्भोपि पूरति ।

धीरो पूरति पुञ्जस्य थोकथोकम्पि आचिनं ॥ 6 ॥

वह मेरे पास नहीं आयेगा ऐसा सोचकर पाप की अवहेलना न करे । जैसे पानी की बूँद के गिरने से घड़ा भर जाता है, ऐसे ही मूर्ख थोड़ा-थोड़ा संचय करके पाप को भर लेते हैं ।

“पाप करना छोड़ें”

श्रावस्ती में महाधन नाम का एक वणिक् था । वह जब व्यापार के लिए बैलगाड़ियों पर माल लाद कर जाने लगा तब भिक्षुओं से कहा - “जिन आर्य लोगों को अमुक प्रदेश में चलना हो वे मेरे साथ चलें, मैं भोजन आदि का प्रबंध करूँगा ।”

उसकी बात को सुनकर पाँच सौ भिक्षु उसके साथ जाने के लिये तैयार हो गये । जब महाधन वणिग अपनी बैलगाड़ियों के साथ श्रावस्ती से कुछ दूर गया तब आगे और पीछे दोनों ओर चोर अवसर देखते हुए जंगल में छिप गये । इसे जानकर उसने वहाँ से न तो आगे जाने का साहस किया और न पीछे । उसने भिक्षुओं से कहा – “भन्ते ! हमारी राह देखते हुए दोनों ओर चोर बैठे हैं, आगे या पीछे जाना कठिन है, आप लोग कुछ दिन ठहरें पीछे सब पता लगाकर चले जाना ।” भिक्षु अधिक दिन वहाँ ही बैठ सकने के कारण पुनः लौट कर भगवान के पास गये और सारी बात कह सुनायी । भगवान ने कहा – “भिक्षुओ ! महाधन वणिग ने चोरों के कारण मार्ग को छोड़ दिया है । ऐसे ही जीवित रहने की इच्छा वाला व्यक्ति विष को छोड़ देता है । भिक्षु को भी तीनों लोकों को चोरों से घिरे हुए मार्ग के समान जाकर पाप-कर्म को छोड़ देना चाहिए ।” कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा –

वाणिजो व भयं मगं अप्सत्थो महद्धनो ।

विसं जीवितुकामो व पापानि परिवज्जये ॥ 8 ॥

थोड़े सार्थ (काफिला) और महाधन वाला व्यापारी जैसे भययुक्त मार्ग को छोड़ देता है, (या) जैसे जीने की इच्छा वाला पुरुष विष को छोड़ देता है, वैसे ही पुरुष पापों को छोड़ दे ।

“न करने वाले को पाप नहीं”

राजगृह के एक सेठ की कन्या बचपन में ही भगवान के उपदेश सुनकर स्रोतापन्न हो गई थी । पीछे वह तरुणाई में एक कुक्कुटमिति नाम के निषाद पर मोहित होकर चुपके से घर से निकलकर उसके पास चली गई । कुक्कुटमिति प्रतिदिन जाल फैलाकर मृगों को पकड़ता था और उन्हें ही मार कर जीविका चलाता था । इस प्रकार जीवन –यापन करते हुए दोनों के संवास से सात पुत्र पैदा हुए । उनका भी विवाह हुआ और बहूएँ आईं ।

एक दिन भगवान् प्रातः काल महाकरुणा समापत्ति में इस कुल को देखकर जाल फैलाये हुए स्थान पर गये । इस दिन जाल में एक भी मृग नहीं फँसा था । जब कुक्कुटमिति आया, तब भगवान को देखकर समझा कि इन्होंने ही फँसे हुए मृगों को खोल दिया है । उसने भगवान को मारने के लिए तीर धनुष सम्भाला, किन्तु तीर नहीं छोड़ सका । उसके पुत्र भी आकर वैसे ही किये । इसी बीच में वह सेठ

की कन्या बहुओं के साथ आई और चिल्लाकर कही – “अरे ! हमारे पिता को न मारो, हमारे पिता को न मारो !” उसकी बात को सुनकर सब बहुत लज्जित हुए तथा भगवान के पास जाकर क्षमा माँगी । भगवान् ने उन्हें उपदेश दिया । उपदेश के अन्त में सभी स्रोतापन्न हो गये ।

जब भगवान विहार में आये और, भिक्षुओं को यह ज्ञात हुआ कि सेठ की कन्या बचपन से ही स्रोतापन्न थी तब भगवान् से पूछा – “भन्ते ! सदा निषाद को तीर धनुष आदि ठीक करके देने वाली सेठ कन्या कैसे स्रोतापन्न हो सकती है ? क्या स्रोतापन्न भी प्राणातिपात करते हैं ?”

भगवान ने कहा – “भिक्षुओ ! स्रोतापन्न प्राणातिपात नहीं करते हैं, वह सेठ की कन्या केवल अपने पिता की आज्ञा पालन करती थी । यदि हाथ में घाव न हो तो ग्रहण किया हुआ विष जैसे शरीर में व्याप्त नहीं होता है, वैसे ही अकुशल चेतना के अभाव से पाप नहीं करने वाले तीर – धनुष देने से पाप नहीं होता ।” कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा –

पाणमिहे चे वणो नास्स हरेस्स पणिना विसं ।

नाब्बणं विसमन्वेति नत्थि पापं अकुब्बतो ॥ 9 ॥

यदि हाथ में घाव न हो और हाथ से विष ले तो घाव रहित शरीर में विष नहीं लगता है, इसी प्रकार न करने वाले को पाप नहीं लगता । (पृ. 88)

“पाप कर्म से छुटकारा नहीं”

भगवान के जेतवन में विहरते समय बहुत से भिक्षुओं ने भगवान के दर्शनार्थ आते हुए एक गाँव में जले हुए काक को देखा । कुछ भिक्षुओं ने नाव से जाते हुए नाविकों द्वारा फेंकी जाती हुई एक स्त्री को देखा और सात भिक्षु एक गुफा के द्वार पर पत्थर के खिसक आने से सप्ताह भर गुफा में बन्द रहे । उन्होंने एक साथ भगवान के पास आकर ऐसा होने का कारण पूछा । भगवान् ने सबके पूर्वजन्म के किये हुए पाप-कर्म को बतलाया, तब एक भिक्षु ने कहा – भन्ते ! क्या पाप कर्म करके वे आकाश में उड़कर, समुद्र में जाकर और पर्वत की गुफा में प्रवेश करके भी नहीं बच सके ? भगवान् ने कहा – “हाँ, भिक्षुओ ! आकाश आदि कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ रहकर व्यक्ति पाप कर्म से छुटकारा पाये ।” कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा –

न अन्तत्तिक्रवे न समुद्रमज्झे न पब्बतानं विवरं पवस्सि ।

न विज्जती सो जगतिप्पदेसो यत्थाट्ठेतोमुञ्चेय्य पापकम्मा ॥ 12 ॥

न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर संसार में कोई स्थान नहीं, जहाँ रहकर-पाप कर्मों (के फल) से प्राण बच सकें ।

“पापी अपने ही कर्मों से अनुताप करता है”

राजगृह के वेलुवन महाविहार में रहते समय एक दिन महामौद्गल्यायन स्थविर और लक्षण स्थविर एक साथ गृद्धकूट पर्वत से नीचे उतर रहे थे । मार्ग में महामौद्गल्यायन स्थविर ने एक ऐसे अजगर प्रेत को देखा जो पच्चीस योजन का था । उसके सिर से अग्नि की लपट उठकर चारों ओर फैलती थी, चारों ओर से उठकर सिर पर जाती थी और दोनों ओर से उठकर बीच में उतरती थी । उसे देखकर महामौद्गल्यायन स्थविर ने मुस्कराने का कारण पूछा- उन्होंने भगवान के पास चलकर पूछने के लिये कहा - जब दोनों स्थविर राजगृह में भिक्षाटन कर भोजनोपरान्त भगवान के पास गये, तब लक्षण स्थविर ने पूछा । महामौद्गल्यायन स्थविर ने जैसे उसे अजगर प्रेत को देखा था, वैसे सुना दिया । उसे सुनकर भगवान ने कहा “मैंने भी उस प्रेत को बोधिवृक्ष के नीचे देखा था, किन्तु अभी तक किसी से कहा नहीं था । उसने अपने पूर्व जन्म में कश्यप बुद्ध के समय में एक सैठ का घर सात बार जलाया था । बुद्धकुटी को भी भस्म कर दिया था । उस पाप कर्म के कारण बहुत दिनों तक नरक में पककर अब इस दुर्गति को प्राप्त हुआ है । भिक्षुओ! मूर्खजन पाप करते हुए नहीं समझते हैं, किन्तु पीछे दावाग्नि के समान अपने किये हुए पाप कर्म से स्वयं जलते हैं ।” कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा -

अथ पापानि कम्मनि करं बालो न बुज्झति ।

सेहि कम्मेहि दुम्पेधो अग्गिदद्दो व तप्पति ॥ 8 ॥

पाप कर्म करते समय मूर्ख उसे नहीं बूझता है, किन्तु पीछे (वह) दुर्बुद्धि अपने ही कर्मों के कारण आग से जले की भाँति अनुताप करता है । (पृ. 97)

“पापी सुखपूर्वक जीता है ।”

भगवान के जेतवन में विहरते समय एक दिन सारिपुत्र स्थविर के शिष्य थुल्लसारि ने वैद्य-कर्म करके- “नित्य ऐसा ही करके आहार लाऊँगा” कहा । स्थविर उसकी बात सुनकर चुपचाप ही चल दिया । भिक्षु ने विहार में आकर शास्ता

से उसे कहा । शास्ता ने कहा “भिक्षुओ ! निर्लज्ज कौवे के समान होकर इक्कीस प्रकार के मिथ्याजीविका से सुखपूर्वक जीता है, किन्तु लज्जावान् कठिनाई से जीवन-यापन करता है” कहकर इन गाथाओं को कहा -

सुजीवं अहिरिकेन काकसूरेन घंसिना ।

पक्खान्दना रगब्भेन संकिलिट्ठेन जीवितं ॥ 10 ॥

निर्लज्ज कौवे जैसा (स्वार्थ में) शूर दूसरे का अहित करने वाले पतित बकवादी, पापी मनुष्य का जीवन सुखपूर्वक बीतता है ।

हिरिमता च दुज्जीवं निच्चं सुचिगवेसिना ।

अलीनेप्पगब्भन सद्भाजीवेन पस्सवा ॥ 11 ॥

लज्जावान्, नित्य ही पवित्रता का ख्याल रखने वाले, सचेत, मितभाषी, शुद्ध जीविका वाले ज्ञानी का जीवन कठिनाई से बीतता है ।

“पापी अपनी जड़ खोदता है”

श्रावस्ती के पाँच सौ उपासकों में से एक पहले शील का पालन करता था, एक दूसरे का, इसी प्रकार सब पंचशील के एक-एक अंश का ही पालन करते थे । एक दिन उसमें विवाद हुआ । सबने कहा “मैं बहुत कठिन काम कर रहा हूँ” उन्होंने भगवान के पास जाकर प्रणाम कर अपने विवाद को कहा । भगवान ने कहा - उनका पालन करना कठिन ही है कहकर इन गाथाओं को कहा -

यो पाणमत्तिपातेति मुसावादश्चा मासति ।

लोके अदिश्चन्नं आदियति परदारश्च गच्छति ॥ 12 ॥

सुरामेरयपानञ्च यो नरो अनुयुज्यति ।

इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति अत्तना ॥ 13 ॥

जो जीव हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, पर स्त्री गमन करता है, शराब-दारु पीता है, वह संसार में अपनी ही जड़ खोदता है ।

एवं भो पुरिस ! ज्ञान हि पापधम्मा असञ्चता ।

मा तं लोभो अधम्मो च चिरं दुक्खाय रन्धयुं ॥ 15 ॥

हे पुरुष ! संयम रहित पाप कर्म ऐसे ही होते हैं, इसे जानो ! तुम्हें लोभ और अधर्म चिरकाल तक दुःख में ही डाले रहे है ।

“अपने पाप से नरक जाते हैं”

एक दिन गृद्धकूट पर्वत से उतरते हुए महामौद्गल्यायन स्थविर मुस्कराये ।

लक्षण स्थविर ने उनके मुस्कराने का कारण पूछा । उन्होंने पहले आई कथा के समान ही भगवान के पास जाने पर कहा – “आवुस ! मैंने ऐसे पाँच भिक्षुओं को देखा जिनका शरीर आदित था, चीवर कायबन्धन आदि भी जल रहे थे ।” इसे सुनकर भगवान काश्यप ने भगवान के समय उनके किये हुए दुश्चरित्र को कहकर और भी बहुत से दुश्चरित्र कर्म के विपाक को दिखलाते हुए इस गाथा को कहा—

कासावकण्ठा वहवो पापधम्मा असञ्जता ।

पापा पापेहि कम्मेहि निरयन्ते उपपञ्जरे ॥ 2 ॥

कंठ में कषाय वस्त्र डाले कितने ही पापी असंयमी हैं, जो पापी अपने पाप कर्मों से नरक में उत्पन्न होते हैं ।

“पाप न करना श्रेष्ठ है”

श्रावस्ती के एक उपासक ने एक दिन अपनी दासी से मैथुन किया । उपासक की स्त्री ईष्यालु थी । उसने उस दासी के हाथ पैर को बाँधकर नाक और कान को छेद, एक खोठरी में बन्द कर दिया । उसके इस कर्म को कोई न जाने यह सोचकर स्वामी के पास जाकर, उसके साथ धर्मश्रवण के लिये विहार में चली गयी । उसी समय उस उपासक के कुछ पाहुन घर पर आये और किवाड़ को खोलकर उस दासी को निकाला । दासी ने विहार में जाकर परिषद के बीच उस बात को भगवान् को सुना दिया । शास्ता ने उसकी बात सुन “इसे कोई नहीं जानता है – सोच, अल्पमात्र भी दुश्चरित्र नहीं करना चाहिये, और दूसरों के नहीं जानने पर भी सुचरित (पुण्य) को ही करना चाहिये । छिपा कर किया हुआ दुश्चरित्र (पाप) पश्चात्ताप कराता है, किन्तु सुचरित प्रमोद को ही बढ़ाता है” कहकर इस गाथा को कहा –

अकतं दुक्कतं सेय्यो पच्छा तपति दुक्कतं ।

कतञ्च सुकतं सेय्यो यं कत्वा नानुत्प्यति ॥ 9 ॥

दुष्कृत (पाप) का न करना श्रेष्ठ है, दुष्कृत करने वाला पीछे अनुताप करता है । सुकृत का करना श्रेष्ठ है, जिसको करके (मनुष्य) अनुताप नहीं करता ।

“पाप शीघ्र फल नहीं लाता”

एक दिन गृद्धकूट पर्वत से भिक्षाटन के लिए उतरते समय आयुष्मान् महामौद्गल्यायन मुस्कराये । उनको मुस्कराते हुए देखकर लक्षण स्थविर ने मुस्कराने का कारण पूछा । तब उन्होंने भिक्षाटन करके भगवान के पास पूछने को कहा । जब वे लोग राजगृह में भिक्षाटन करके भगवान के पास आये, तब पुनः

लक्षण स्थविर ने पूछा । “मैंने ऐसे एक अहिप्रेत को देखा कि, जिसका सिर मनुष्य के समान था और शेष शरीर अहि के समान था । उसके सिर से उठी हुई ज्वाला पूँछ तक जाती थी और पूँछ से उठी हुई ज्वाला सिर तक ।” इसे सुनकर भगवान ने कहा – मैंने भी उस प्रेत को सम्बोधि प्राप्त करने के दिन ही देखा था, किन्तु किसी से कहा नहीं था, वह अपने पूर्व जन्म में प्रत्येक बुद्ध की कुटी को जलाकर इस गति को प्राप्त हुआ है । भिक्षुओं ! “पाप कर्म करते ही फल नहीं देता है, किन्तु जब फल देता है, तब इस प्रकार के दुःख में डालता है ।” कहकर उपदेश देते हुए इस गाथा को कहा –

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुञ्चति ।

डहन्तं बालमन्वेति भस्माच्छन्नो व पावको ॥ 12 ॥

जैसे ताजा दूध शीघ्र नहीं जम पाता, ऐसे ही किया गया पाप कर्म शीघ्र ही अपना फल नहीं लाता । राख से ढँका आग की भाँति वह जलता हुआ मूर्ख का पीछा करता है ।

(धम्मपद, पृ. 45)

“पाप कर्म का फल नरक”

भिन्दन्तश्च तुदन्तश्च प्रकर्षन्तो यतस्ततः ।

क्रोशन्तः पातयन्त्येतान् मिथो गर्तेष्ववाङ्मुखान् ॥

वे (यमदूत) उन्हें (नारकी को) विदीर्ण किये डालते हैं, भाँति-भाँति की पीड़ाएँ देते हैं, जहाँ तहाँ घसीटकर ले जाते हैं तथा उन्हें कोसते हुए नीचे मुँह करके नरक के गड्ढों में गिरा देते हैं ।

संयामिन्यः शिलाश्चैषां पतन्ति शिरसि प्रिये ।

अधोमुखाः कङ्कवला भक्षयन्ति सुदारुणाः ॥

प्रिये ! फिर उनके सिर पर ऊपर से संयमानिमी शिलाएँ गिरायी जाती हैं तथा लोहे की-सी चोंचवाले अत्यन्त भयंकर कौए और बगले उन्हें नोच खाते हैं ।

असिपत्रवने घोरे चारयन्ति तथा परान् ।

तीक्ष्णदंष्ट्रास्तथाश्वानः कश्चित् तत्र ह्यदन्ति तै ॥

दूसरे पापियों को यमदूत घोर असिपत्रवन में घुमाते हैं । वहाँ तीखी दाढ़ों वाले कुत्ते कुछ पापियों को काट खाते हैं ।

तत्र वैतरणी नाम नदी ग्राहसमाकुला ।

दुष्प्रवेशा च घोरा च मूत्रशोणित वाहिनी ॥

रहते हैं ।

एवं प्रमाणमुद्विग्ना यावत् तिष्ठन्ति तत्र ते ।
यातनाभ्यो दशगुणं नरके दुःखमिष्यते ॥

ऐसे विशाल नरक में वे जब तक रहते हैं, उद्विग्न भाव से खड़े रहते हैं । साधारण यातनाओं की अपेक्षा नरक में दस गुना दुःख होता है ।

तत्र चात्यन्तिकं दुःखमिष्यते च शुभेक्षणे ।
क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनास्तत्र भुञ्जते ॥

शुभेक्षणे ! वहाँ आत्यन्तिक दुःख की प्राप्ति होती है । पापी जीव चीखते-चिल्लाते और रोते हुए वहाँ की यातनाएँ भोगते हैं ।

भ्रमन्ति दुःखमोक्षार्थं ज्ञाता कश्चिन्न विद्यते ।
दुःखस्यान्तरमात्रं तु ज्ञानं वा न च लभ्यते ॥

वे दुःखों से छुटकारा पाने के लिये चारों ओर चक्कर काटते हैं परन्तु कोई भी उन्हें जानने वाला वहाँ नहीं होता । उस दुःख में तनिक भी अन्तर नहीं होता और न उसे छुड़ाने वाला ज्ञान ही उपलब्ध होता है ।

महारौरवस्नन्नं तु द्वितीय नरकं प्रिये ।
तस्माद् द्विगुणितं विद्धि माने दुःखे च रौरवात् ॥

प्रिये ! दूसरे नरक का नाम है महारौरव । वह लम्बाई, चौड़ाई में रौरव से दूना बड़ा है ।

तृतीयं नरकं तत्र कण्टकावनसंज्ञितम् ।
ततो द्विगुणितं तश्च पूर्वाभ्यां दुःखमानयोः ॥

महापातकसंयुक्ता घोरास्तस्मिन् विशन्ति हि ॥
वहाँ तीसरा नरक है कण्टकावन, जो दुःख और लम्बाई, चौड़ाई में पहले के दोनों नरकों से दुगुना बड़ा है । उसमें घोर महापातक युक्त प्राणी प्रवेश करते हैं ।

अग्निकुण्डमिति ख्यातं चतुर्थं नरकं प्रिये ।
एतद् द्विगुणितं तस्माद् यथानिष्टसुखं तथा ॥

ततो दुःखं हि सुमहदमानुषमिति स्मृतम् ।
भुञ्जते तत्र तथैव दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

प्रिये ! चौथा नरक अग्निकुण्ड के नाम से विख्यात है । यह पहले की अपेक्षा दूना दुःख देने वाला है । वहाँ महान् अमानुषिक दुःख भोगने पड़ते हैं । उन सभी

में पापाचारी प्राणी दुःख भोगते हैं ।

पञ्चकष्टमिति ख्यातं नरकं पञ्चमं प्रिये ।
तत्र दुःखमनिर्देश्यं महाघोरे यथातथम् ॥

प्रिये ! पाँचवें नरक का नाम पञ्चकष्ट है । वहाँ जो महाघोर दुःख प्राप्त होता है, उसका यथावत् वर्णन नहीं किया जा सकता ।

पञ्चेन्द्रियैरसह्यत्वात् पञ्चकष्टमिति स्मृतम् ।
भुञ्जते तत्र तत्रैव दुःखं दुष्कृतकारिणः ॥

पाँचों इन्द्रियों से असह्य होने के कारण उसका नाम 'पञ्चकष्ट' है । पापी पुरुष उन-उन नरकों में महान् दुःख भोगते हैं ।

अमानुषहर्षजं दुःखं महाभूतैश्च भुञ्जते ।
अतिघोरं चिरं कृत्वा महाभूतानि यान्ति तम् ॥

वहाँ बड़े-बड़े जीव चिरकाल तक अत्यन्त घोर अमानुषिक दुःख भोगते हैं और महान् भूतों के समुदाय उस पापी पुरुष का अनुसरण करते हैं ।

पञ्चकष्टेन हि समं नास्ति दुःखं तथा परम् ।
दुःखस्थानमिति प्राहुः पञ्चकष्टमिति प्रिये ॥

प्रिये ! पञ्चकष्ट के समान या उससे बढ़कर दुःख कोई नहीं है । पञ्चकष्ट को समस्त दुःखों का निवास स्थान बताया गया है ।

एवं त्वेतेषु तिष्ठन्ति प्राणिनो दुःखभागिनः ।
अन्ये च नरकाः सन्त्यवीचिप्रमुखा प्रिये ॥

इस प्रकार इन नरकों में दुःख भोगने वाले प्राणी निवासी जीव रोते-चिल्लाते रहते हैं । कोई चारों ओर चक्कर काटते हैं, कोई पृथ्वी पर पड़े-पड़े छटपटाते हैं और कोई आतुर होकर दौड़ते रहते हैं ।

क्रोशन्तश्च रुदन्तश्च वेदनात् भृशातुराः ।
केचिद् भ्रमन्तश्चेष्टन्ते केचिद् धावन्ति चातुराः ॥

वेदना से पीड़ित हो अत्यन्त आतुर हुए नरक निवासी जीव रोते-चिल्लाते रहते हैं । कोई चारों ओर चक्कर काटते हैं, कोई पृथ्वी पर पड़े-पड़े छटपटाते हैं और कोई आतुर होकर दौड़ते रहते हैं ।

आधावन्तो निवार्यन्ते शूलहस्तैर्यतस्ततः ।
रुजार्दितास्तृषायुक्ताः प्राणिनः पापकारिणः ॥

कोई दौड़ते हुए प्राणी हाथ में त्रिशूल लिए हुए यमदूतों द्वारा जहाँ-जहाँ रोके जाते हैं। वहाँ पापाचारी जीव रोगों से व्यथित और प्यास से पीड़ित रहते हैं।

यावत् पूर्वकृतं तावन्न मुच्यन्ते कथंचन।

कृमिभिर्भक्ष्यमाणाश्च वेदनातास्तृषान्विताः ॥

जब तक पूर्वकृत पाप का भाग शेष है, तब तक किसी तरह उन्हें नरकों से छुटकारा नहीं मिलता है। उनको कीड़े काटते हैं तथा वे वेदना से पीड़ित और प्यास से व्याकुल होते हैं।

संस्मरन्तः स्वकं पापं कृतमात्मापराधजम् ।

शोचन्तस्तत्र तिष्ठन्ति यावत् पापक्षयं प्रिये ॥

एवं भुक्त्वा तु नरकं मुच्यन्ते पापसंक्षयात् ॥

प्रिये ! जब तक सारे पापों का क्षय नहीं हो जाता तब तक वे अपने ही किए हुए अपराधजनित पाप को याद करके वहाँ शोकमग्न होते रहते हैं। इस प्रकार नरक में कष्ट भोगकर पापों का नाश करने के पश्चात् वे उस कष्ट से मुक्त हो जाते हैं।

“नारकीयों की आयु”

शतवर्षसहस्राणामादिं कृत्वा हि जन्तवः ।

तिष्ठन्ति नरकावासाः प्रलयान्तमिति स्थितिः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - प्राणी अपने पापों के अनुसार एक लाख वर्षों से लेकर महाप्रलय काल तक नरकों में निवास करता है, ऐसा शास्त्रों का निश्चय है।

भगवंतेषु के तत्र तिष्ठन्तीति वद प्रभो ।

उमा ने पूछा - भगवान् ! प्रभो ! उन नरकों में किस तरह के पापी निवास करते हैं ? यह मुझे बताइये।

रौरवे शतसहस्रं वर्षाणामिति संस्थितिः ।

मानुषघ्नाः कृतघ्नाश्च तथैवानृतवादिनः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - रौरव नरक में एक लाख वर्षों तक रहने का नियम है। उसमें मनुष्यों की हत्या करने वाले, कृतघ्न तथा असत्यवादी मनुष्य जाते हैं।

द्वितीयं द्विगुणं कालं पच्यन्ते तादृशा नराः ।

महापातकयुक्तास्तु तृतीये दुःखमाप्नुयुः ॥

दूसरे नरक (महारौरव) में वैसे ही पापी मनुष्य दूने काल (दो लाख वर्ष) तक

पकाये जाते हैं। तीसरे (कण्टकावन) में महापातकी मनुष्य कष्ट भोगते हैं।

चतुर्थे परितप्यन्ते यावद् युगविपर्ययः ।

चौथे नरक में पापी लोग तब तक संतप्त रहते हैं, जब तक कि महाप्रलय नहीं हो जाता।

सहन्तस्तादृशं घोरं पञ्चकष्टे तु यादृशम् ।

तत्रास्य चिरदुःखस्य ह्यघोऽन्यान् विद्धि मानुषान् ॥

पञ्चकष्ट नरक में जैसा घोर दुःख होता है, उसको भी वहाँ सहन करते हैं। दीर्घकाल तक दुःख देने वाले इस घोर नरक के नीचे मानव सम्बन्धी अन्य नरकों की स्थिति समझो।

एवं ते नरकान् भुक्त्वा तत्रक्षपितकल्मषाः ।

नरकेभ्यो विमुक्ताश्च जायन्ते कृमिजातिषु ॥

इस प्रकार नरकों के कष्ट भोग लेने के बाद पाप कट जाने पर मनुष्य उन नरकों से छूटकर कीट-योनि में जन्म लेते हैं।

उद्भेदजेषु वा केचिदत्रापि क्षीणकल्मषाः ।

पुनरेव प्रजायन्ते मृगपक्षिषु शोभने ॥

मृगपक्षिषु तद् भुक्त्वा लभन्ते मानुषं पदम् ॥

शोभने ! अथवा कोई-कोई उद्भिज्ज योनि में जन्म लेते हैं। उसमें भी कुछ पापों का क्षय होने के बाद वे पुनः पशु पक्षियों की योनि में जन्म पाते हैं। वहाँ कर्मफल भोग लेने पर उन्हें मनुष्य शरीर की प्राप्ति होती है। (महाभारत अनुशासन पर्व)

महापुरुष के पंचलक्षण

पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगे परिजनैः सह ।

शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा पुरुषः पञ्चलक्षणम् ॥

जो योग्य पात्र में त्याग करने वाला हो, गुण में राग करने वाला हो, भोग में परिजनों के साथ रहता हो, शास्त्र में ज्ञाता हो और युद्ध में योद्धा हो वही पञ्च लक्षणों - पाँच गुणों का धारण करने वाला पुरुष है।

5 विविध कर्मों के वैचित्र्यपूर्ण फल

मनःपूर्वागमा धर्मा अधर्माश्च न संशयः ।

मनसा बद्ध्यते चापिमुच्यते चापि मानवः ।

निगृहीते भवेत् स्वर्गो विसृष्टे नरको ध्रुवः ॥

(पृ. 5955 महाभारत)

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म और अधर्म पहले मन में ही आते हैं । मन से ही मनुष्य बंधता है और मन से ही मुक्त होता है । यदि मन को वश में कर लिया जाये तब तो स्वर्ग मिलता है और यदि उसे खुला छोड़ दिया जाय तो नरक की प्राप्ति अवश्यम्भावी है ।

जीवाः पुराकृतेनैव तिर्यग्योनिसरीसृपाः ।

नानायोनिषु जायन्ते स्वकर्मपरिवेष्टिताः ॥

जीव अपने पूर्वकृत कर्म के ही फल से पशु-पक्षी एवं कीट आदि होते हैं । अपने-अपने कर्मों से बँधे हुए प्राणी ही भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेते हैं ।

जायमानस्य जीवस्य मृत्युः पूर्वं प्रजायते ।

सुखं वा यदि वा दुःखं यथापूर्वं कृतं तु वा ॥

जो जीव जन्म लेता है, उसकी मृत्यु पहले ही पैदा हो जाती है । मनुष्य ने पूर्व जन्म में जैसा कर्म किया है, तदनुसार ही उसे सुख या दुःख प्राप्त होता है ।

अप्रमत्तः प्रमत्तेषु विधिर्जागतिं जन्तुषु ।

न हि तस्य प्रियः कश्चिन्नद्वेष्यो न च मध्यमः ॥

प्राणी प्रमाद में पड़कर भले ही सो जायें, परन्तु उनका प्रारब्ध या दैव प्रमाद शून्य-सावधान होकर सदा जागता रहता है । उसका न कोई प्रिय है, न द्वेष-पात्र है और न कोई मध्यस्थ ही है ।

समः सर्वेषु भूतेषु कालः कालं निरीक्षते ।

गतायुषोऽप्यक्षिपते जीवः सर्वस्य देहिनः ॥

काल समस्त प्राणियों के प्रति समान है । वह अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है । जिनकी आयु समाप्त हो गई है, उन्हीं प्राणियों का वह संहार करता है । वहीं समस्त देहधारियों का जीवन है ।

“मनुष्यों में विषमता का कारण ”

सुरासुरपते देव वरद् प्रीतिवर्धन ।

मानुषेष्वेव ये कचिदाढ्याः क्लेशविवर्जिताः ॥

भुञ्जाना विविधान् भोगान् दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।

अपरे क्लेशसंयुक्ता दरिद्रा भोगवर्जिताः ॥

किमर्थं मानुषे लोके न समत्वेन कल्पिताः ।

एतच्छ्रोतुं महादेव कौतूहलमतीव मे ॥

उमा ने पूछा- सुरासुरपते ! सबकी प्रीति बढ़ाने वाले वरदायक देव ! मनुष्यों में ही कितने ही लोग क्लेश शून्य, उपद्रव रहित एवं धन-धान्य से सम्पन्न होकर भाँति-भाँति के भोग भोगते देखे जाते हैं और दूसरे बहुत से मनुष्य-क्लेश युक्त, दरिद्र एवं भोगों से वञ्चित पाये जाते हैं । महादेव ! मनुष्य लोक में सब लोग समान क्यों नहीं बनाये गये (वहाँ इतनी विषमता क्यों है) ? यह सुनने के लिये मेरे मन में बड़ा कौतूहल हो रहा है ।

यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते ।

स्वकृतस्य फलं भुङ्क्ते नान्यस्तद् भोक्तुमर्हति ॥

श्री महेश्वर कहते हैं - देवी ! जीव जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है । वह अपने किये हुये का फल स्वयं ही भोगता है, दूसरा कोई उसे भोगने का अधिकारी नहीं है ।

अपरे धर्मकामेभ्यो निवृत्ताश्च शुभेक्षणे ।

कदर्या निरनुक्रोशाः प्रायेणात्मपरायणाः ॥

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।

दरिद्राः क्लेशभूयिष्ठा भवन्त्येव न संशयः ॥

शुभेक्षणे ! जो लोग धर्म काम से निवृत्त हो, लोभी, निर्दयी और प्रायः अपने ही शरीर के पोषक हो जाते हैं, शोभने ! ऐसे लोग मृत्यु के पश्चात् जब पुनः जन्म लेते हैं, तब दरिद्र और अधिक क्लेश के भागी होते हैं । इसमें संशय नहीं है ।

“धन की रखवाली के कर्म ”

मानुषेष्वथ ये केचिद् धनधान्यसमन्विताः ।

भोगहीनाः प्रदृश्यन्ते सर्वभोगेषु सत्स्वपि ।

न भुञ्जते किमर्थं ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा – भगवन् ! मनुष्यों में जो लोग धन-धान्य से सम्पन्न हैं उनमें से भी कितने ही ऐसे हैं, जो सम्पूर्ण भोगों के होने पर भी भोगहीन देखे जाते हैं । वे उन भोगों को क्यों नहीं भोगते ? यह मुझे बताने की कृपा करें ?

परैः संचोदिता धर्म कुर्वन्ते न स्वकामतः ।

धर्मश्रद्धां बहिष्कृत्य कुर्वन्ति च रुदन्ति च ।

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।

फलानि तानि सम्प्राप्य भुञ्जते न कदाचन ॥

रक्षन्तो वर्धयन्तश्च आसते निधिपालवत् ॥

श्री महेश्वर ने कहा – देवि ! जो दूसरों से प्रेरित होकर धर्म करते हैं, स्वेच्छा से नहीं तथा धर्म विषयक श्रद्धा को दूर करके अश्रद्धा से दान या धर्म करते हैं और उसके लिये रोते या पछताते हैं, शोभने ! ऐसे लोग जब मृत्यु को प्राप्त होकर फिर जन्म लेते हैं तो धर्म के उन फलों को पाकर कभी भोगते नहीं हैं । केवल खजाने की रक्षा करने वाले सिपाही की भाँति उस धन की रखवाली करते हुए उसे बढ़ाते रहते हैं ।

“निर्धन के भोग का कारण”

केचिद् धनवियुक्ताश्च भोगयुक्ता महेश्वर ।

मानुषाः सम्प्रदूयन्ते तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा – महेश्वर ! कितने ही मनुष्य धनहीन होने पर भी भोगयुक्त दिखाई देते हैं । इसका क्या कारण है ? यह मुझे बताइये ।

नित्यं ये दातुमनसो नरा वित्तेष्वसत्स्वपि ॥

कालधर्मवशं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि ते नराः ।

एते धनविहीनाश्च भोगयुक्ता भवन्त्युत ॥

श्री महेश्वर ने कहा – देवि ! जो धन न होने पर भी सदा दान देने की इच्छा रखते हैं, वे मनुष्य मृत्यु के पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं, तब निर्धन होने के कारण साथ ही भोगयुक्त होते हैं, (धर्म के प्रभाव से उनके योग क्षेम की व्यवस्था होती रहती है)।

“सहज धनी, प्रयत्न से धनी, प्रयत्न से भी गरीब”

आसीना एव भुञ्जन्ते स्थानैस्वर्यपरिग्रहैः ।

अपरे यत्नपूर्वं तु लभन्ते भोगसंग्रहम् ॥

अपरे यत्नमानाश्च न लभन्ते तु किञ्चन ।

केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कुछ लोग बैठे-बैठे ही उत्तम स्थान, ऐश्वर्य और विभिन्न भोगों का संग्रह पाकर उनका उपभोग करते हैं । दूसरे लोग यत्नपूर्वक भोगों का संग्रह कर पाते हैं और तीसरे ऐसे हैं, जो यत्न करने पर भी कुछ नहीं पाते । किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ।

न्यायतस्त्वं महाभागे श्रोतुकामासि भामिनि ॥

ये लोके मानुषा देवि दानधर्मपरायणाः ।

पात्राणि विधिवज्ज्ञात्वा दूरतोऽप्यनुमानतः ॥

अभिगम्य स्वयं तत्र ग्राह्यन्ति प्रसाद्य च ।

दानादि चेद्भिर्तैरेव तैरविज्ञातमेव वा ॥

पुनर्जन्मनि ते देवि तादृशाः शोभना नराः ।

अत्यन्तस्तु तान्येव फलानि प्राप्नुवन्त्युत ॥

आसीना एव भुञ्जन्ते भोगान् सुकृतभागिनः ।

श्री महेश्वर ने कहा – महाभागे ! भामिनि ! तुम न्यायतः मेरा उपदेश सुनना चाहती हो, अतः सुनो । देवि ! दान धर्म में तत्पर रहने वाले जो मनुष्य संसार में दान के सुयोग्य पात्रों का विधिवत् ज्ञान प्राप्त करके अथवा अनुमान से भी उन्हें जानकर दूसरे से भी स्वयं उनके पास चले जाते और उन्हें प्रसन्न करके अपनी दी हुई वस्तुएँ उन्हें स्वीकार करवाते हैं, उनके दान आदि कर्म संकेत से ही होते हैं, अतः दान-पात्रों को जनाये बिना ही जो उनके लिये दान की वस्तुएँ दे देते हैं, देवि! वे ही पुनर्जन्म में वैसे श्रेष्ठ पुरुष होते हैं तथा वे बिना यत्न के ही उन कर्मों के फलों को प्राप्त कर लेते हैं और पुण्य भागी होने के कारण बैठे-बिठाये ही सब तरह के भोग भोगते हैं ।

अपरे ये च दानानि ददत्येव प्रयाचिताः ।

यथा यदार्थिने दत्त्वा पुनर्दानं च याचिताः ॥

तावत्कालं ततो देवि पुनर्जन्मनि ते नराः ।

यत्नतः श्रमसंयुक्ताः पुनस्तान् प्राप्नुवन्ति च ॥

दूसरे जो लोग याचकों के माँगने पर दान देते ही हैं और जब जब याचक ने माँगा, तब-तब उसे दान देकर उसके पुनः याचना करने पर फिर दान देते हैं, देवि!

वे मनुष्य पुनर्जन्म पाने पर यत्न और परिश्रम से बारम्बार उन दान कर्मों के फल पाते रहते हैं ।

याचिता अपि केचित् तु न ददत्येव किञ्चन ।

अभ्यसूयापरा मर्त्या लोभोपहतचेतसः ॥

कुछ लोग ऐसे हैं, जो याचना करने पर भी याचक को कुछ नहीं देते । उनका चित्त लोभ से दूषित होता है और वे सदा दूसरे के दोष ही देखा करते हैं ।

ते पुनर्जन्मनि शुभे यतन्तो बहुधा नराः ।

न प्राप्नुवन्ति मनुजा मार्गन्तस्तेऽपि किञ्चन ॥

शुभे ! ऐसे लोग फिर जन्म लेने पर बहुत यत्न करते रहते हैं तो भी कुछ नहीं पाते । बहुत ढूँढने पर भी उन्हें कोई भोग सुलभ नहीं होता ।

नानुप्तं रोहते सस्यं तद्वद् दानफलं विदुः ।

यद्-यद् ददाति पुरुषस्तत् तत् प्राप्नोति केवलम् ॥

जैसे बीज बोये बिना खेती नहीं उपजती, यही बात दान के फल के विषय में भी समझनी चाहिये - दिये बिना किसी को कुछ नहीं मिलता । मनुष्य जो-जो देता है, केवल उसी को पाता है ।

“वृद्धावस्था में ऐश्वर्य प्राप्ति का कर्म”

धर्मकार्यं चिरं कालं विस्मृत्य धनसंयुताः ।

प्राणान्तकाले सम्प्राप्ते व्याधिमिश्च निपीडिताः ॥

आरभन्ते पुनर्धर्मान् दातुं दानानि वा नराः ।

ते पुनर्जन्मनि शुभे भूत्वा दुःखपरिप्लुताः ॥

अतीत यौवने काले स्थविरत्वमुपागताः ।

लभन्ते पूर्वदत्तानां फलानि शुभलक्षणे ॥

एतत् कर्मफलं देवि कालयोगाद् भवत्युत ॥

जो लोग धन से सम्पन्न होने पर भी दीर्घ काल तक धर्म कार्य को भूले रहते हैं और जब रोगों से पीड़ित होते हैं, तब प्राणान्त-काल निकट आने पर धर्म करना या दान देना आरम्भ करते हैं, शुभे ! वे पुनर्जन्म लेने पर दुःख में मग्न हो, यौवन का समय बीत जाने पर बूढ़े होते हैं, तब पहले के दिये हुए दानों के फल पाते हैं । शुभलक्षणे ! देवि! यह कर्मफल काल योग से प्राप्त होता है ।

सन्तानहीन होने का कर्म

भगवन् मानुषाः केचिन्निरपत्याः सुदुःखिताः ।

यतन्तो न लभन्त्येव अपपत्यानि यतस्ततः ॥

केन कर्मविपाकेन तन्मे शासितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा - भगवन् ! कुछ मनुष्य सन्तानहीन होने के कारण अत्यन्त दुःखी रहते हैं । वे जहाँ-तहाँ से प्रयत्न करने पर भी सन्तान लाभ से वंचित ही रह जाते हैं, किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ।

ये पुराः मनुजा देवि सर्वप्राणिषु निर्दयाः ।

धनन्ति बालांश्च भुञ्जन्ते मृगाणां पक्षिणामपि ॥

गुरुविद्वेषिणश्चैव परपुत्राभ्यसूयकाः ।

पितृपूजां न कुर्वन्ति यथोक्तां चाष्टकादिभिः ॥

एवं युक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।

मानुष्यं सुचिरात् प्राप्य निरपत्या भवन्ति ते ।

पुत्रशोकयुताश्चापि नास्ति तत्र विचारणा ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पहले समस्त प्राणियों के प्रति निर्दयता का बर्ताव करते हैं, मृगों और पक्षियों के भी बच्चों को मारकर खा जाते हैं । गुरु से द्वेष रखते हैं, दूसरों के पुत्रों के दोष देखते हैं, पार्वण आदि श्राद्धों के द्वारा शास्त्रोक्त रीति से पितरों की पूजा नहीं करते, शोभने ! ऐसे आचरण वाले जीव फिर जन्म लेने पर दीर्घकाल के पश्चात् मानव योनि को पाकर सन्तानहीन तथा पुत्र शोक से संतप्त होते हैं, इसमें विचार करने की आवश्यकता नहीं है । (महाभारत अनुशासन)

इष्ट वियोग होने का कर्म

पशूनां वा मनुष्याणां वियोगं ये वितन्वते ।

बन्ध्वाद्यैः परराभाश्रीवस्त्वादींश्च हरन्त्यलम् ॥ (155)

निःशीलास्ते लभन्तेऽत्र वियोगं च पदे-पदे ।

पुत्र बान्धव कान्ताश्रूयादीष्टेभ्यो ह्यशुभोदयात् ॥ (156)

(वीर वर्धमान चरिते सप्तदश अधिकार)

जो जीव पशुओं का अथवा मनुष्यों का उनके बन्धुजनों से वियोग करते हैं, पर-स्त्री, पर लक्ष्मी और पर-वस्तु आदि का निरन्तर अपहरण करते हैं, तथा व्रत-शील से रहित हैं, वे जीव यहाँ पद-पद पर पाप कर्म के उदय से पुत्र, बान्धव, स्त्री और लक्ष्मी आदि इष्ट वस्तुओं से वियोग को प्राप्त होते हैं ।

निर्धन का नारी प्रिय होने का कर्म

ते पुरा मानुषा देवि सौम्यशीलाः प्रियंवदाः ।
 स्वदारैरेव संतुष्टा दारेषु समवृत्तयः ॥
 दाक्षिण्येनैव वर्तन्ते प्रमदास्वप्त्रियास्वपि ।
 न तु प्रत्यादिशन्त्येव स्त्रीदोषान् गुणसंश्रितान् ॥
 अन्नपानीयदाः काले नृणां स्वादुप्रदाश्च ये ।
 स्वदारव्रतिनश्चैव धृतिमन्तो निरत्ययाः ।
 एवंयुक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
 मानुषास्ते भवन्त्येव सततं शुभगाभृशम् ।
 अर्थोदृतेऽपि ते देवि भवन्ति प्रमदाप्रियाः ॥

जो मनुष्य पहले सौम्यस्वभाव के तथा प्रिय वचन बोलने वाले होते हैं, अपनी ही पत्नी में संतुष्ट रहते हैं, यदि कई पत्नियाँ हों तो उन सब पर समान भाव रखते हैं, अपने स्वभाव के कारण अप्रिय लगने वाली स्त्रियों के प्रति भी उदारता पूर्ण बर्ताव करते हैं, स्त्रियों के दोषों की चर्चा नहीं करते, उनके गुणों का ही बखान करते हैं, समय पर अन्न और जल का दान करते हैं, अतिथियों को स्वादिष्ट अन्न भोजन कराते हैं, अपनी पत्नी के प्रति ही अनुरक्त रहने का नियम लेते हैं, धैर्यवान् और दुःख रहित होते हैं, शोभने ! ऐसे आचार वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर सदा सौभाग्यशाली होते ही है, देवि ! वे धनहीन होने पर भी अपनी पत्नी के प्रति पात्र होते हैं ।

“नारी अप्रिय होने का कर्म”

ये पुरा मनुजा देवि स्वदारेष्वनपेक्षया ।
 यश्चेष्टवृत्तयश्चैव निर्लज्जा वीतसम्भ्रमाः ॥
 परेषां विप्रियकरा वाङ्मनः कायकर्मभिः ।
 निराश्रया निरन्नाद्याः स्त्रीणां हृदयकोपनाः ॥
 एवं युक्तासमाचाराः पुनर्जन्मनि ते नराः ।
 दुर्भगास्तु भवन्त्येव स्त्रीणां हृदयविप्रियाः ॥
 नास्ति तेषां रतिसुखं स्वदारेष्वपि किञ्चन ॥

जो मनुष्य पहले अपनी पत्नी की उपेक्षा करके स्वेच्छाचारी हो जाते हैं, लज्जा

और भय को छोड़ देते हैं, मन, वाणी और शरीर तथा क्रिया द्वारा दूसरों की बुराई करते हैं और आश्रयहीन एवं निराहार रहकर पत्नी के हृदय में क्रोध उत्पन्न करते हैं, ऐसे दूषित आचार वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर दुर्भाग्य युक्त और नारी जाति के लिये अप्रिय ही होते हैं । ऐसे भाग्यहीनों को अपनी पत्नी से भी अनुराग जनित सुख सुलभ नहीं होता ।

“बुद्धिमान का दुःखी होने का कर्म”

ये पुरा मनुजा देवि श्रुतवन्तोऽपि केवलम् ।
 निराश्रया निरन्नद्या भृशमात्मपरायणाः ॥
 ते पुनर्जन्मनि शुभे ज्ञानबुद्धियुता अपि ।
 निष्किञ्चना भवन्त्येव अनुमं हि न रोहति ॥

जो मनुष्य पहले केवल विद्वान् होने पर भी आश्रयहीन और भोजन सामग्री से वञ्चित होकर केवल अपने ही उदर-पोषण के प्रयत्न में लगे रहते हैं, शुभे ! वे पुनर्जन्म लेने पर और बुद्धि से युक्त होने पर भी अकिञ्चन्य ही रह जाते हैं, क्योंकि बिना बोया हुआ बीज नहीं जमता है ।

“मूर्ख का ऐश्वर्यवान होने का कर्म”

ये पुरा मनुजा देवि बालिशा अपि सर्वतः ।
 समाचरन्ति दानानि दीनानुग्रहकारणात् ॥
 अबुद्धिपूर्व वा दानं ददत्येव ततस्ततः ।
 ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्नुवन्त्येव तत्तथा ॥
 पण्डितोऽपण्डितो वापि भुङ्क्ते दानफलं नरः ।
 बुद्ध्याऽनपेक्षितं दानं सर्वथा तत् फलत्युत ॥

जो मनुष्य पहले मूर्ख होने पर भी सब ओर दीन-दुखियों पर अनुग्रह करके उन्हें दान देते रहे हैं, जो पहले से दान के महत्त्व को न समझकर भी जहाँ-तहाँ दान देते ही रहे हैं, शुभे ! वे मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त होने पर वैसी अवस्था को प्राप्त होते ही हैं । कोई मूर्ख हो या पण्डित, प्रत्येक मनुष्य दान का फल भोगता है । बुद्धि से अनपेक्षित दान भी सर्वथा फल देता ही है ।

“मेधावी होने का कर्म”

सुबुद्धिं ददतेऽन्येषां तपोधर्मादिकर्मसु ।
 विचारयन्ति ते नित्यं तत्त्वात्त्वादिकान् बहून् ॥ 131 ॥

सारान् गृणहन्ति धर्मादीन् मुञ्चन्त्यन्यान् बुधोत्तमाः ।

मत्यावरणमन्दात्ते सन्ति मेधाविनो विदः ॥ 132 ॥

जो पुरुष दूसरों को सद्बुद्धि देते हैं, तप और धर्मादि कार्यों में नित्य ही जो तत्व-अतन्त्र और सत्य-असत्य आदि अनेक बातों का विचार करते हैं, जो उत्तम बुधजन धर्मादि सार बातों को ग्रहण करते हैं और असार बातों को छोड़ देते हैं, वे पुरुष मत्यावरण के मन्द होने से मेधावी और विद्वान होते हैं ।

पठन्ति पाठयन्त्यन्यान् ये सदा श्री जिनागम् ।

कालाद्यष्ट विधाचारैर्व्याख्यान्ति धर्मसिद्धये ॥ 136 ॥

बोधयन्ति बहून् भव्यान् धर्मोपदेशनादिभिः ।

प्रवर्तन्ते स्वयं शश्वन्निर्मले धर्मकर्मणि ॥ 137 ॥

भाषन्तेऽन्न हितं सत्यं वचोऽसत्यं न जातुचित् ।

ते विद्वांसो जगत्पूज्याः स्युः श्रुतावरणात्ययात् ॥ 138 ॥

(श्री वीरवर्धमान चरिते सप्तदश अधिकार)

जो काल शुद्धि आदि आठ प्रकार के ज्ञानाचारों के साथ सदा श्री जिनागम को स्वयं पढ़ते हैं, औरों को पढ़ाते हैं, धर्मसिद्धि के लिए उसका व्याख्यान करते हैं, धर्मोपदेशादि के द्वारा अनेक भव्य जीवों को बोध देते हैं, स्वयं सदा निर्मल धर्म-कर्म में प्रवृत्ति करते हैं, हितकारी और सत्य वचन ही बोलते हैं और लोक में कभी भी असत्य वचन नहीं बोलते हैं, वे पुरुषश्रुत ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से विद्वान् और जगत्पूज्य होते हैं ।

ये पुरा मनुजा देवि गुरुशुश्रूषका भृशम् ।

ज्ञानार्थे ते तु संगृह्य तीर्थे ते विधिपूर्वकम् ॥

विधिनैव पराश्चैव ग्राहयन्ति च नान्यथा ।

अश्लाघमाना ज्ञानेन प्रशान्ता यतवाचकाः ॥

विद्यास्थानानि ये लोके स्थापयन्ति च यत्नतः ।

तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ॥

मेधाविनः श्रुतिधरा भवन्ति विशदाक्षराः ।

जो मनुष्य पहले गुरु की अत्यन्त सेवा करने वाले रहे हैं और ज्ञान के लिये विधि पूर्वक गुरु का आश्रय लेकर स्वयं भी दूसरों को विधि से ही अपनी विद्या ग्रहण कराते रहते हैं, अतिथि से नहीं । अपने ज्ञान के द्वारा जो कभी अपनी झूठी बड़ाई

नहीं करते हैं, अपितु शान्त और मौन रहते हैं तथा जो जगत में यत्नपूर्वक विद्यालयों की स्थापना करते रहते हैं, शोभने ! ऐसे पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेते हैं तब मेधावी, किसी बात को एक बार ही सुनकर उसे याद कर लेने वाले और विशद् अक्षर-ज्ञान से सम्पन्न होते हैं । (महाभारत अनुशासन पर्व दानधर्मपर्व)

“दुर्बुद्धि होने का कर्म”

ददसे कुत्सितां शिक्षां येऽन्येषां वञ्चनोद्यताः ।

विचारेण विना भक्तिं पूजां धर्माय कुर्वते ॥ 129 ॥

देवशास्त्रगुरुणां च सत्यासत्यात्मनां जडाः ।

ते मत्यावरणान्निन्धा जायन्ते दुर्धियोऽशुभाः ॥ 130 ॥

दूसरों को छल से ठगने में उद्यत जो पुरुष खोटी शिक्षा देते हैं और जो जड़ पुरुष सद्-असद् विचार के बिना धर्म के लिए सच्चे और झूठे देवशास्त्र गुरुओं की भक्ति पूजा करते हैं वे मतिज्ञानावरण कर्म के उदय से दुर्बुद्धि और अशुभ प्रवृत्ति वाले होते हैं । (वर्धमान चरिते सप्तदशोऽधिकारे 183)

पाठयन्ति न पाठार्हं ये ज्ञानमदगर्विताः ।

जानन्तोऽपि दुराचारांस्तन्वन्ति स्वान्ययोः खलाः ॥ 133 ॥

हितं जिनागमं त्यक्त्वा पठन्ति दुःश्रुतं चिदे ।

वदन्ति कटुकालापान् वचश्चागमनिन्दितम् ॥ 134 ॥

परपीडाकरं लोके वासत्यं धर्मदूरगम् ।

निन्धाः सन्ति महामूर्खास्ते श्रुतावरणोदयात् ॥ 135 ॥

ज्ञान के मद से गर्वयुक्त जो पुरुष पढ़ाने योग्य व्यक्ति को भी नहीं पढ़ाते हैं, जो दुष्ट यथार्थ तत्व को जानते हुए भी अपने और दूसरों के लिए दुराचारों का विस्तार करते हैं, हितकारी जैनागम को छोड़कर ज्ञान प्राप्ति के लिए कुशास्त्र को पढ़ते हैं, लोक में कटुक वचनालाप करते हैं, आगम-निन्दि, पर पीडाकारी असत्य और धर्म से पराङ्मुख वचन बोलते हैं वे पुरुष श्रुतज्ञानावरण कर्म के उदय से महामूर्ख और निन्दनीय होते हैं ।

“पापी होने का कर्म”

येऽर्जयन्ति सदा पापं हिंसानृतादिभिः खलाः ।

दुर्बुद्ध्या विषया सक्त्या मिथ्यादेवादिभक्तिभिः ॥ 145 ॥

श्वभ्रादौ तत्फलेनात्र चिरं भुङ्क्त्वाऽसुखं महत् ।
जायन्ते पापिनः पापात्तेऽहो तद्गति हेतवे ॥ 146 ॥

(श्री वर्धमान चरिते सप्तदशोऽधिकारः)

जो दुष्ट मनुष्य हिंसा, झूठ आदि के द्वारा दुर्बुद्धि से, विषयों में आसक्ति से और कुदेवादि की भक्ति से सदा पापों का उपार्जन करते हैं, वे जीव इस लोक में ही चिरकाल तक दुःख भोगकर पाप कर्म के फल से नरकादि गतियों में उत्पन्न होते हैं । अहो गौतम । वे जीव दुर्गति को जाने के लिये पाप से पापी ही उत्पन्न होते हैं ।

“दुर्भागी होने का कर्म”

मुनौ मलादिलिप्ताङ्गे घृणां कुर्वन्ति ये शठाः ।
रूपादीनां मदान् गर्वादीहन्ते परयोषितः ॥ 127 ॥
उत्पादयन्ति वा प्रीतिं स्वजनानां मृषोक्तिभिः ।
दुर्भगोदयतस्ते स्युदुर्भगा विश्वनिन्दिताः ॥ 128 ॥

जो शठ मलादि से लिप्त मुनि पर घृणा करते हैं, जो रूप आदि मदों के गर्व से परस्त्रियों की इच्छा करते हैं, जो मृषा भाषणों से स्वजनों की प्रीति को उत्पन्न करते हैं, वे पुरुष दुर्भगनाम कर्म के उदय से दुर्भागी और लोक निन्दित होते हैं ।

(वर्धमान चरिते सप्तदशोऽधिकारः पृ. 183)

“विधवा होने का कर्म”

याः पुरा मनुजा देवि बुद्धिमोहसमन्विताः ।
कुटुम्बं तत्र व पत्युर्नाशयन्ति वृथा तथा ॥
विषदाश्चाग्निदाश्चैव पतीन् प्रति सुनिर्दयाः ।
अन्यासां हि पतीन् यान्ति स्वपतीन् द्वेष्यकारणात् ॥
एवंयुक्त समाचाराः यमलोके सुदण्डिता ।
निरयस्थाश्चिरं कालकंथचित् प्राप्य मानुषम् ॥
तत्र ता भोगरहिता विधवाश्च भवन्ति वै ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो स्त्रियाँ पहले जन्म में बुद्धि में मोह छा जाने के कारण पति के कुटुम्ब का व्यर्थ नाश करती हैं, विष देती हैं, आग लगाती और पतियों के प्रति अत्यन्त निर्दयी होती हैं, अपने पतियों से द्वेष रखने के कारण दूसरी स्त्रियों के पतियों से सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं । ऐसे आचरण वाली नारियाँ

यमलोक में भली-भाँति दण्डित हो चिरकाल तक नरक में पड़ी रहती हैं । फिर किसी तरह मनुष्य-योनि पाकर वे भोगरहित विधवा हो जाती हैं । (महाभारत से)

दुर्गतिगामी होने का कर्म

निः शीलान् कुगुरुन् दुष्टान् कुदेवशास्त्र पापिनः ।
भजन्ते नुति पूजाद्यैर्निःशीला ये व्रतातिगाः ॥ 186 ॥
सुखं वैषयिकं नित्यमीहन्तेऽन्याय कर्मणा ।
निःशीलास्ते भवन्त्यत्र पापाद् दुर्गति गामिनः ॥ 187 ॥

(श्री वीर व. च. 17 अधिकार)

जो व्रत रहित जीव शील रहित दुष्ट कुगुरुओं की कुदेव, कुशास्त्र और पापियों को नमस्कार - पूजादि से सेवा-उपासना करते हैं, स्वयं शील रहित रहते हैं और अन्याय युक्त कार्यों के द्वारा विषय जनित सुख की नित्य इच्छा करते हैं, वे लोग इस लोक में निःशील और दुर्गतिगामी होते हैं ।

असमर्थ शरीर प्राप्त करने का कर्म

शक्ता येऽत्र निजं वीर्यं व्यक्तं कुर्वन्ति जातु न ।
कायशर्मरता धर्मतपो व्युत्सर्ग सिद्धये ॥ 206 ॥
तन्वन्ति पापकर्माणि गृह व्यापार कोटिभिः ।
परत्राघाद्भवेतेषां वपुर्निन्धं तपोऽक्षमम् ॥ 207 ॥

(श्री वीर वर्ध-चरिते सप्तदश अधिकार)

जो समर्थ होकर के भी धर्म, तप, व्युत्सर्ग आदि की सिद्धि के लिये कदाचित् भी अपने बल, वीर्य को व्यक्त नहीं करते हैं और शरीर के सुख में मग्न रहते हैं, तथा घर के व्यापार सम्बन्धी करोड़ों कार्यों के द्वारा पाप कर्मों को करते रहते हैं, उन जीवों को उस पाप से परभव में तप करने में असमर्थ और निन्दनीय शरीर प्राप्त होता है ।

‘ऐश्वर्यवान युवारोगी का कर्म’

व्याधियोगपरिक्लिष्ट ये निराशाः स्वजीविते ।
आरभन्ते तदा कर्तुं दानानि शुभलक्षणं ॥
ते पुनर्जन्मनि शुभे प्राप्यतानि फलान्युत ।
असमर्थाश्च तान् भोक्तुं व्याधितास्ते भवन्त्युत ॥

जो रोगों से कष्ट में पड़ जाने पर जब जीवन से निराश हो जाते हैं, तब दान करना आरम्भ करते हैं, शुभे ! वे ही पुनर्जन्म लेने पर उन फलों को पाकर रोगों से आक्रान्त हो उन्हें भोगने में असमर्थ हो जाते हैं । (महाभारत, धर्म, पर्व)

विकलाङ्ग बनने का कर्म

स्वेच्छया ये प्रवर्तन्ते हिंसादिपापपञ्चसु ।

उन्मत्ता इव गृहन्ति तत्त्वार्थान् श्रीजिनोदितान् ॥ 111 ॥

देवश्रुतगुरुन् धर्मार्चादीन् सत्यांस्तथेतरान् ।

भवन्ति विकलास्ते मतिज्ञानावरणोदयात् ॥ 112 ॥ (व.मा.चा.)

जो जीव हिंसादि पाँचों पापों में अपनी इच्छा से प्रवृत्त होते हैं, श्री जिनेन्द्र देव से उपदिष्ट तत्त्वार्थ को उन्मत्त पुरुष के समान यद्वा-तद्वा रूप से ग्रहण करते हैं, तथा सत्य और असत्य देवशास्त्र, गुरु, धर्म, प्रतिमा आदि को भी समान मानते हैं, ऐसे जीव मति ज्ञानावरण कर्म के उदय से विकलांगी होते हैं ।

ये पुरा मनुजा देवि लोभ मोहसमावन्ताः ।

प्राणिनां प्राणहिंसार्थभङ्गविघ्नं प्रकुर्वते ॥

शस्त्रेणोत्कृत्य वा देवि प्राणिनां चेष्टनाशकाः ।

एवं युक्तसमाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ॥

तदङ्गहीना वै प्रेत्य भवन्तयेव न संशयः ।

स्वभावतो वा जाता वा पङ्गवस्ते भवन्ति वै ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पहले लोभ और मोह से आच्छादित होकर प्राणियों के प्राणों की हिंसा करने के लिए अंग भंग कर देते हैं, शस्त्रों से काटकर उन प्राणियों को निश्चेष्ट बना देते हैं, शोभने ! ऐसे आचार वाले पुरुष मरने के बाद पुनर्जन्म लेने पर अंगहीन होते हैं, इसमें संशय नहीं है । वे स्वभावतः पंगुरूप में उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेने के बाद पंगु हो जाते हैं ।

(महाभारत अनुशासन पर्वदान धर्मपर्व)

कुबड़े होने का कारण

भगवान् देव देवेश भूतपाल नमोऽस्तु ते ।

ह्रस्वांगाच्चैव वक्रांगाः कुब्जा वामनकास्तया ॥

अपरे मानुषा देव दृश्यन्ते कुणिबाहवः ।

केन कर्म विपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा - भगवन् ! देवदेवेश्वर ! भूतनाथ आपको नमस्कार है, देव ! दूसरे मनुष्य छोटे शरीर वाले, टेढ़े-मेढ़े अंगों वाले, कुबड़ें, बौने और लूले दिखाई देते हैं । किस कर्म विपाक से ऐसा होता है, यह मुझे बताइये ।

ये पुरा मनुजा देवि लोभमोह समन्विताः ।

धान्यमानान् विकुर्वन्ति क्रयविक्रयकारणात् ॥

तुलादोषं तदा देवि धृतमानेषु नित्यशः ।

अर्धापकर्षणाच्चैव सर्वेषां क्रयविक्रये ॥

अंगदोषकरा ये तु परेषां कोपकारणात् ।

मांसादाश्चैव ये मूर्खा अयथावत्प्रथाः सदा ॥

एवंयुक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।

ह्रस्वांगा वामनाश्चैव कुब्जाश्चैव भवन्ति ते ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवी ! जो मनुष्य पहले लोभ और मोह से युक्त हो, खरीद विक्री के लिये अनाज तौलने के बाटों को तोड़-फोड़कर छोटे कर देते हैं, तराजू में भी कुछ दोष रख लेते हैं और प्रतिदिन क्रय-विक्रय के समय जब उन बाटों को रखकर अनाज तौलते हैं, तब सभी के माल में से आधे की चोरी कर लेते हैं जो क्रोध करते, दूसरे के शरीर पर चोट करके उनके अंगों में दोष उत्पन्न कर देते हैं, जो मूर्ख मांस खाते हैं और सदा झूठ बोलते हैं, शोभने ! ऐसे आचरण वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर छोटे शरीर वाले बौने और कुबड़े होते हैं ।

(महाभारत अनुशासन पर्वदान धर्मपर्व)

“गुणी एवं निर्गुणी होने का कर्म”

ध्यायन्ति तद्गुणाप्त्यै ये गुणांल्लोकोत्तमान् सदा ।

अर्हतां च गणेशानां तद्वाचो मुनिधार्मिणाम् ॥ 164 ॥

गुणग्रहणशीलाश्च सर्वत्रागुणदूरागाः ।

गणिनस्ते भवन्त्यत्र बुधाचार्या गुणवृद्धये ॥ 165 ॥

(श्री वीर वर्द्धमान चरिते)

जो पुरुष अरिहंतों के, गणधरों के और अन्य मुनि धर्मपालन करने वालों के लोकोत्तम गुणों का तथा उनके वचनों का उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये सदा ध्यान करते हैं, गुण-ग्रहण करने का जिनका स्वभाव है, जो सर्वत्र सर्वदा दुर्गुणों से दूर

रहते हैं ऐसे पुरुष इस लोक में गुण वृद्धि के लिये विद्वानों द्वारा पूजित ऐसे गुणवान होते हैं ।

दोषान् गृह्णन्ति ये मूढा गुणिनां न गुणान् क्वचित् ।
निर्गुणानां कुदेवादीनां स्मरन्ति गुणान् वृथा ॥ 166 ॥
जातु दोषान्न जानन्ति मिथ्यामार्ग कुलिङ्गिनाम् ।
भवेयुर्निर्गुणास्तेऽत्र निर्गन्ध कुसुमोपमाः ॥ 167 ॥

जो मूढ़ पुरुष दोषों को ही ग्रहण करते हैं और गुणी जनों के गुणों को (क्वचित्) कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते हैं, गुणहीन कुदेव आदि के गुणों का व्यर्थ स्मरण करते हैं और मिथ्यामार्ग पर चलने वाले कुलिङ्गियों के दोषों को कदाचित् भी नहीं जानते हैं, वे पुरुष इस लोक में निर्गन्ध कुसुम के समान निर्गुणी होते हैं ।

“दीन अनाथ होने का कर्म”

सेवन्ते प्रत्यहं येऽत्र भोगानन्यायकर्मभिः ।
यान्ति जातु न संतोष बहुभिर्भोग सेवनैः ॥ 149 ॥
पात्रदान जिनार्चा च नैव स्वप्नेऽपि कुर्वते ।
तेऽघपाकेन जायन्ते दीना भोगादि वर्जिताः ॥ 150 ॥

(वीरवर्धमान चरिते सप्तदशोऽधिकार)

जो पुरुष इस लोक में प्रतिदिन अन्याय और अत्याचार-परिपूर्ण कार्यों के द्वारा भोगों को भोगते हैं, बहुत भोगों के सेवन से भी कभी संतोष को प्राप्त नहीं होते हैं और पात्रदान, जिनपूजा आदि को स्वप्न में भी नहीं करते हैं, वे उस पाप के परिपाक द्वारा भोगों से रहित दीन अनाथ उत्पन्न होते हैं ।

समर्था अपि ये पात्रदानं श्री जिनपूजनम् ।
धर्मकार्यं च जैनानामुपकारं न कुर्वते ॥ 153 ॥
वाञ्छन्ति सकला लक्ष्मीर्लोभाद्धर्मव्रतातिगाः ।
तेऽघपाकेन दुःखद्वया निर्धनाः स्युर्भवे भवे ॥ 154 ॥

जो पुरुष समर्थ होकर के भी पात्रदान, श्री जिनपूजन, धर्म कार्य और जैनों का उपकार नहीं करते हैं, धर्म और व्रत से दूर रहते हैं और लोभ से संसार की सम्पदाओं की वांछा करते हैं, वे जीव पाप के परिपाक से भव-भव में निर्धन और दुःख भोगने वाले होते हैं ।

“विपत्तिग्रस्त होने का कर्म”

ये पुरा मनुजा नित्यमुत्कोचनपरायणाः ।
भीषयन्ति परान् नित्यं विकुर्वन्ति तथैव च ॥
ऋणवृद्धिकराश्चैव दरिद्रभ्यो यथेष्टतः ।
येऽश्वभिः क्रीडमानाश्च त्रासयन्ति वने मृगान् ॥
प्राणिहिंसा तथा देवि कुर्वन्ति च यतस्ततः ।
येषां गृहेषु वैश्वानः त्रासयन्ति वृथा नरान् ॥
एवयुक्तं समाचाराः कालधर्मगताः पुनः ।
पीडिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ॥
कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते दुःख संयुताः ।
कुदेशे दुःखभूयिष्ठे व्याघातशतसंकुले ॥
जायन्ते तत्र शोचन्तः सोद्वेगाश्च यतस्ततः ।

श्री महावीर ने कहा – देवि ! जो मनुष्य पहले प्रतिदिन घूस लेते हैं । दूसरों को डराते हैं और उनके मन में विकार उत्पन्न कर देते हैं, अपनी इच्छानुसार दरिद्रों का ऋण बढ़ाते हैं, जो कुत्तों से खेलते और मृगों को त्रास पहुँचाते हैं । जहाँ-तहाँ प्राणियों की हिंसा करते हैं । जिनके घरों में पले हुए कुत्ते व्यर्थ ही लोगों को डराते हैं, चिरकाल तक नरक में पड़े रहते हैं, फिर किसी प्रकार मनुष्य का जन्म पाकर अधिक दुःख से भरे हुए सैकड़ों बाधाओं से व्याप्त कुत्सित रहते हैं ।

“दास होने का कर्म”

मिथ्यादृशां कुदेवानां कुत्सितानां कुलिङ्गिनाम् ।
सेवां भक्तिं च कुर्वन्ति ये धर्माय वृषोपमाः ॥ 168 ॥
न च श्री जिननाथानां धर्मिणां न सुयोगिनाम् ।
परकिङ्करता पापात्ते लभन्ते पदे-पदे ॥ 169 ॥

(श्री. वर्ध. चरित 17 अधिकार)

जो पुरुष मिथ्यादृष्टि कुदेवों की और खोटे आचरण करने वाले कुलिङ्गियों की धर्म-प्राप्ति के लिए सेवा और भक्ति करते हैं और श्री जिननाथों की, धर्मात्मा सुयोगियों की सेवा भक्ति नहीं करते हैं, वे अपने इस उपार्जित पाप से बैलों के समान पद-पद पर, पर-बन्धन में बद्ध होकर दासपने को पाते हैं ।

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ।
 ये पुरा मनुजा देवि परेषां वित्तहारकाः ॥
 ऋणवृद्धिकर क्रौयान्नासदत्तं तथैव च ।
 निक्षेपकारणाद् दत्तपरद्रव्यापहारिणः ॥
 प्रमादाद् विस्मृतं नष्टं परेषां धनहारकाः ।
 वधबन्धपरिक्लेशैर्दासित्वं कुर्वते परान् ॥
 तादृशा मरणं प्राप्ता दण्डिता यमशासनैः ।
 कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते देवि सर्वथा ॥
 दासभूता भविष्यन्ति जन्मप्रभृति मानवाः ।
 तेषां कर्माणि कुर्वन्ति येषां ते धनहारकाः ॥
 आसमाप्ते स्वपापस्य कुर्वन्तीति विनिश्चयः ।

श्री महेश्वर ने कहा - कल्याणि ! देवि ! जो मनुष्य पहले दूसरों के धन का अपहरण करते हैं, जो क्रूरतावश किसी के ऐसे धन को हड़प लेते हैं जिसके कारण उसके ऊपर ऋण बढ़ जाता है, जो रखने के लिये दिये हुये या धरोहर के तौर पर रखे पराये धन को दबा लेते हैं । अथवा प्रमाद वश धन को हर लेते हैं, दूसरों को वध-बन्धन और क्लेश में डालकर उनसे अपनी दासता कराते हैं, देवि ! ऐसे लोग मृत्यु को प्राप्त हो, यमदण्ड से दण्डित होकर जब जन्म से ही दास होते हैं और उन्हीं की सेवा करते हैं, जिसका धन उन्होंने पूर्व जन्म में हर लिया है, जब तक उनके पाप का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक वे दासकर्म ही करते रहते हैं, यही शास्त्र का निश्चय है ।

पशुभूतास्वथा चान्ये भवन्ति धनहारकाः ।
 तत् तथा क्षीयते कर्म तेषां पूर्वापराधनम् ॥

पराये धन होकर भी धनी की सेवा करते हैं ऐसा करने से उनका पूर्वापराधन जनित कर्म क्षीण हो जाता है ।

किंतु मोक्षविधिस्तेषां सर्वथा तत्प्रसादनम् ।
 अयथावन्मोक्षकामः पुनर्जन्मनि चेष्टते ॥

सब प्रकार के उस धन के स्वामी को प्रसन्न कर लेना ही उसके ऋण से छुटकारा पाने का उपाय है, किन्तु जो यथावत् रूप से उस ऋण से छूटना नहीं चाहता, उसे पुनर्जन्म लेकर उसकी सेवा करनी पड़ती है ।

मोक्षकामी यथान्यायं कुर्वन् कर्माणि सर्वशः ।
 भर्तुः प्रसादमाकाङ्क्षेदायासन् सर्वथा सहन् ॥

जो उस बन्धन से छूटना चाहता हो वह यथोचित रूप से सारे काम करता है और परिश्रम को सर्वदा सहता हुआ स्वामी को प्रसन्न करने की आकाङ्क्षा रखता है ।

प्रीतिपूर्व तु यो भर्त्रा मुक्तो मुक्तः स पावनः ।
 तथाभूतान् कर्मकरान् सदा संतोषयेत् पतिः ॥

जिसे स्वामी प्रसन्नतापूर्वक दासता के बन्धन से मुक्त कर देता है, वह मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है, स्वामी को भी चाहिये कि वह ऐसे सेवकों को सदा सन्तुष्ट रखे । यथाहं कारयेत् कर्म दण्डं कारणतः क्षिपेत् ।

वृद्धान् बालांस्तया क्षीणान् पालयन् धर्ममाप्नुयात् ॥
 इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

उनसे यथायोग्य कार्य कराये और विशेष कारण से ही उन्हें दण्ड दे । जो वृद्धों, बालकों और दुर्बल मनुष्यों का पालन करता है, वह धर्म का भागी होता है, देवि ! अब और क्या सुनना चाहती हो । (महाभारत अनुशासन पर्व दान धर्म पर्व)

“मूक बनने का कर्म”

प्रजल्पन्ति वृथा येऽत्र विकथाः प्रत्यहं शठाः ।
 दोषत्रिदोषिणां चार्हच्छ्रुतसद्गुरुधर्मिणाम् ॥ 108 ॥
 पठन्ति पापशास्त्राणि स्वेच्छया च जिनागमम् ।
 विनयादिं विना लोभख्यातिपूजादिवाञ्छया ॥ 109 ॥
 धर्मसिद्धान्त तत्त्वार्थानयुक्त्याऽन्यान् दिशन्ति च ।
 ते ज्ञानावृत्तिपाकेन मूकाः स्युः श्रुतवर्जिताः ॥ 110 ॥

जो शठ यहाँ पर प्रतिदिन वृथा ही विकथाओं को कहते रहते हैं, निर्दोष अर्हन्त, श्रुत, सद्-गुरु और धार्मिकजनों के मन-गढ़न्त दोषों को कहते हैं, पाप शास्त्रों को अपनी इच्छा से पढ़ते हैं और जिनागम को विनय आदि के बिना लोभ, ख्याति, पूजा आदि की इच्छा से पढ़ते हैं, जो धर्म, सिद्धान्त और तत्त्वार्थ का कुयुक्तियों से अन्यथा रूप दूसरों को उपदेश देते हैं, वे जीव ज्ञानावरण कर्म के विपाक से श्रुतज्ञान से रहित मूक (गूँगे) होते हैं । (वर्धमान चरिते सप्तदश अधिकार)

“बधिर बनने का कर्म”

अश्रुतं परदोषादि श्रुतं वदन्ति चेषर्या ।
ऋणवन्ति परनिंदा ये विकथां दुःश्रुतिं जडाः ॥ 104 ॥
केवलि श्रुत सङ्घानां दूषणं चात्र धर्मिणाम् ।
भवेयुर्बधिरास्ते कुज्ञानावरणपाकतः ॥ 105 ॥

जो जड़ लोग नहीं सुने हुए भी पर दोषों को ईर्ष्या से कहते हैं, पर-निन्दा विकथा और कुशास्त्रों को सुनते हैं केवली भगवान्, श्रुत, संघ और धर्मात्माओं को दूषण लगाते हैं, वे कुज्ञानावरण कर्म के विपाक से बधिर (बहिरे) होते हैं ।

(श्री वर्धमान चरित)

“पंगु बनने का कर्म”

कारयन्ति पशूनां येऽतिभारारोपणं शठाः ।
घ्नन्ति पादेन सत्त्वांश्चेक्षणादृतेऽध्वगामिनः ॥ 102 ॥
कुतीर्थे पापकर्मादौ गच्छन्ति निर्दयाशयाः ।
मृत्या ते पङ्गवो निन्द्याः स्युराङ्गोपाङ्गकर्मणा ॥ 103 ॥

(श्री वर्धमान चरिते)

जो शठ पशुओं के ऊपर उनकी शक्ति से अधिक भार को लादते और लदवाते हैं, पैरों से प्राणियों को मारते हैं, बिना देखे मार्ग पर चलते हैं, कुतीर्थ में और पाप कार्यादि में जाते हैं, ऐसे निर्दय चित्त वाले नित्य जीव मरकर अंगोपांग नाम कर्म के उदय से पंगु (लँगड़े) होते हैं ।

“अन्धे बनने का कर्म”

ब्रुवन्त्यत्रेर्ष्याहृष्टदृष्टं ये परदूषणम् ।
कुर्युर्नेत्रविकारं च पश्यन्त्यादरतः खलाः ॥ 106 ॥
परस्त्रीस्तनयोन्वास्यान् कुतीर्थदेवलिङ्गिनः ।
तेऽतीवदुःखिनोऽन्धा स्युश्चक्षुरावरणोदयात् ॥ 107 ॥

जो अन्य लोगों को देखे या अनदेखे दूषणों को कहते हैं, नेत्रों की विकार युक्त चेष्टा करते हैं, जो दुष्ट परस्त्रियों के स्तन, योनि आदि अंगों को आदर और प्रेम से देखते हैं, कुतीर्थी, कुदेवभक्त और कुलिंगी हैं, वे पुरुष चक्षुदर्शनावरण कर्म के उदय से अतीव दुःख भोगने वाले अन्धे होते हैं ।

ये पुरा कामकारेण परवेश्मसु लोलुपाः ।
परस्त्रियोऽभिवीक्षन्ते दुष्टैर्नैव स्वचक्षुषा ॥
अन्धीकुर्वन्ति ये मर्त्याः क्रोधलोभसमन्विता ।
लक्षणज्ञाश्च रूपेषु अयथावत्प्रदर्शकाः ।
एवं युक्त समाचारः कालधर्मवशास्तु ते ।
दण्डिता यमदण्डेन निरयस्थाश्चिरं प्रिये ॥

जो पूर्व जन्म में काम या स्वेच्छाचार वश में पराये घरों में अपनी लोलुपता का परिचय देते हैं और परायी स्त्रियों पर अपनी दूषित दृष्टि डालते हैं तथा जो मनुष्य क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर दूसरों को अन्धा बना देते हैं अथवा रूपविषयक लक्षणों को जानकर उसका मिथ्या प्रदर्शन करते हैं । ऐसे आचार वाले मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होने पर यमदण्ड से दण्डित हो चिरकाल तक नरकों में पड़े रहते हैं ।

यदि चेन्मानुषं जन्म लभन्तस्ते तथापि वा ।

स्वभावतो वा जाता वा अन्धा एव भवन्ति ते ॥

अक्षि रोगयुता वापि नास्ति तत्र विचारणा ॥

उसके बाद यदि वे मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं, तब स्वभावतः अन्धे होते हैं अथवा जन्म लेने के बाद अन्धे हो जाते हैं या सदा ही नेत्र रोगसे पीड़ित रहते हैं । इस विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है । (महाभारत अनुशासन पर्व)

“दिव्यरूप प्राप्त करने योग्य कर्म”

ये न कुर्वन्ति संस्कारं वपुषो मण्डनादिभिः ।
तपो नियमयोगाद्यैः कायक्लेशं श्रयन्ति च ॥ 121 ॥
सेवन्ते परया भक्त्या पादाब्जान् जिनयोगिनाम् ।
शुभप्रकृतिपाकेन दिव्यरूप भवन्ति ते ॥ 122 ॥

जो ज्ञानी पुरुष आभूषण आदि से शरीर का संस्कार नहीं करते हैं और तप नियम-योगादि के द्वारा कायक्लेश को करते हैं, परम भक्ति से (जिनदेव) और योगियों के चरण कमलों की सेवा करते हैं, वे शुभकर्म के परिपाक से दिव्यरूप के धारी होते हैं । (वर्धमान चरिते सप्तदशो अधिकार पृ. 183)

ये पुरा मानुषा देवि लज्जायुकाः प्रियंवदाः ।

शक्ताः सुमधुरा नित्य भूत्वा चैव स्वभावतः ॥

अमांसभोजिनद्यैव सदा प्राणिदयायुताः ।

प्रतिकर्मप्रदा वापि वस्त्रदा धर्मकारणात् ॥

दातृत्व गुण प्राप्त होने का कर्म

पात्रेभ्यो येऽनिशं दानं धनं भक्त्या च सिद्धये ।
चैत्य चैत्यालयादीनां ददते धर्मकाङ्क्षिणः ॥ 160 ॥
तेषां सर्वत्र जायेत दातृत्व गुण उत्तमः ।
पूर्व संस्कार योगेन श्रेयसेऽत्र परत्र च ॥ 161 ॥

जो धर्म के अभिलाषी जन पात्रों के लिए सदा दान देते हैं, जिन प्रतिमा और जिनालय आदि के निर्माण के लिये भक्ति के साथ धन देते हैं, उनके पूर्व संस्कार के योग से सर्वत्र उत्तम दातृत्व गुण प्राप्त होता है, जो उनके इस लोक और परलोक में कल्याण के लिए कारण होता है ।

सौभाग्यशाली होने का कर्म

ये कुर्वन्ति परां भक्ति जिनेन्द्रागमयोदिनाम् ।
आचरन्ति तपोधर्म व्रतानि नियमादिकान् ॥ 125 ॥
हत्वा च दुर्ममत्वादीन् जयन्तीन्द्रिय तस्करान् ।
स्युस्ते नेत्रप्रिया लोके सुभगाः सुभगोदयात् ॥ 126 ॥

जो पुरुष जिनदेव, जिनागम और योगियों की परम भक्ति करते हैं, तप, धर्म, व्रत और नियम आदि को धारण करते हैं । खोटे ममत्व आदि का घात कर इन्द्रिय रूप चोरों को जीतते हैं, ये पुरुष सुभगकर्म के उदय से लोक में सौभाग्यशाली और नेत्रप्रीत होते हैं ।

सर्व सम्पदाओं के स्वामी होने का कर्म

त्रिजगत्स्वामिनश्चार्हद् गणेन्द्रागम योगिनः ।
रत्नत्रयं तपोधर्म माराधयन्ति येऽनिशम् ॥ 170 ॥
त्रिशुद्ध्या नुति पूजाद्यैस्त्यक्त्वा सर्वान्मतान्तरान् ।
उत्पद्यन्तेऽत्र पुण्यात्ते स्वामिनो विश्व सम्पदाम् ॥ 171 ॥

जो लोग तीन जगत् के स्वामी अर्हन्तों की, गणधरों की, जिनागम की, योगीजनों की, रत्नत्रय धर्म की और तप की निरन्तर मन-वचन काय की शुद्धिपूर्वक और सर्व मतान्तरों को छोड़कर आराधना करते हैं, वे इस लोक में उस पुण्य से सर्व सम्पदाओं के स्वामी होते हैं ।

भोग-सम्पदाओं को प्राप्त होने का कर्म

ददते येऽन्वहं दानं सत्पात्रेभ्योऽति भक्तितः ।
अर्चयन्ति जितेन्द्राङ्घ्री गुरु पादाम्बुजौ शुभौ ॥ 147 ॥
विद्यमानान् बहून् भोगांस्त्यजन्ति धर्म सिद्धये ।
ते लभन्तेऽत्र धर्मेण महतीर्भोग संपदः ॥ 148 ॥

जो पुरुष सत्पात्रों के लिए अति भक्ति से प्रतिदिन दान देते हैं, जिनेन्द्र देव के और गुरुजनों के शुभाचरण-कमलों को पूजते हैं और धर्मकी सिद्धि के लिये विद्यमान बहुत से भोगों को छोड़ते हैं, वे मनुष्य इस लोक में धर्म के द्वारा महाभोग-सम्पदाओं को पाते हैं ।

ये तन्वन्ति सदा धर्म पूजनं च जिनेशिनाम् ।
वितरन्ति सुपात्रेभ्यो दानं भक्तिभराङ्किताः ॥ 151 ॥
तपोव्रतयमादींश्चाचरन्ति लोभदूरगाः ।
तान् प्रति स्वयमायान्ति जगत्साराः श्रियः शुभात् ॥ 152 ॥

जो सदा धर्म का विस्तार करते हैं, जिनेशों का पूजन करते हैं, भक्ति भाव से युक्त होकर सुपात्रों को दान देते हैं, तप, व्रत, संयमादिका आचरण करते हैं और लोभ से दूर रहते हैं, उनके पास पुण्यकर्म के उदय से जगत् में सारभूत लक्ष्मी स्वयं जाती है ।

इष्ट संयोग प्राप्त होने का कर्म

दूषयन्ति न जीवान् ये वियोग ताडनादिभिः ।
पोषयन्ति सदा जैनांस्तदीहित सुसंपदा ॥ 157 ॥
सेवन्ते यत्नतो धर्म व्रतदानार्चनादिभिः ।
स्पृहयन्ति च शर्मस्त्रीतुग्धनादीन् शिवं विना ॥ 158 ॥
संपद्यन्तेऽत्र तेषां च पुण्य भाजां सुपुण्यतः ।
संयोगाश्च मनोऽभीष्ट पुत्रस्त्री धन कोटिभिः ॥ 159 ॥

जो पुरुष वियोग, ताड़न आदि से दूसरे जीवों को दुःख नहीं पहुँचाते हैं, सदा जैनों का उनकी अभीष्ट सम्पदा से अर्थात् मनोवाञ्छित वस्तु देकर पोषण करते हैं, यत्नपूर्वक व्रत, दान, पूजनादि के द्वारा धर्म का सेवन करते हैं, मोक्ष के विना सांसारिक सुख-स्त्री, पुत्र और धनादिक की इच्छा नहीं करते हैं, उन पुण्यशाली लोगों को सुपुण्य के निमित्त से मनोभीष्ट पुत्र, स्त्री और कोटि-कोटि धन के साथ

इस लोक में संयोग प्राप्त होते हैं ।

सुसंग एवं कुसंग प्राप्त होने का कर्म

गुणाब्धीनां गुरुणां च ज्ञानिनां जिनयोगिनाम् ।
सददृष्टीनां सदा सङ्गं कुर्वते तद्गुणाय ये ॥ 188 ॥
तेषां संपद्यते साधर्म गुर्वादिगुणिभिश्च तैः ।
भवेत्सर्वमहान् सङ्गः स्वर्ग मुक्ति गुणादिदः ॥ 189 ॥

जो मनुष्य गुणों के सागर ऐसे जिन योगियों की, ज्ञानी गुरुओं की और सम्यग्दृष्टि पुरुषों के, उनके गुण पाने के लिये सदा संगति करते हैं उन्हें गुणी गुरु अनादि सुजनों के साथ स्वर्ग-मुक्ति का दाता महान् संगम प्राप्त होता है ।

संसर्ग मुत्तमानां ये त्यक्त्वा कुर्वन्ति चान्वहम् ।
गुण ध्वंसकरं सङ्गं मिथ्यादृशां शठात्मनाम् ॥ 190 ॥
तेऽधोगामिन एवाहो इहामुत्रासुनाशिनम् ।
सङ्गं तद्गति हेतुं तैलभन्ते दुर्जनैः सह ॥ 191 ॥

जो लोग उत्तम जनों का संगम छोड़कर अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों का गुण-नाशक संगठन नित्य करते हैं, वे अधोगामी जीव इस लोक और परलोक में प्राण नाशक और दुर्गति का कारणभूत कुसंग-दुर्जनों का साथ सदा पाते हैं ।

अशुभाशय होने का कर्म

पर स्त्री हरणादौ ये कौटिल्यं कुटिलाशयाः ।
चिन्तयन्त्यन्वहं चित्ते ह्युच्चाटनं च धर्मिणाम् ॥ 141 ॥
तुष्यन्ति मनसा दृष्ट्वा दुराचाराणि दुर्धियाम् ।
पापार्जनाय जायन्ते तेऽशुभेनाशुभाशयाः ॥ 142 ॥

जो कुटिल अभिप्राय वाले मनुष्य पर स्त्री हरण आदि कुटिल प्रवृत्ति करते हैं, धर्मात्माजनों के उच्चाटन का चित्त में सदा विचार करते रहते हैं और दुर्बुद्धियों के दुराचारों को देखकर मन में संतुष्ट होते हैं, वे अशुभ कर्म के उदय से पापोपार्जन के लिये अशुभ अभिप्राय वाले उत्पन्न होते हैं ।

निन्दनीय होने का कर्म

निन्दां कुर्वन्ति ये दुष्टा जिनेशां च गणेशिनाम् ।
सिद्धान्तस्य च निर्ग्रन्थ श्रावकादिषु धर्मिणाम् ॥ 182 ॥

प्रशंसा पापिनां मिथ्यादेवश्रुत तपस्विनाम् ।
तेऽयशः कर्मणा दोषाद्दया निन्द्याः स्युर्जगत्त्रये ॥ 183 ॥

जो दुष्ट पुरुष जिन राजाओं की, गणधरों की, जिन सिद्धान्त की, निर्ग्रन्थ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकादि धार्मिक जनों की निन्दा करते हैं तथा पापी मिथ्या देव-शास्त्र-गुरुओं की प्रशंसा करते हैं वे अयशः कीर्ति कर्म के उदय से तीनों लोकों में निन्दनीय और दुःखों से संयुक्त होते हैं ।

शुभाशय होने का कारण

वैराग्य भव भोगाङ्गे जिनेन्द्र गुरु सदगुणान् ।
धर्म धर्माय तत्त्वादीन् चिन्तयन्ति सदा हृदि ॥ 139 ॥
त्यक्त्वा ये चार्जवादीन् कौटिल्यं दधते क्वचित् ।
शुभाशया भवेयुस्ते शुभाच्छुभविधायिनः ॥ 140 ॥

जिनके हृदय में संसार, भोग और शरीर से वैराग्य है, जिनेन्द्र देव और सद्-गुरु के गुणों का, धर्म का और तत्त्वादि का धर्म-प्राप्ति के लिए सदा चिन्तन करते हैं, जो आर्जव आदि सद्-गुणों को छोड़कर क्वचित्-कदाचित् भी कुटिलता नहीं करते हैं । वे शुभ आशय वाले पुरुष पुण्य कर्म के उदय से शुभ कार्यों के करने वाले होते हैं ।

धर्मात्मा होने का कर्म

ये कुर्वन्ति सदा धर्म तपोव्रत क्षमादिभिः ।
सत्पात्रदान पूजाद्यैदृक् चिद्वृतैदृगन्विताः ॥ 143 ॥
ते नाकादौ सुखं भुङ्क्त्वा पुनरुच्चैः पदाप्तये ।
धर्म कर्मकरा धर्मादुत्पाद्यन्तेऽत्र धर्मिणः ॥ 144 ॥

जो पुरुष तप, व्रत, क्षमादि के द्वारा, सत्पात्रदान-पूजादि के द्वारा, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के द्वारा सदा धर्म को करते हैं, सम्यग्दर्शन से युक्त हैं, वे स्वर्गादि में सुख भोगकर पुनः उच्च पदों की प्राप्ति के लिये धर्म-काय करते हैं, वे जीव इस लोक में धर्म के प्रभाव से धर्मात्मा होकर उत्पन्न होते हैं ।

शिवमार्ग के पथिक होने का कर्म

जिन शास्त्र गुरुन् धर्म परीक्ष्य ज्ञान चक्षुषा ।
ये तात्पर्येण सेवन्ते भक्त्या तद्गुणरञ्जिताः ॥ 202 ॥

अनन्य शरणानन्यान् स्वप्नेऽपि कुपथस्थितान् ।

जिन धर्मेऽनुरक्तास्ते स्युरमुत्र शिवाध्वगाः ॥ 203 ॥

जो अपने ज्ञान नेत्र से यथार्थ जिनदेव, शास्त्र-गुरु और धर्म की परीक्षा करके गुणानुरागी होकर उन गुणों की प्राप्ति के अभिप्राय से भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करते हैं, उन्हें ही अपने अनन्य (एकमात्र) शरण मानते हैं और कुमार्ग में स्थित अन्य कुदेवादि की स्वप्न में भी सेवा नहीं करते हैं, वे परलोक में जिन धर्मानुरक्त और शिवमार्ग के पथिक होते हैं ।

मूढामूढ होने का कर्म

तत्त्वातत्त्वान्त शास्त्राणां गुरुदेव तपोभृताम् ।

धर्माधर्मादि दानानां विचारं तन्वतेऽनिशम् ॥ 192 ॥

सूक्ष्म बुद्ध्यात्र ये तेषां विवेकः परमो हृदि ।

अमुत्र विश्वदेवादि परीक्षायां क्षमो भवेत् ॥ 193 ॥

जो पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धि से निरन्तर तत्त्व-अतत्त्व का, शास्त्र-कुशास्त्र का तथा देव, गुरु, तपस्वी, धर्म-अधर्म और दान-कुदान आदि का विचार करते रहते हैं परलोक में उनका विवेक सभी देव-अदेव आदि की परीक्षा करने में समर्थ होता है।

देवा हि गुरवः सर्वे वन्दनीयाश्च भक्तितः ।

निन्दनीया न कर्तव्या विश्वे धर्माः शिवाप्तये ॥ 194 ॥

मत्वेति ये भजन्त्यत्र कृत्स्नधर्मा मरादिकान् ।

दुर्बुद्ध्या मूढतां निन्द्यास्ते लभन्ते भवे-भवे ॥ 195 ॥

जो समझते हैं कि सभी देव और सभी गुरु, भक्ति-पूर्वक वन्दनीय हैं, किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिए तथा सभी धर्म मोक्ष देने वाले हैं, ऐसा मानकर दुर्बुद्धि से सभी धर्मों की और सभी देवादि की इस लोक में सेवा करते हैं, वे भव-भव में निन्दनीय एवं मूढता को प्राप्त होते हैं ।

मिथ्यामार्ग में अनुराग होने का कर्म

मिथ्यामार्गानुरागेणात्रैकान्ते कुत्सिते पथि ।

स्थिता ये कुगुरुन् मिथ्यादेव धर्मान् भजन्ति च ॥ 200 ॥

दुर्धियः श्रेयसे तेषां पूर्व संस्कार योगतः ।

मिथ्यामार्गेऽनुरागोऽमुत्र जायेताशुभाकरः ॥ 201 ॥

जो दुर्बुद्धि पुरुष इस लोक में मिथ्यामार्ग के अनुराग से एकान्ती मिथ्यामार्ग में स्थित हैं और कुगुरु, कुदेव, कुधर्म की आत्मकल्याण के लिये सेवा करते हैं उनका पूर्व भव के संस्कार के योग से परभव में अशुभ का भण्डार ऐसा अनुराग मिथ्यामार्ग में होता है ।

योग्यायोग्य पुत्रादि प्राप्त होने का कर्म

निर्दया ये व्रतैर्हीना दूनत्यत्र पर बालकान् ।

तन्वन्ति बहुमिथ्यात्वं संतानादि प्रसिद्धये ॥ 172 ॥

तेषां शठात्मनां मिथ्यात्वाद्य पाकेन निश्चितम् ।

स्वपल्पायुषो न जीवन्ति पुत्राः पुण्यादिवार्जिताः ॥ 173 ॥

जो निर्दय, व्रतहीन मनुष्य इस लोक में दूसरों के बालकों का घात करते हैं और सन्तान आदि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार का मिथ्यात्व सेवन करते हैं, उन शठ पुरुषों के मिथ्यात्व पाप के परिपाक से उनके पुत्र अल्प आयु के धारक होते हैं, वे जीते नहीं हैं और जितने दिन जीवित रहते हैं, उतने दिन पुण्य और सौभाग्य आदि से हीन रहते हैं ।

चण्डिका क्षेत्रपालादीन् यागगौर्यादिकान् बहून् ।

दूर्वादीन् पुत्रलाभाय ये भजन्त्यर्चनादिभिः ॥ 174 ॥

न चार्हन्तोऽत्र पुत्रादि सर्वार्थं सिद्धिदान् शठाः ।

बन्ध्यत्वं ते लभन्तेऽहो मिथ्यात्वेन भवे-भवे ॥ 175 ॥

जो मूर्ख पुत्र-लाभ के लिए चण्डिका, गौरी, क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओं की, पूजा-अर्चना आदि से सेवा करते हैं, अनेक प्रकार के यज्ञ-यागादिक को करते हैं, और दूर्वा-पीपल आदि को पूजते हैं, किन्तु पुत्रादि सर्व अर्थों की सिद्धि हो वाली अर्हन्तों की पूजा-उपासना नहीं करते हैं, वे पुरुष मिथ्यात्व कर्म के उदय से भव-भव में पुत्रहीन होते हैं, अर्थात् बन्ध्यापने वाली स्त्रियों को पाते हैं ।

स्वसंतान समान्मत्वाऽन्यपुत्रान् घ्नन्ति जातु नः ।

मिथ्यात्वं शत्रुवत्त्वत्वा येऽर्हिसादि व्रतान्विताः ॥ 176 ॥

यजन्ति जिन सिद्धान्त योगिनः स्वेष्ट सिद्धये ।

दिव्यरूपाः शुभात्तेषां सुताः स्युश्चिरजीविनः ॥ 177 ॥

जो पुरुष अन्य के पुत्रों को अपनी संतान के समान मानकर उनका स्वप्न में भी घात नहीं करते (किंतु प्रेम से पालन-पोषण करते हैं) और मिथ्यात्व को शत्रु के

समान जान उसे छोड़कर अहिंसादि व्रतों को धारण करते हैं तथा जो अपनी इष्ट सिद्धि के लिए जिन देव, जिन सिद्धान्त और जिनानुयायी साधुओं की पूजा-उपासना करते हैं, उस पुण्य के उदय से उनके पुत्र चिरकाल तक जीने वाले और दिव्यरूप के धारक होते हैं ।

“माहारोगी होने का कर्म”

तपोयमव्रतादीन् विना येऽतिलम्पटाशयाः ।

पोषयन्ति वपुर्नित्यं नानाभोगैवृषादृते ॥ 116 ॥

चरन्ति निशि चान्नादीन् पीडयन्त्याङ्गिनो वृथा ।

भक्षयन्ति ह्यखाद्यानि पापिनः करुणातिगाः ॥ 117 ॥

तेऽसातकर्मपाकेन कृत्स्नरोगैकभाजनाः ।

जायन्ते रोगिणस्तीव्रवेदना विह्वलाशयाः ॥ 118 ॥

जो अति लम्पट चित्तवाले पुरुष तप, संयम, व्रतादि के बिना धर्म को छोड़कर नाना प्रकार के भोगों से शरीर का सदा पोषण करते रहते हैं, रात्रि में अन्नादि को खाते हैं, प्राणियों पर आक्रमण करके वृथा पीड़ा देते हैं, अभक्ष्य वस्तुओं को खाते हैं और करुणा से रहित हैं, वे पापी असाता कर्म के परिपाक से सर्व रोगों के भाजन तीव्र वेदना से विह्वल चित्त वाले ऐसे महारोगी उत्पन्न होते हैं ।

(श्री वर्ध. चरितेन, सप्तदशोऽधिकार पृ. 182)

मुखरोगी होने का कर्म

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु देवि समाहिता ।

कुवक्त्रस्तु ये देवि जिह्वया कटुकं भृशम् ॥

असत्यं परुषं घोरं गुरुन् प्रतिपरान् प्रति ।

जिह्वाबाधां तदान्येषां कुर्वते कोपकारणात् ॥

प्रायशोऽनृतभूतिष्ठा नयः कार्यवशेन वा ।

तेषां जिह्वाप्रदेशस्था व्याधयः सम्भवन्ति ॥

(महाभारत दान धर्म पर्व पृ. 5965)

देवि ! एकाग्रचित्त होकर सुनो, मैं प्रसन्नचित्त से तुम्हें सब कुछ बताता हूँ, जो कुवाक्य बोलने वाले मनुष्य अपनी जिह्वा से गुरुजनों या दूसरों के प्रति अत्यन्त कड़वे, झूठे, रूखे तथा घोर वचन बोलते हैं, जो क्रोध के कारण दूसरों की जीभ

काट लेते हैं अथवा जो कार्यवश प्रायः अधिकाधिक झूठ ही बोलते हैं उनकी जिह्वा प्रदेश में ही रोग होते हैं ।

कर्णरोगी होने का कर्म

कुश्रोतारस्तु ये चार्थं परेषां कर्मनाशकाः ।

कर्णरोगान् बहुविधाल्लभन्ते ते पुनर्भवे ॥

जो पर दोष या निन्दादियुक्त कुवचन सुनते हैं तथा दूसरों के कानों को हानि पहुँचाते हैं वे दूसरे जन्म में कर्म सम्बन्धी नाना प्रकार के रोगों का कष्ट भोगते हैं ।

दन्तरोगशिरोरोगकर्णरोगास्तथैव च ।

अन्ये मुखाश्रिताः दोषाः सर्वे चात्मकृतं फलम् ॥

ऐसे ही लोगों को दन्तरोग, शिरोरोग, कर्णरोग तथा अन्य सभी मुख सम्बन्धी दोष अपनी करनी के फलस्वरूप से प्राप्त होते हैं ।

उदरशूलादि के कर्म

ये पुरा मनुजा देवि कामक्रोधवशा भृशम् ।

आत्मार्थमेव चाहारं भुञ्जन्ते निरपेक्षकाः ॥

अभक्ष्याहारदानैश्च विश्वस्तानां विषप्रदाः ।

अभक्ष्यभक्षदाश्चैव शौचमङ्गलवर्जिताः ॥

एवंयुक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभेन ।

कथंचित् प्राप्य मानुष्यं तत्र ते व्याधिपीडिताः ॥

पहले जो मनुष्य काम और क्रोध के अत्यन्त वशीभूत हो दूसरों की परवाह न करके केवल अपने ही लिये आहार जुटाते और खाते हैं, अभक्ष्य भोजन का दान करते हैं, विश्वस्त मनुष्यों को जहर दे देते हैं, न खाने योग्य वस्तुएँ खिला देते हैं, शौच और मंगलाचार से रहित होते हैं, शोभने ! ऐसे आचरण वाले लोग पुनर्जन्म लेने पर किसी तरह मानव शरीर को पाकर उन्हीं रोगों से पीड़ित होते हैं ।

तैस्तैर्बहुविधाकारैर्व्याधिभिर्दुःखसंश्रिताः ।

भवन्त्येव तथा देवि यथा चैव कृतं पुरा ॥

देवि ! नाना प्रकार के रूप वाले उन रोगों से पीड़ित हो वे दुःख में निमग्न हो जाते हैं । पूर्वजन्म में जैसा किया था वैसा भोगते हैं ।

प्रमेहादि रोग होने का कर्म

दृश्यन्ते सततं देव व्याधिभिर्मेहनाश्रितैः ।
पीडयमानास्तथा मर्त्या अश्मरीशर्करादिभिः ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा - देव ! बहुत से मनुष्य प्रमेह सम्बन्धी रोगों से पीड़ित देखे जाते हैं, कितने ही पथरी और शर्करा (पेशाब से चीनी आना) आदि रोगों के शिकार हो जाते हैं । किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ? यह मुझे बताने की कृपा करें ।
ये पुरा मनुजा देवि परदारप्रधर्षकाः ।

तिर्यग्योनिषु धूर्ता वै मैथुनार्थं चरन्ति च ॥
कामदोषेण ये धूर्ताः कन्यासु विधवासु च ।
बलात्कारेण गच्छन्ति रूपदर्पसमन्विताः ॥
तादृशा मरणं प्राप्ताः पुनर्जन्मनि शोभने ।
यदि चेन्मानुषं जन्म लभेरस्ते तयाविधाः ॥
मेहनस्थैस्ततो घोरैः पीडयन्ते व्याधिभिः प्रिये ।

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पूर्व जन्म में परायी स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने वाले होते हैं, जो धूर्त मानव पशुयोनि में मैथुन के लिए चेष्टा करते हैं, रूप के घमण्ड से भरे हुए जो धूर्त काम दोष से कुमारी कन्याओं और विधवाओं के साथ बलात्कार करते हैं, शोभने ! ऐसे मनुष्य मृत्यु के पश्चात् जब फिर जन्म लेते हैं, तब मनुष्य योनि में आने के बाद रोगी होते हैं । प्रिये ! वे प्रमेह सम्बन्धी रोगों से पीड़ित रहते हैं ।

सुखा रोग का कर्म

ये पुरा मनुजा देवि मांसलुब्धाः सुलोलुपाः ।
आत्मार्थं स्वादुगृह्णाश्च परभोगोपतापिनः ॥
अभ्यसूयापराश्चापि परभोगेषु ये नराः ।
एवंयुक्त समाचारः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
शोषव्याधियुतास्तत्र नरा धमनिसंतता ।
भवन्त्येव नरा देवि पापकर्मोपभोगिनः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य मांस पर लुभाये रहते हैं, अत्यन्त लोलुप हैं, अपने लिए स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं, दूसरों की भोग-सामग्री देखकर जलते

हैं, तथा जो दूसरों के भोगों से दोषदृष्टि रखते हैं, शोभने ! ऐसे आचार वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर सूखा रोग से पीड़ित हो इतने दुर्बल हो जाते हैं कि उनके शरीर में फैली हुई नस-नाड़ियाँ तक दिखाई देती हैं । देवि ! वे पाप कर्मों का फल भोगने वाले मनुष्य वैसे ही होते हैं ।

कुष्ठ रोग का कर्म

ये पुरा मनुजा देवि परेषां रूप नाशनाः ।
आघातवधबन्धैश्च वृथा दण्डेन मोहिताः ॥
इष्टनाशकरा ये तु अपथ्याहारदा नराः ।
चिकित्सका वा दुष्टाश्च द्वेषलोभसमन्विताः ॥
निर्दयाः प्राणिर्हिसायाः मलदाश्चित्तनाशनाः ।
एवं युक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
यदि वै मानुषं जन्म लभरस्तेषु दुःखिताः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पहले मोहवश आघात, वध, बन्धन तथा व्यर्थ दण्ड के द्वारा दूसरों के रूप का नाश करते हैं, किसी की प्रिय वस्तु नष्ट कर देते हैं, चिकित्सक होकर दूसरों को अपथ्य भोजन देते हैं, द्वेष और लोभ के वशीभूत होकर दुष्टता करते हैं, प्राणियों की हिंसा के लिए निर्दय बन जाते हैं, मल देते और दूसरों की चेतना का नाश करते हैं, शोभने ! ऐसे आचरण वाले पुरुष पुनर्जन्म के समय यदि मनुष्य जन्म पाते हैं तो मनुष्य जन्म में सदा दुःखी ही रहते हैं ।

अत्र ते क्लेशसंयुक्ताः कुष्ठरोगशतैर्वृताः ।
केचित् त्वग्दोषसंयुक्ता व्रणकुष्ठैश्च संयुताः ॥
श्वित्र कुष्ठयुता वापि बहुधा कुष्ठ संयुताः ।
भवन्त्येव नरा देवि यथा येन कृतं फलम् ॥

उस जन्म में वे सैकड़ों कुष्ठ रोगों से घिरकर क्लेश से पीड़ित होते हैं । कोई चर्म दोष से युक्त होते हैं, कोई व्रणकुष्ठ (कोढ़ के घाव) से पीड़ित होते हैं अथवा कोई सफेद कोढ़ से लांछित दिखायी देते हैं । देवि ! जिसने जैसा किया है उसके अनुसार फल पाकर वे सब मनुष्य नाना प्रकार के कुष्ठ रोगों के शिकार हो जाते हैं ।

पैर रोग का कर्म

ये पुरा मनुजा देवि क्रोधलोभसमन्विताः ।
मनुजा देवतास्थानं स्वपादैर्भ शयन्त्युत ॥

जानुभिः पाष्णिभिश्चैव प्राणिहिंसा प्रकुर्वते ।
एवंयुक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ॥
पादरोगैर्बहुविधैर्बाध्यन्ते श्वपदादिभिः ।

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पहले क्रोध और लोभ के वशीभूत होकर देवता के स्थान को अपने पैरों से भ्रष्ट करते, घुटनों और एड़ियों से मारकर प्राणियों की हिंसा करते हैं, शोभने ! ऐसे आचरण वाले लोग पुनर्जन्म लेने पर श्वपद आदि नाना प्रकार के पाद-रोगों से पीड़ित होते हैं ।

वातादि रोग का कर्म

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते बहो भुवि ।
वातजैः पित्तजैः रोगैर्युगपत् संनिपातकैः ॥
रोगैर्बहुविधैर्देव क्लिश्यमानाः सुदुःखिताः ।

उमा ने पूछा - भगवन् ! देव ! इस भूतल पर कुछ ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या दिखाई देती है, जो वात, पित्त और कफ जनित रोगों से तथा एक ही साथ इन तीनों के सन्निपात से तथा दूसरे-दूसरे अनेक रोगों से कष्ट पाते हुए बहुत दुःखी रहते हैं ।

असमस्तैः समस्तैश्च आढ्या वा दुर्गतास्तथा ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ।

वे धनी हों या दरिद्र, पूर्वोक्त रोगों में से कुछ के द्वारा अथवा समस्त रोगों के द्वारा कष्ट पाते रहते हैं, किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ।

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु कल्याणि कारणम् ।
ये पुरा मनुजा देवि त्वासुरं भावमाश्रिताः ॥
स्ववशाः कोपनपरा गुरुविद्वेषिणस्तथा ।
परेषां दुःखजनका मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
छिन्दन् भिन्दंस्तुदन्नेव नित्यं प्राणिषु निर्दयाः ।
एवंयुक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
यदि वै मानुषं जन्म लभेरंस्ते तथा विधाः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - कल्याणि ! इसका कारण मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो । देवि ! जो मनुष्य पूर्वजन्म में असुरभाव का आश्रम ले स्वच्छन्दचारी, क्रोधी और गुरुद्रोही हो जाते हैं, मन, वाणी, शरीर और क्रिया द्वारा दूसरों को दुःख देते हैं, काटते,

विदीर्ण करते और पीड़ा देते हुए सदा ही प्राणियों के प्रति निर्दयता दिखाते हैं शोभने ! ऐसे आचरण वाले लोग पुनर्जन्म के समय यदि मनुष्य जन्म पाते हैं, तो वे वैसे ही होते हैं ।

तत्र ते बहुभिर्घोरैस्तप्यन्ते व्याधिभिः प्रिये ।
केचिच्च छर्दिसंयुक्ताः केचित्कास समन्विताः ॥
ज्वरातिसारतृष्णाभिः पीडयमानास्तथा परे ।
पादगुल्मैश्च बहुभिः श्लेष्मदोषसमन्विताः ॥
पादरोगैश्च विविधैर्ब्रण कुष्ठभगन्दरैः ।
आढ्या वा दुर्गता वापि दृश्यन्ते व्याधिपीडिताः ॥

प्रिये ! उस शरीर में वे बहुतेरे भयंकर रोगों से संतप्त होते हैं । किसी को उल्टी होती है तो कोई खांसी से कष्ट पाते हैं, दूसरे बहुत से मनुष्य ज्वर, अतिसार और तृष्णा से पीड़ित रहते हैं, किन्हीं को अनेक प्रकार के पादगुल्म सताते हैं, कुछ लोग कफ दोष से पीड़ित होते हैं, कितने ही नाना प्रकार के पादरोग व्रणकुष्ठ और भगन्दर रोगों से रुग्ण रहते हैं, वे धनी हों या दरिद्र सब लोग रोगों से पीड़ित दिखाई देते हैं ।

एवमात्मकृतं कर्म भुञ्जते तत्र तत्र ते ।
ग्रहीतुं न च शक्यं हि केनचिद्भयकृतं फलम् ।
इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

इस प्रकार उन-उन शरीरों में वे अपने किये हुए कर्म का ही फल भोगते हैं, कोई भी बिना किये हुए कर्म के फल को नहीं पा सकता, देवि ! इस प्रकार यह विषय मैंने तुम्हें बताया, अब और क्या सुनना चाहती हो ?

उन्मत्तादि होने का कर्म

भगवन् मानुषाः केचिद् दृश्यन्ते मानुषेषु वै ।
उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च पर्यटन्तो यतस्ततः ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

उमा ने पूछा - भगवन् मनुष्यों में से कुछ लोग उन्मत्त और पिशाचों के समान इधर-उधर घूमते दिखाई देते हैं । उनकी ऐसी अवस्था में कौन-सा कर्मफल कारण है ? यह मुझे बताइये ।

ये पुरा मनुजा देवि दर्पाहङ्कारसंयुताः ।
 बहुधा प्रलपन्त्येव हसन्ति च परान् भृशम् ॥
 मोहयन्ति परान् भोगैर्मदनैर्लोभकारणात् ।
 वृद्धान् गुरुश्च ये मूर्खा वृथैवापहसन्ति च ॥
 शौण्डा विदग्धाः शास्त्रेषु तथैवानृतवादिनः ।
 एवंयुक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
 उन्मत्ताश्च पिशाचाश्च भवन्त्येव न संशयः ॥

श्री महेश्वर ने कहा - देवि ! जो मनुष्य पहले दर्प और अहंकार से युक्त हो नाना प्रकार की अंटशंट बातें करते हैं, दूसरों की खूब हँसी उड़ाते हैं, लोभ-वश, उन्मत्त बना देने वाले भोगों द्वारा दूसरों को मोहित करते हैं, जो मूर्ख वृद्धों और गुरुजनों का व्यर्थ ही उपहास करते हैं तथा शास्त्र ज्ञान में चतुर एवं प्रवीण होने पर भी सदा झूठ बोलते हैं, शोभने ! ऐसे आचरण वाले मनुष्य पुनर्जन्म लेने पर उन्मत्तों और पिशाचों के समान भटकते फिरते हैं, इसमें संशय नहीं है ।

दीन-हीन रोगी होने का कर्म

अथ केचित् प्रदृश्यन्ते मानुषेष्वेव मानुषाः ।
 दुर्गता क्लेशभूयिष्ठा दानभोगविवर्जिताः ॥
 भयैस्त्रिभिः समायुक्ता व्याधिक्षुद्भयसंयुताः ।
 दुष्कलत्राभिभूताश्च सततं विध्यदर्शकाः ।
 केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

मनुष्यों में ही कुछ लोग दुर्गति युक्त, अधिक क्लेश से पीड़ित, दान और भोग से वंचित, तीन प्रकार के भयों से युक्त, रोग और भोग के भय से पीड़ित, दुष्ट पत्नी से तिरस्कृत तथा सदा सभी कार्यों में विघ्न का ही दर्शन करने वाले होते हैं । किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ।

ये पुरा मनुजा देवि आसुरं भावमाश्रिताः ।
 क्रोधलोभसमायुक्ता निरत्राद्याश्च निष्क्रियाः ॥
 नास्तिकाश्चैव धूर्ताश्च मूर्खाश्चात्म परायणाः ।
 परोपतापिनो देवि प्रायशः प्राणिनिर्दयाः ॥
 एवं युक्त समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
 कथंचित् प्राप्य मनुष्यं तत्र ते दुःख पीडिताः ॥

सर्वतः सम्भवन्त्येव पूर्वमात्म प्रभादतः ।
 यथा ते पूर्व कथितास्तथा ते सम्भवन्त्युतः ॥

जो मनुष्य पहले असुर भाव के आश्रित, क्रोध और लोभ से युक्त भोजन सामग्री से वंचित, अकर्मण्य, नास्तिक, धूर्त, मूर्ख, अपना ही पेट पालने वाले, दूसरों को सताने वाले तथा प्रायः सभी प्राणियों के प्रति निर्दय होते हैं । शोभने ! ऐसे आचार से, व्यवहार से युक्त मनुष्य पुनर्जन्म के समय किसी प्रकार मनुष्य योनि को पाकर जहाँ-कहीं भी उत्पन्न होते हैं, सर्वत्र अपने ही प्रमाद के कारण दुःख से पीड़ित होते हैं और जैसा तुमने बताया है, वैसे ही अवांछनीय दोष से युक्त होते हैं ।

शुभाशुभं कृतं कर्म सुख दुःख फलोदयं ।
 इति ते कथितं देवि भूयः श्रोतुं किमिच्छसि ॥

देवि ! मनुष्य का किया हुआ शुभ या अशुभ कर्म ही उसे सुख या दुःख रूप फल की प्राप्ति कराने वाला है, यह बात मैंने तुम्हें बता दी । अब और क्या सुनना चाहती हो ?

“निरोगी सुखी जीवन होने का कर्म”

शरीरे ममतां त्यक्त्वा ये चरन्ति तपोद्वतम् ।
 स्वसमां जीवराशिं विज्ञाय घ्नन्ति न जातुचित् ॥ 119 ॥
 आक्रन्ददुःखशोकादीन् स्वान्ययोजनयन्ति न ।
 भवेयुः सुखिनस्तेऽत्र विश्वरोगातिगाः शुभात् ॥ 120 ॥

जो पुरुष शरीर में ममता का त्याग कर तप और व्रत को पालते हैं, अपने समान सर्व जीव राशि को मानकर किसी भी जीव का कभी भी घात नहीं करते हैं, जो आक्रन्दन, दुःख, शोक आदि न स्वयं करते हैं और न दूसरों को उत्पन्न कराते हैं, वे मनुष्य यहाँ पर साता कर्म के उदय से सर्व रोगादि से दूर रहते हैं, और निरोगी सुखी जीवनयापन करते हैं ।

भगवन् मानुषाः केचित् सर्वकल्याणसंयुता ।
 पुत्रैर्दरिर्गुणयुतैर्दासी दासपरिच्छदैः ॥
 परस्परर्द्धिसंयुक्ताः स्थानेश्वर्यमनोहरैः ।
 व्याधिहीना निराबाधा रूपारोग्यबलैयुता ॥
 धनधान्येन सम्पन्नाः प्रसादैर्यान्वहनैः ।
 सर्वोपन्नोग संयुक्ता नानाचित्रैर्मनोहरैः ॥

ज्ञातिभिः सह मोदन्ते अविघ्नं तु दिने-दिने ।
केन कर्मविपाकेन तन्मे शंसितुमर्हसि ॥

कितने ही मनुष्य समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त होते हैं, वे गुणवान् स्त्री-पुत्र, दास-दासी तथा अन्य उपकरणों से सम्पन्न होते हैं । स्थान, ऐश्वर्य तथा मनोहर भोगों और पारस्परिक समृद्धि से संयुक्त होते हैं । रोगहीन, बाधाओं से रहित, रूप, आरोग्य और बल से सम्पन्न, धन-धान्यों से परिपूर्ण, भाँति-भाँति के विचित्र एवं मनोहर महल, यान और वाहनों से युक्त एवं सब प्रकार के भोगों से संयुक्त होते हैं, वे प्रतिदिन जाति-भाइयों के साथ निर्विघ्न आनन्द भोगते हैं । किस कर्म विपाक से ऐसा होता है ? यह मुझे बताइये ।

तदहं ते प्रवक्ष्यामि शृणु सर्व समाहिता ।
ये पुरा मनुजा देवि आढ्या वा इतरेऽपि वा ॥
श्रुतवृत्त समायुक्ता दानकामाः श्रुतप्रियाः ।
परेङ्गितपराः नित्यं दातव्यमिति निश्चिताः ॥
सत्यसंघा क्षमाशीला लोभमोह विवर्जिता ।
दातारः पात्रतो दानं व्रतैर्निघम संयुता ।
स्वदुःखमिव संस्मृत्य परदुःखविवर्जिता ॥
सौम्यशीलाः शुभाचाराः देवब्राह्मण पूजकाः ॥
एवं शील समाचाराः पुनर्जन्मनि शोभने ।
दिवि वा भुवि वा देवि जायन्ते कर्म भोगिनः ॥

यह मैं तुम्हें बताता हूँ, तुम एकाग्रचित्त होकर सब बातें सुनो । जो धनाढ्य या निर्धन मनुष्य पहले शास्त्र ज्ञान और सदाचार से युक्त दान करने के इच्छुक, शास्त्र प्रेमी दूसरों के इशारों को समझकर सदा दान देने के लिए दृढ़ विचार रखने वाले, व्रत और नियमों से युक्त तथा अपने दुःख के समान ही दूसरों के भी दुःख को समझ कर किसी को दुःख न देने वाले होते हैं, जिनका शील स्वभाव सौम्य होता है, आचार व्यवहार शुभ होते हैं, जो देवताओं तथा ब्राह्मणों के पूजक होते हैं, शोभामयी देवि! ऐसे शील सदाचार वाले मानव पुनर्जन्म पाने पर स्वर्ग में या पृथ्वी पर अपने सत्कर्मों के फल भोगते हैं ।

मानुषेष्वपि ये जातास्तादृशां सम्भवन्ति ते ।
यादृशास्तुत्वया प्रोक्ताः सर्वैकल्याण संयुताः ॥
रूपं द्रव्यं बलं चायुर्भोगेश्वर्यं कुलं श्रुतम् ।

इत्येतत् सर्वसाद्गुण्यं दानाद् भवति नान्यथा ।
तपोदानमयं सर्वमिति विद्धि शुभानने ॥

वैसे पुरुष जब मनुष्यों में जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे सभी तुम्हारे बताये अनुसार कल्याणमय गुणों से सम्पन्न होते हैं । उन्हें रूप, द्रव्य, बल, आयु, भोग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल और शास्त्र ज्ञान प्राप्त होते हैं । इन सभी सदगुणों की प्राप्ति दान से ही होती है अन्यथा नहीं । शुभानने ! तुम यह जान लो कि सब कुछ तपस्या और दान का ही फल है ।

(महाभारत अनुशासन पर्व दान धर्म पर्व)

विभिन्न युग में कर्मानुसार सुख-दुःख

प्रागपि चाधर्माहते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत् । आदि काले ह्यदिति सुतमौज-
सोऽतिबल विपुलप्रभावोः प्रत्यक्ष देव-देवर्षिधर्मयज्ञविधिविधानाः
शैलेन्द्रसारसंहतस्थिर शरीराः प्रसन्न वर्णेन्द्रियाः पवनसमबलजमपराक्रमाचा
रुस्फिचोऽभिरूपप्रमाणाकृति-प्रसादोपचयवन्तः सत्यर्जवा नृशंस्यदानदमनियम-
तपउपवासब्रह्मचर्यव्रतपरा व्यपगतभयरागद्वेषमोहलोभक्रोध शोक मान रोग
निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यपरिग्रहाश्च पुरुषा बभूवुरमितायुषः तेषामुदारसत्त्व
गुणकर्मणामचिन्त्यरसवीर्य विपाकप्रभावगुणसमुदितानि प्रादुर्बभूवुः सत्यानि
सर्वगुणसमुदित्वात् पृथिव्यादीनां कृतयुगस्यादौ । भ्रश्यति तु कृतयुगे
केषांचिदत्यादानात्सांपन्निकानां शरीर गौरवमासीत्, शरीर गौरवात् श्रमः
श्रमादालस्यम्, आलस्यात् संचयः, संचयात् परिग्रहः परिग्रहाल्लाभः
प्रादुर्भूतः।(27)

पुराकाल से भी अधर्म के बिना किसी अन्य कारण से अशुभ की उत्पत्ति नहीं हुई । अनादि काल से देवों के सदृश ओजयुक्त, अतिबलशाली तथा अत्यधिक प्रभाव वाले, जिन्हें देव, देवर्षि, धर्म, यज्ञ, विधि तथा अनुष्ठान प्रत्यक्ष थे, हिमालय पर्वत के सदृश सार (त्वचा रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, मन) युक्त सुगठित एवं स्थिर शरीर वाले, वर्ण तथा इन्द्रियाँ जिनकी प्रसन्न निर्मल थी, वायु के समान बल, वेग एवं पराक्रम वाले, सुन्दर नितम्बों वाले, मनोहर प्रमाण (लम्बाई-चौड़ाई) आकृति प्रासाद तथा उपचय (पुष्टि) वाले, सत्य आर्जव (छल, कपट न होना, सरलता), आनृशंस्य (अक्रूरता), दान, दम, नियम (शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानिनियमाः) तप, उपवास तथा ब्रह्मचर्य व्रत का अनुष्ठान करने वाले, भय, राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध, शोक, अहंकार, रोग, निद्रा (असमय में) तन्द्रा, श्रम (थकावट) क्लम (बिना अभ्यास के ही थकावट की प्रतीति होना) आलस्य, परिग्रह

(रिश्वत आदि लेना) इनसे रहित अत्यधिक दीर्घ आयु वाले पुरुष हो चुके हैं। सत्य युग के प्रारम्भ में सम्पूर्ण गुणों से युक्त शस्य (अनाज) उत्पन्न हुये थे। सत्य युग के कुछ काल के व्यतीत होने पर किन्हीं सम्पन्न पुरुषों के अत्यधिक धन आदि के लेने पर व अधिक भोजन से उनके शरीर भारी हो गये, स्थूल हो गये, शरीर के भारी होने से थकावट, थकावट से आलस्य, आलस्य से संचय (जमा करने की इच्छा), संचय से परिग्रह—हर तरह से धन आदि का लेना व ममता तथा परिग्रह से लोभ उत्पन्न हो गया।

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः अभिद्रोहदन्तवचनम्, अनृतवचनात्कामक्रोधमान द्वेषपारुष्याभिघात भयतापशोकचित्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः, ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्त- धानमगमत्, तस्यान्तर्धानात् (युगवर्ष प्रमाणस्य पादद्वासः) पृथिव्यादीनां गुणपादप्रणाशोऽभूत्, तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेहवैमल्यरसवीर्यविपाक प्रभावागुणपात्रंशः, ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीन गुणपादश्चाहारविहारै यथा पूर्वमुपष्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानि प्राग्ब्याधिभिर्ज्वरादि भिरा क्रान्तानि, अतः प्राणिनो नद्धासमवापुरायुषः क्रमशः इति ॥ 28॥

तदनन्तर त्रेता में लोभ से अभिद्रोह (हिंसा व दूसरे को हानि पहुँचाना), अभिद्रोह से झूठ बोलना, झूठ बोलने से काम, क्रोध, अहंकार, द्वेष, कठोरता, अभिघात (चोट), भय, ताप, शोक तथा चित्त की ग्लानि आदि प्रवृत्त हुये। इस कारण त्रेता में धर्म का एक पाद (पैर—चतुर्थांश) लुप्त हो गया। इसके लुप्त होने से सत्ययुग (सत्ययुग) के वर्षों के प्रमाण का चतुर्थांश कम हो गया अर्थात् सत्ययुग का प्रमाण 4800 दिव्य वर्ष है। इसका चतुर्थांश 1200 दिव्यवर्ष त्रेता में कम हो गये। अभिप्राय यह है कि त्रेता का प्रमाण 4800-1200=3600 दिव्य वर्ष हुआ। इसी प्रकार सत्ययुग में व्यास के अनुसार पुरुष की औसतन आयु 400 वर्ष की होती थी—जैसे कहा भी है—

“पुरुषाः सर्वासिद्धाश्च चतुर्वर्षशतायुषः ॥”

400 का $\frac{1}{4}$ = 100 होता है। अतः त्रेता में पुरुष की आयु 400-100=300 हो गयी।

पृथिवी आदियों के भी गुणों का चतुर्थांश नष्ट हो गया। उनके नष्ट होने से शस्यों (अनाज) के स्नेह, निर्मलता रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव तथा अन्य गुणों में चतुर्थांश की कमी हो गयी। तदनन्तर उन प्राणियों के शरीर चतुर्थांश गुण जिनमें कम हो

गया है, ऐसे आहार, विहारों से जैसे उससे पूर्व (सत्ययुग में) परिपालित होते थे और अग्नि एवं आयु से युक्त थे उतने परिपालित न होने के कारण तथा उतने अग्नि एवं वायु से युक्त न होने के कारण पहले ज्वर आदि रोगों से आक्रान्त हो गये अतएव प्राणियों की आयु क्रमशः कम हो गयी।

युगे-युगे धर्मपादः क्रमेणोनन हीयते ।

गुणपादश्च भूतानामेवं लोक प्रलीयते ॥ 29 ॥

युग-युग में इस कर्म से धर्म का एक पैर (चतुर्थांश) कम होता है। साथ ही पञ्चमहाभूतों के गुणों का भी एक पाद नष्ट हो जाता है। इस प्रकार नष्ट होते-होते अन्त में संसार का प्रलय हो जाता है। (चरक संहिता 325)

संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः क्षयम् ।

देहिनामायुषः काले यत्र यन्मानमिष्यते ॥ 30 ॥

जिस काल में प्राणियों की आयु का जो प्रमाण होता है, उस काल के संवत्सरों में 100वें भाग के पूर्ण होने पर आयु में एक संवत्सर (वर्ष) की कमी हो जाती है जैसे सत्ययुग का काल 4800 दिव्य वर्ष होता है। 4800 का 100वाँ भाग 48 दिव्य वर्ष है। 48 दिव्य वर्षों के व्यतीत होने पर उस समय में उत्पन्न मनुष्य की आयु में एक वर्ष की कमी हो जायेगी। इस प्रकार 4800 दिव्य वर्षों के व्यतीत होने पर सत्य युग के अन्त में व त्रेता के प्रारम्भ में 100 वर्ष की आयु कम हो जायेगी अर्थात् यदि सत्ययुग के प्रारंभ में मनुष्य की आयु 400 वर्ष (नरमान से) है तो त्रेता के प्रारंभ में 300 वर्ष (नरमान से) रह जायेगी। त्रेता का काल 4800-1200=3600 दिव्य वर्ष है। 3600 का $\frac{1}{100}$ =36 के अर्थात् 36 दिव्य वर्ष गुजरने पर मनुष्य की आयु का एक वर्ष कम हो जाता है। 3600 दिव्य वर्ष व्यतीत होने पर उस समय के मनुष्य की आयु में 100 वर्ष (नरमान से) की कमी हो जायेगी। अभिप्राय यह है कि द्वापर काल 3600-1200=2400 दिव्य वर्ष है। 2400 का 100वाँ भाग 24 दिव्य वर्ष होता है। 24 दिव्य वर्ष के बाद 100 वर्ष की आयु (नरमान से) कम हो जाती है। एतदंश यह है कि कलियुग के प्रारम्भ में मनुष्य की आयु 200-100=100 वर्ष (नरमान से) की हो गयी है। कलियुग काल 2400-1200=1200 दिव्य वर्ष है। 1200 दिव्य वर्ष का $\frac{1}{100}$ =12 दिव्य वर्ष है। 12 दिव्य वर्ष के पश्चात् एक वर्ष (नरमान की) कमी होने से पुरुष की आयु 99 (नरमान

से) वर्ष होगी। इसी प्रकार जैसे-जैसे काल (12 दिव्य वर्ष का) व्यतीत होता जायेगा, एक-एक वर्ष की कमी होती जायेगी। 1200 दिव्य वर्ष बीतने पर संसार नष्ट हो जायेगा। (चरक संहिता पृ. 326 श्लो. 30)

“राष्ट्र में संकट आने का कर्म”

वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतं: वयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव । तद्यथायदा देशनगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रज्ञां वर्तयन्ति ? तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनपदा व्यवहारोपजीविनश्च तमधर्ममभिवर्धयन्ति, ततः सोऽधर्मः प्रसभं धर्ममन्तर्धत्ते, ततस्तेऽन्तर्हि तधर्माणो देवताभिरपि त्यज्यन्ते, तेषां तथाऽन्तर्हितधर्माणामधर्मप्रधानानामपक्रान्तदेवतानामृतवो व्यापद्यन्तेः, तेन नापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति विकृता वा वर्षति, वाता न सम्यगभिवान्ति, क्षितिर्व्यापद्यते, सलिलान्युपष्यन्ति, ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्यदोषात् ॥ 23 ॥

(चरकसंहिता. अ.3 पृ. 324)

वायु आदि सबकी ही विगुणता की जड़ अधर्म है अथवा अधर्म का कारण जो पूर्वकृत बुरे कर्म हैं, उन्हें वायु आदि की विगुणता का कारण कह सकते हैं। पूर्वकृत बुरे कर्म तथा अधर्म दोनों का उत्पत्तिकारण प्रज्ञापराध है। जैसे- जब देश नगर-निगम व जनपदों के मुखिया व राजा धर्म की परवाह न करते हुये अधर्म से प्रजा के साथ व्यवहार करते हैं तब उनके आश्रित, उपाश्रित, पौरजनपद (नगर के लोग) और व्यवहारोपजीवी-व्यापार करने वाले उस अधर्म को बढ़ाते हैं अर्थात् जब मुखिया ही अधर्माचरण करता हो- रिश्वत आदि लेता हो तो उसके नौकर-चाकर देखादेखी व अपने मुखिया का पेट भरने के लिये दूसरों से रिश्वत लेना चाहते हैं या दूसरे अधर्म कार्य करवाना चाहते हैं अतः जो व्यापारी अपना लेन-देन उनके साथ करना चाहते हैं उन्हें वहाँ के नौकरों को रुपये चढ़ाने पड़ते हैं। इस कमी को पूरा करने के लिये व्यापारी दूसरी तरह धोखा करते हैं। इस प्रकार रिश्वत लेना-देना, घूसखोरी, धोखा व असत्य का बाजार गरम हो जाता है। वह बढ़ता हुआ अधर्म, धर्म को सर्वदा छिपा देता है। जब धर्म लुप्त हो जाता है तब वह देवता भी उनका त्याग कर देते हैं। उन लुप्त धर्म-अधर्मप्रधान देवताओं से त्यक्त देश, जनपद आदि की ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं जिससे इन्द्र वा मेघ यथाकाल जल नहीं बरसाते अथवा सर्वथा नहीं बरसते अथवा विकृत जल बरसता है। वायु ठीक प्रकार से

नहीं बहती, पृथ्वी विकृत हो जाती है, जल सूख जाता है, औषधियाँ स्वभाव को छोड़कर विकृत हो जाती हैं। तब उनके स्पर्श तथा आहार के दोष से जनपद उजड़ जाते हैं।

“युद्ध होने का कर्म”

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्ध्वंसस्याधर्म एक हेतुर्भवति येऽतिमवृद्धलोभ-रोषमोहमानास्ते दुर्बलानवमत्यात्मस्वजनपरोपधाताय शस्त्रेण परस्परमभिक्रामन्ति, परान्वाऽभिक्रामन्ति, पौरैर्वाऽभिक्राम्यन्ते । (24)

तथा शस्त्रों से उत्पन्न अर्थात् लड़ाइयों-युद्धों से उत्पन्न जनपदोद्ध्वंस का भी अधर्म ही कारण होता है जिनका लोभ, रोष, मोह, अहंकार अधिक बढ़ जाता है, वे दुर्बल पुरुषों की अवज्ञा करके अपने स्वजन (स्त्री, भृत्य आदि) व दूसरों के नाश के लिये शस्त्र द्वारा परस्पर लड़ते हैं व दूसरों पर चढ़ाई करते हैं, व दूसरों से आक्रान्त किये जाते हैं अर्थात् परपुरुष व परराष्ट्र आक्रमण कर देते हैं - महाभारत का युद्ध व विगत योरोपिय महायुद्ध। (24 च.स. 326)

“नरसंहार होने का कर्म”

रक्षोगणादिभिर्वा विविधैर्भूतसङ्घैस्तमधर्ममन्यद्वाऽप्य ।

पचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते ॥ 25 ॥

अधर्म व अन्य किसी उपचार (अस्वच्छता आदि) को पाकर मनुष्य रक्षोगण आदि विविध प्रकार के भूतसमूहों से भी मारे जाते हैं।

तथाऽभिशापप्रभावस्याप्यधर्म एव हेतुर्भवति: ये लुप्तधर्माणो धर्मादपेतास्ते गुरुवृद्धसिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति, ततस्ताः प्रजा गुर्वादिभिरभिशप्ता भस्मः तामुपयान्ति, प्रागेवानेकपुरुषकुल विनाशाय, नियतप्रत्ययोपलभम्भान्नियताः, अनियत-प्रत्ययोपलम्भदनियताश्चापरे ॥ 26 ॥

अभिशाप से उत्पन्न होने वाले जनपदोद्ध्वंस का भी अधर्म ही हेतु है। जो लुप्त धर्मा हैं व धर्म से च्युत हैं, वे गुरु, वृद्ध, सिद्ध, आचार्य, इनकी अवज्ञा करके अहितकर्म करते हैं तब अनेक पुरुषों के कुल के नाश के लिये गुरु आदि द्वारा शाप दिये जाने पर वे प्रजायें शीघ्र ही भस्म हो जाती हैं - नष्ट हो जाती हैं-नियत कारण की उपलब्धि से आयु नियत और अनियत कारण की उपलब्धि से आयु अनियत होती है।

6 पुरुषार्थ से कर्म में परिवर्तन

एक दिन दो मित्रों में विचार-विमर्श चल रहा था। एक अपना विचार प्रस्तुत कर रहा था कि चलो मन्दिर में जाकर वीतराग भगवान का पूजन, भजन, अर्चन, गुरुसेवा, स्वाध्याय, मनन-चिन्तन में रात्रि व्यतीत करेंगे। दूसरे मित्र ने उसके विचार को नकारते हुए अपने विचार प्रस्तुत किये की नहीं मंदिर में जाकर आपके विचारानुसार देव-दर्शनादि कार्य से क्या मिलने वाला है ? मेरा तो विचार है कि वेश्यालय में जाकर वेश्या के साथ राग-रंग, हास्य-विलास एवं रति से रात्रि व्यतीत करेंगे जिससे कि बहुत आनन्द अनुभव होगा। प्रथम मित्र - धर्मात्मा सदाचारी होने के कारण द्वितीय मित्र के विचार से सहमत नहीं हुआ। प्रथम मित्र ने द्वितीय मित्र को समझाते हुए कहा कि मंदिर में जाकर देव-दर्शनादि से पूर्वोपार्जित दुर्भाग्य नष्ट होता है, सौभाग्य का संचय होता है, आत्मविशुद्धि होती है, मन प्रसन्न होकर मानसिक शान्ति मिलती है, इसलिये मंदिर जाना ही श्रेयस्कर है परन्तु वेश्यालय में जाकर वेश्या से रति करने से पाप कर्म (दुर्भाग्य) का संचय होता है पुण्यकर्म (सौभाग्य) क्षीण हो जाता है, मानसिक अशान्ति मिलती है, लोक निन्दा होती है एवं मरणोपरान्त जीवन अत्यन्त दुःखपूर्ण होता है इसलिये वेश्यागमन श्रेयस्कर नहीं है। प्रथम धर्मात्मा मित्र के विचारों को सुनकर द्वितीय पापी मित्र ने कहा कि वेश्यागमन में साक्षात् सुख अनुभव होता है जो कि देव दर्शनादि से प्राप्त नहीं होता है। पुण्य से मरणोत्तर जीवन सुखमय होता है, उसे किसने देखा ? इसलिये इस जीवन में ही जिस प्रकार भी हो सुख अनुभव करना चाहिये। इसी प्रकार दोनों मित्रों में परस्पर तर्क-वितर्क चला परन्तु एक दूसरे से सहमत नहीं हो पाये। इसलिये प्रथम धर्मात्मा मित्र ने मंदिर में जाकर देव-दर्शन, गुरु सेवा, चिंतन-मनन में रात्रि व्यतीत की। द्वितीय मित्र ने वेश्यालय में जाकर वेश्या के साथ राग-रंग में रात्रि व्यतीत की।

प्रातः काल दोनों जब घर वापिस आ रहे थे तब धर्मात्मा मित्र के पैर में एक बहुत बड़ा काँटा चुभ गया। वेश्यागामी मित्र को रास्ते में पड़ी हुई रूपयों की थैली मिली जिसमें 1000 रूपये थे। जब वे मिले तब द्वितीय मित्र ने अट्टहास करते हुए मित्र से कहा देखो मित्र ! मैंने पूरी रात्रि वेश्यागमन से आनन्द अनुभव किया

और वापिस आते समय भी एक हजार रुपये की थैली मिली और आपको क्या मिला ? तब उस धर्मात्मा को साक्षात् पाप का फल अच्छा मिला और धर्म का फल बुरा दिखा तो मन ही मन चिंतित हो उसने कहा कि मैंने पूर्ण रात्रि देव-दर्शन, गुरु सेवा, मन चिंतन से आनन्द एवं शान्तिपूर्वक रात्रि बिताई किन्तु वापिस लौटते समय एक बड़ा काँटा मेरे पैर में चुभ गया। उसके दूसरे मित्र ने पुनः व्यङ्गात्मक हास्य करते हुए कहा देखो, मित्र मैंने कहा था न, कि धर्म और पुण्य का फल किसने देखा ? जब सत्ता ही नहीं है तो उसका फल कैसे मिलेगा ? इसलिये जीवन में जैसे भी हो सुख भोगना चाहिये। आपने मंदिर में पुण्य क्रियायें करके भी कुछ प्राप्त नहीं किया अपितु काँटा भी चुभ गया। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य से सुख नहीं मिलता किन्तु दुःख ही मिलता है। तब धर्मात्मा मित्र बोला, नहीं, ऐसा नहीं होता धर्म से कभी भी दुःख नहीं मिलता तथा पाप से सुख नहीं मिलता। जैसे अग्नि से शीतलता प्राप्त नहीं हो सकती, सूर्य पश्चिम से उदित नहीं होता, उसी प्रकार धर्म से दुःख नहीं मिलता। इसी तरह दोनों तर्क-वितर्क करते हुए इस निर्णय पर पहुँचे कि इसका समाधान किसी विशिष्ट ज्ञानी से करना चाहिए। दोनों विचार-विमर्श करके एक अतीन्द्रिय ज्ञानी (अवधिज्ञानी) मुनीश्वर के समीप पहुँचे। मुनीश्वर को भक्तिपूर्वक नमस्कार करके दोनों ने अपनी-अपनी जिज्ञासा प्रकट की। तब मुनीश्वर ने अत्यन्त गम्भीर, मधुर, वचन से निम्न प्रकार से उनकी शंकाओं का समाधान किया।

वेश्यागामी को मुनीश्वर ने संबोधन करते हुए कहा - पूर्वभव में तुमने इतना पुण्य कमाया था कि जिसके फल-स्वरूप तुमको आज एक राज्य की प्राप्ति होती परन्तु तुमने वेश्यागमन करके उस पुण्य को क्षीण कर दिया जिससे तुम्हें सिर्फ एक हजार रुपये की थैली मिलकर वह पुण्य का फल समाप्त हो गया। पुनः मुनीश्वर उस धर्मात्मा को संबोधित करते हुए बोले - "तुमने पूर्वभव में इतना पाप कमाया था, जिसके फलस्वरूप तुमको आज शूलीदण्ड मिलने का अवसर था, परन्तु तुमने मन्दिर जाकर धर्म-ध्यान से दर्शन-पूजन आदि से उस पाप को इतना क्षीण कर दिया जिसके फलस्वरूप तुम्हें आज एक काँटा मात्र ही चुभकर उस पाप का फल समाप्त हो गया।" दोनों मित्रों को पुनः मुनीश्वरने संबोधन करते हुए कहा -

पापाद्दुःखं धर्मात्सुखमिति सर्वजनसुप्रसिद्धमिदम् ।

तस्माद्दिहाय पापं चरतु सुखार्थी सदा धर्मम् ॥ 8 ॥

Demerit produces pain, happiness follows Truth (Dharma).

This is well-known to all. Therefore, the man who desires happiness should always refrain from demerit (and) follow Dharma.

पाप से दुःख और धर्म से सुख होता है, यह बात सब जनों (जन सामान्य) में प्रसिद्ध है— इसे सभी जानते हैं। इसलिये जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करते हैं, उसे पाप को छोड़कर निरन्तर धर्म का आचरण करना चाहिए।

सुखितस्य दुःखितस्य च संसारे धर्म एव तव कार्यः ।

सुखितस्य तदभिवृद्धयै दुःखभुजस्तदुपघाताय ॥18 ॥

Whether happy or miserable in this world, they must exercise piety, if happy to increase the happiness, and if miserable to remove the misery.

हे जीव ! तू चाहे सुख का अनुभव कर रहा हो और चाहे दुःख का किन्तु संसार में इन दोनों ही अवस्थाओं में तेरा एक मात्र कार्य धर्म ही होना चाहिये। कारण यह कि वह धर्म, यदि तू सुख का अनुभव कर रहा है तो तेरे उस सुख की वृद्धि का कारण होगा और यदि तू दुःख का अनुभव कर रहा है तो वह धर्म तेरे उस दुःख के विनाश का कारण होगा।

उपरोक्त मुनिराज के सम्बोधन से दोनों प्रतिबोध को प्राप्त हुए। वेश्यागामी अधर्मात्मा व्यक्ति अधर्म से उपार्जित दुर्भाग्य का कष्टप्रद फल जानकर पाप से भयभीत होकर पाप का त्याग कर धर्म का फल गुरुमुख से सुनकर और भी अधिक धर्मनिष्ठ होकर धार्मिक कार्यों में तत्पर हो गया। कबीर दास ने कहा है —

दुःख में सुमिरन सब करें, सुख में करे न कोय ।

जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय ॥

साधारणतः जीव दुर्भाग्य के कारण जिस समय में अनेक प्रकार के दुःख संकटों से गुजरता है, उस समय में धर्म का स्मरण करता है परन्तु सुख-सुविधाओं के अनुभव करते समय धर्म को भूल जाता है, जिसके कारण पुण्य क्षय के पश्चात् पुनः उसे अनेक प्रकार की आपत्तियों-विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। परन्तु सुख-सुविधाओं के समय में यदि धर्माचरण करता है तब उसे कभी भी मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ता है, क्योंकि धर्माचरण से जो पुण्य संचय होता है, उस पुण्य से भविष्य में सुख की प्राप्ति होती है। धर्माचरण के समय में मन प्रसन्न, भाव प्रशस्त होने के कारण मानसिक शान्ति से सुख मिलता है। इसीलिये धर्म पुरुषार्थ

के फलस्वरूप सौभाग्य से भी भविष्य में सुख मिलता है। अधर्म से तात्कालिक मानसिक दुःख, लोकनिन्दा, प्रताड़ना मिलती है और भविष्यत् काल में उसके फलस्वरूप दुर्भाग्य से अनेक शारीरिक, मानसिक दुःख मिलते हैं।

प्रत्यक्ष से संसार में देखने में आता है कि कभी-कभी धर्मात्मा पुरुषों को शारीरिक एवं भौतिक दुःखों की प्राप्ति होती है। कभी-कभी पापी शारीरिक एवं भौतिक-सुखों का अनुभव करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जो धर्मात्मा धर्म कर रहा है उसके फलस्वरूप-उसको दुःख हो रहा है परन्तु पूर्वोपार्जित दुर्भाग्य (दुर्दैव) का फल अनुभव कर रहा है। जैसे एक व्यक्ति वर्तमान में एक महिने में तीन हजार रूपये उपार्जन कर रहा है फिर भी आर्थिक संकट से गुजर रहा है। इसका कारण वर्तमान में उपार्जित तीन हजार रूपये नहीं परन्तु उसकी आय की अपेक्षा व्यय अधिक या पहले से लिया हुआ ऋण है। इसी प्रकार जो वर्तमान् सम्यक् पुरुषार्थ, धर्म पुरुषार्थ करते हुए भी दुःख और संकटों को झेल रहा है, उसका कारण सम्यक्पुरुषार्थ या धर्मपुरुषार्थ नहीं है, परन्तु उस धर्म कार्य में जो कमी या पूर्व संचित पाप कर्म है। पूर्व संचित पाप कर्म के उदय में आकर धर्मात्मा को भी शारीरिक, भौतिक कष्ट देने में समर्थ हीन होता है। इसी प्रकार पुरुषार्थहीन पाप कर्म में रत पुरुष को जो तत्कालीन शारीरिक, भौतिक सुख मिलता है उसका कारण उसका पुरुषार्थहीनता या अधर्म नहीं है किन्तु पूर्व संचित पुण्य कर्म का फल है। जैसे — एक व्यक्ति यौवन अवस्था में धन संचय करके बैंक में धन संचित रखता है एवं वृद्धावस्था में बिना धन उपार्जन करते हुए भी सुख-सुविधा में रहता है। इसका कारण पूर्व संचित धन है।

कर्म एवं पुरुषार्थ परस्पर जन्य-जनक, कार्य-कारण, सम्बन्ध होने के कारण दोनों परस्पर अनुपूरक-परिपूरक होते हैं एवं प्रभावित भी होते हैं। कभी-कभी प्रबल कर्म, पुरुषार्थ को पराभूत कर देता है और कभी-कभी प्रबल पुरुषार्थ भी कर्म को पराभूत कर देता है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है —

कर्म-कर्म हिताबन्धि जीवो जीवहितस्पृहः ।

स्वस्वप्रभवभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥ 31 ॥

“कथवि बलिओ जीवो कथवि कम्माइं हुंति बलियाइं ।

जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइं ॥ ”

ज्ञानावरण, मोहनीय आदि कर्म अपने हितरूप साथी कर्मों को ही बाँधता है।

आत्मा अपने आत्मा के हित की इच्छा करता है । अपने-अपने शक्तिशाली प्रभाव के होने पर कौन सा व्यक्ति अपना हित नहीं चाहता अर्थात् सभी चाहते हैं ।

आयुर्वेद साहित्य में सर्व प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक संहिता में अकालमरण एवं सकाल मरण की समीक्षा करते हुए कर्म एवं पुरुषार्थ का परस्पर में जो प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन निम्न प्रकार है -

भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच -किं नु खलु भगवान् ।

नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेती ॥ (अ. 3 पृ. 327)

भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने कहा - हे भगवन् ! क्या सब आयुओं के काल का प्रमाण निश्चय हुआ करता है या नहीं ?

इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ।

दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् ॥ 33 ॥

भगवान् ने उत्तर दिया - हे अग्निवेश ! प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा रखती है । इस आयु का बलाबल दैव तथा पौरुष पर निर्भर करता है ।

दैवमात्मकृतं विद्यात्मकं यत्पौर्वदेहिकम् ।

स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥ 34 ॥

पूर्व देह में अपने कर्म को 'दैव' जानें और जो इस जन्म में कर्म किया जाता है उसे पुरुषकार या पौरुष कहते हैं ।

बलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्मणोः ।

दृष्टं हि त्रिविधं कर्महीनं मध्यममुत्तमम् ॥ 35 ॥

इन दोनों प्रकार के कर्मों में परस्पर बलाबल हुआ करता है । अर्थात् कदाचित् दैव बलाबल होता है, कदाचित् पौरुष, कदाचित् दोनों बलवान् होते हैं, कदाचित् दोनों निर्बल । यह दोनों प्रकार के कर्म भी हीन, मध्यम एवं उत्तम भेद से तीन प्रकार के देखे गये हैं ।

तमोरुदारयोयुक्तिर्दीर्घस्य च सुखस्य च ।

नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा ॥ 36 ॥

मध्यमा मध्यमस्येष्टा,

उन दोनों प्रकार के उत्तम कर्मों की युक्ति दीर्घ सुखयुक्त तथा निश्चित आयु का कारण है और विपरीत योग, विपरीत आयु का अर्थात् यदि दैव पुरुषकार दोनों प्रकार के कर्महीन हों तो आयु दुःखयुक्त ह्रस्व एवं अनिश्चित होती है । यदि मध्यम

योग हो तो मध्यम आयु का कारण होता है ।

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ॥ 37 ॥

दैवेन चेतुरत्कर्म विशिष्टे नोपहन्यते ।

दृष्ट्वा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः ॥ 38 ॥

नियत-अनियत, दुःख-सुख एवं हिताहित आयु में जो अन्य हेतु हैं, वह भी सुनो- जब दैव दुर्बल होता है तो पौरुष उसे दबा लेता है और जब दैव बलवान् होता है तब वह पौरुष को अभिभूत कर देता है अर्थात् जब दोनों कर्म इस प्रकार के हों कि उनमें एक बलवान् हो और दूसरा निर्बल हो तो बलवान् की विजय होती है ।

जिसे देखकर कई लोग आयु का प्रमाण नियत करते हैं - ऐसा मानते हैं ।

आयु के निर्माण में दैव और पौरुष दोनों कर्म का कारण है । जब इनमें से कोई एक हीन होता है तो आयु के अनियत होने पर भी दूसरे बलवान् के निश्चित होने से उस पर निर्भर आयु को भी निश्चित प्रमाण का ही कहना चाहिए - यह उनका आश्रय है । अथवा केवल पौरुष को दैव द्वारा दबाया जाता हुआ देखकर आयु का प्रमाण निश्चित है, ऐसा कहने लगते हैं । (पृ. 37-38)

कर्म किञ्चित्क्वचित्काले विपाके नियतं महत् ।

किञ्चित्कालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ 39 ॥

कोई महत् कर्म किसी समय पर विपाक (परिणामफल) में निश्चित होता है और किसी कर्म के विपाक का निश्चित नहीं होता, परन्तु वह अन्य कारणों से जगाया जाता है । अभिप्राय यह है कि कोई बलवान् कर्म ऐसा होता है, जिसके विपाक का समय निश्चित होता है । कोई कर्म ऐसा होता है कि उसके परिपाक का कोई निश्चित काल नहीं, परन्तु किसी भी समय में अनुगुण अन्य सहकारी कारण को पाकर वह पक जाता है ।

अतएव आयु के नियत एवं अनियत दोनों प्रकार का देखे जाने से एक पक्ष को मानना ठीक नहीं । केवल यह मानना कि आयु निश्चित ही है, ठीक नहीं और न ही केवल अनिश्चित मानना संगत है । यहाँ युक्ति भी बताते हैं -

यदि सब आयु के काल का प्रमाण निश्चित हो तो दीर्घ आयु की कामना करने वाले पुरुष, मन्त्र, औषधि, मणी, मंगल, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास स्वस्तिवाचन, प्रणिपात (नम्रता), गमन आदि क्रियायें और दृष्टियाँ (किसी शुभ इच्छा को पूर्ण किये जाने वाले यज्ञ) न करें क्योंकि आयु के निश्चित होने से

किसी भी प्रकार आयु परिवर्तन न हो सकने के कारण ये कर्म निष्प्रयोजन होंगे । इधर-उधर दौड़ते हुए क्रुद्ध व चपल गौ, हाथी, ऊँट, गधा, घोड़ा, भैंसे आदि तथा दुष्ट वायु आदि से डरकर बचना न चाहिये । प्रपातों (Falls) पर्वतों पर विषम तथा पार करने में कठिन मार्गों, जलों के वेग से भी डरकर परे न हटना चाहिए तथा प्रमत्त(असावधान) उन्मत्त(पागल) उद्भ्रान्तः (इतस्ततः दौड़ते हुए) क्रोधी, चपल, मोह, लोभ, से धिरी हुई बुद्धि वाले पुरुष, शत्रु, तीव्र अग्नि, विविध विषधर रेंगने वाले साँप आदि, साहस, देश एवं काल के विपरीत आचरण, राजाओं का कोप तथा अन्य किसी प्रकार के भाव भी मृत्यु का कारण न हों क्योंकि सब आयुओं के काल का प्रमाण नियत है तथा जिन प्राणियों ने कभी भी अकाल में मरने के निवारक प्रयोगों का अभ्यास नहीं किया, उन्हें अकाल में मरने का भय ही न होना चाहिये । महर्षियों का रसायनाधिकार में वर्णित कर्म, उपदेश, प्रयोग तथा ज्ञान विफल होंगे । इन्द्र भी नियत आयु वाले को वज्र से मार सकते हैं । अश्विनी कुमार रोगी की औषध द्वारा चिकित्सा न करते । इन्द्र और महर्षि जिन्होंने सब ज्ञेय को जान लिया है, उन्हें रसायन आदि सम्यक् ज्ञात न होता, न उपदेश करते, न स्वयं उन पर आचरण करते । अपि च सम्पूर्ण नेत्रों में इन्द्र के नेत्र सबसे उत्कृष्ट हैं अर्थात् महर्षियों व इन्द्र के जो ज्ञान चक्षु हैं वे सर्वोत्कृष्ट हैं । उन्हीं चक्षुओं से देखकर उन्होंने रसायन आदि का स्वयं सेवन किया है और दूसरों को उपदेश दिया है । यह हमें भी प्रत्यक्ष है कि हजारों पुरुषों में प्रतिदिन उठ-उठ कर युद्ध करते हुए तथा न करते हुआ की आयु समान नहीं होती अर्थात् जो युद्ध करते हैं, वे ही मरते हैं, जो नहीं करते वे नहीं मरते । उत्पन्न होते ही रोग की चिकित्सा कराने से तथा न कराने से भी आयु तुल्य नहीं होती । जो प्रतिकार करवाते हैं वे प्रायशः बच जाते हैं, जो नहीं करवाते, वे प्रायशः मर जाते हैं । विष खाने वाले और न खाने वाले की भी आयु तुल्य नहीं होती । विष खाने वाले प्रायशः मर जाते हैं और न खाने वाले जीवित रहते हैं । यहाँ तक कि प्याऊ के घड़े और चित्र घड़े भी परस्पर तुल्य काल तक नहीं रहते । प्याऊ के घड़े प्रतिदिन पानी भरने हिलाने-डुलाने से शीघ्र टूट जाते हैं और चित्र स्थित घड़े जैसे ही बहुत काल तक बने रहते हैं ।

इन बातों के देखने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हितसेवन जीवन का कारण और उसका विपरीत मृत्यु का कारण होता है । अपि च देशकाल तथा अपने गुणों से विपरीत कर्म एवं आहार-विहारों के सम्यक्तया चिकित्सोपयोग को,

सबके अतियोग के त्याग को, आरोग्य के अनुपालन का कारण पाते हैं, दूसरों को उपदेश करते हैं और सम्यक्तया जानते हैं ॥ 40 ॥

इसके बाद अग्निवेश ने कहा - यदि ऐसा ही है तो अनिश्चित काल प्रमाण आयु वाले पुरुषों की हे भगवन् ! कालमृत्यु और अकालमृत्यु किस प्रकार होती है ? अर्थात् जिनकी आयु का काल नियत है उनकी तो कालमृत्यु होगी ही, परन्तु जिनकी आयु का काल निश्चित नहीं उनकी काल मृत्यु और अकालमृत्यु किस प्रकार होगी ? ॥ 41 ॥

भगवान् आत्रेय ने उत्तर दिया - अग्निवेश ! सुनो । यान (गाड़ी आदि) का अक्ष (धुरा व चक्रनाभि-पहिए के बीच की नाभि जिसमें आरे लगते हैं और जहाँ गाड़ी का सहारा होता है) स्वभाव से अक्ष के गुणों (दृढ़ता व भार वाहन आदि में समर्थता आदि) से युक्त था और वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त हुआ (अधिक भार को न डालना आदि) प्रयुक्त होते-होते अपने समय पर अपने प्रमाण के क्षीण होने व घिसते रहने से नष्ट हो जाता है - टूट जाता है, वैसे ही शरीर से सम्बन्ध स्वभाव से ही बलवान् आयु यथावत् (स्वस्थवृत्तविधान से) परिपालित होती हुई अपने प्रमाण की क्षीणता से ही नष्ट हो जाती है । वह काल में मृत्यु कहलाती है ।

और जैसे ही वह धुरा अत्यधिक भार उठाने से ऊँचे-नीचे मार्ग से, मार्ग पर न चलने से धुरे के चक्र (बाहर के पहिये का चक्कर) के टूट जाने से बाह्य (जो यान पर बैठे हैं) और वाहक (साईस व घोड़ा) के दोष से कील निकल जाने से, उलट जाने से, तेल वा चिकनाई आदि के न देने से बीच में नष्ट हो जाता है । वैसे ही आयु भी साहस से अपनी अग्नि के अनुसार भोजन न करने से, विषम भोजन से, शरीर को विषमता में रखने से अत्यन्त मैथुन से, दुष्ट पुरुषों के संग से, प्रवृत्त वेग को रोकने से, जिन वेगों को धारण करना चाहिये उनको न रोकने से, भूत, विष, वायु, अग्नि इनके सन्ताप से, चोट से, आहार न करने से, चिकित्सा न करने से, बीच में ही जो विपदग्रस्त हो जाना अकाल मृत्यु है तथा ज्वर आदि की ठीक चिकित्सा न होकर उल्टी चिकित्सा हुई हो तो भी हम अकाल मृत्यु ही जानते हैं ॥ 42 ॥

(चरकसंहिता, पृ. 329)

पुरुषार्थ की अन्तिम विजय

अनादि काल से अनन्त सुपुरुषार्थ सम्पन्न जीव प्रबल दैव के आधीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है । जब तक असम्यक् पुरुषार्थ का सिलसिला चलता रहेगा

तब तक दैव की प्रचण्ड शक्ति जीव के ऊपर अनुशासन करती रहेगी। जब चैतन्य, अनंत-वीर्ययुक्त आत्मा अपने पुरुषार्थ को सम्यक् रूप में परिवर्तित करके जागृत होगी तब तक दैव की शक्ति क्षीण होती जायेगी। जैसे घनान्धकार भी प्रचण्ड रश्मि के धारी सूर्य के उदय से विध्वंस हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक् पुरुषार्थ के माध्यम से दैव की शक्ति विध्वंस हो जाती है। आत्मानुशासन में कहा है -

कुबोधरागादि विचिष्टतैः फलं, त्वयावि भूयो जननादि लक्षणम् ।

प्रतीहि भव्यप्रतिलोमवृत्तिभिः, ध्रुवं फलं प्राप्स्यसि तद्विलक्षणम् ॥ 106 ॥

Thou hast suffered the consequence of false knowledge, attachment and such evil acts, in the shape of births and rebirths. Be assured that thou will act, certainly attain just the opposite result (i.e. libeabon) by noble acts of an opposite character. (absence of attachment. etc)

हे भव्य ! तूने बार-बार मिथ्याज्ञान एवं रागद्वेषादि जनित प्रवृत्तियों से जो जन्म-मरणारूप फल प्राप्त किया उसके विरुद्ध प्रवृत्तियों रूप - सम्यग्ज्ञान एवं वैराग्य जनित आचरणों के द्वारा तू निश्चय से उसके विपरीत फल अजर-अमर को प्राप्त करेगा, ऐसा निश्चय कर ।

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम् ।

तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेश्यते मोक्षः ॥180 ॥ (आत्मानुशासन)

राग और द्वेष के द्वारा की गई प्रवृत्ति और निवृत्ति से जीव को बन्ध होता है तथा तत्त्व ज्ञान पूर्वक की गई उसी प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा उसका मोक्ष देखा जाता है ।

द्वेषानुराग बुद्धिर्गुणदोषकृता करोति खलु पापम् ।

तद्विपरीता पुण्य तदुभयरहित तयोर्मोक्षम् ॥181 ॥

गुण के विषय में की गई द्वेष बुद्धि तथा दोष के विषय में की गई अनुराग बुद्धि, इससे पाप का उपार्जन होता है। इसके विपरीत गुण के विषय में होने वाली अनुराग बुद्धि और दोष के विषय में होने वाली द्वेष बुद्धि से पाप का उपार्जन होता है तथा उन दोनों से रहित अनुराग बुद्धि और द्वेष बुद्धि के बिना उन दोनों (पाप-पुण्य) का मोक्ष अर्थात् संवर पूर्वक निर्जरा होती है ।

मोहबीजाद्दत्तद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव ॥

तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदैतो निर्दिधिक्षुणा ॥ 182 ॥

जिस प्रकार बीज से जड़ और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूपी बीज से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए जो इन दोनों राग-द्वेष को जलाना चाहता है उसे ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा उस मोह रूप बीज को जला देना चाहिये ।

पुराणो ग्रहदोषोत्थो गम्भीरः सगतिः सरूक् ।

त्यागजात्यादिनामोहव्रणः शुद्ध्यति रोहति ॥ 183 ॥

मोह एक प्रकार का घाव है, क्योंकि वह घाव के समान ही पीड़ा कारक है। जिस प्रकार पुराना (बहुत समय का) शनि आदि ग्रह के दोष से उत्पन्न हुआ, गहरा नस से सहित और पीड़ा देने वाला औषधियुक्त घी (मलहम) आदि से शुद्ध होकर, पीव आदि से रहित होकर भर जाता है उसी प्रकार पुराना अर्थात् अनादिकाल से जीव के साथ रहने वाला, परिग्रह के रूप दोष से उत्पन्न हुआ, गम्भीर (महान्) नरकादि दुर्गति का कारण और आकुलता रूप रोग से सहित ऐसा वह घाव के समान कष्टदायक मोह भी उक्त परिग्रह परित्याग रूप मलहम से शुद्ध होकर (नष्ट होकर) उर्ध्वगमन (मुक्ति प्राप्ति) में सहायक होता है ।

असम्यक् पुरुषार्थ से उपजे दैव, जीव को बन्धन में डालकर अनेक प्रकार से कष्ट देता है परन्तु सम्यक् पुरुषार्थ से उपजे कर्म जीव को अभ्युदय सुख के साथ-साथ कर्म बन्धन को काटने के लिये सहायक होता है; जिससे जीव को स्वातन्त्र्य सुख मिलता है। जैसे चोरी आदि अनैतिक कुपुरुषार्थ करने वाले जीव के साथ पुलिस रहती है और नैतिक देश सेवा आदि सुपुरुषार्थी के पास पुलिस रहती है। चोर के साथ रहने वाली पुलिस चोर को अपने अधीन में रखती है परन्तु मन्त्री के साथ रहने वाली पुलिस मन्त्री के अधीन रहती है। चोर को पुलिस बन्धन आदिमें डालकर कष्ट देती है, परन्तु मन्त्री की रक्षा पुलिस करती है। उसी प्रकार मिथ्या दृष्टि के कुपुरुषार्थ से जो दैव संचय होते हैं वे उस जीव को बन्धन में डाल कर संसार में विभिन्न प्रकार के कष्ट देते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि से सुपुरुषार्थ से संचित सदैव उस जीव को स्वाधीन सुख प्राप्त करने के लिये सहायक होते हैं। भाव संग्रह में देवसेन आचार्य ने कहा भी है -

समादिट्ठी पूणं ण होई संसारकारणं णियमा ।

मोक्खस्स होई हेउ जहवि णियाणं ण सो कुणई ॥ 404 ॥ (भाव संग्रह)

सम्यक्त्वी का शुभ पुरुषार्थ भाग्य का कारण नहीं होता है अर्थात् संसार का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान (भाग्य के अधीन में रहने की इच्छा) नहीं

करता है, तो वह भाग्य परम्परा से मोक्ष के हेतु होता है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 212 ॥ (पुरुषार्थसिद्धयु.)

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 213 ॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ 214 ॥

जितने अंश में सम्यक्त्वपना (पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में मिथ्यात्व (असत् पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्यधीन बन्धन है ।

जितने अंश में सम्यग्ज्ञान रूप पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में अज्ञान रूप असत् पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्याधीन बन्धन है ।

जितने अंश में सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बन्धन) नहीं है और जितने अंश में असम्यक् रूप चारित्र (कुचारित्र) है उतने अंश में दैवाधीन (बन्धन) है ।

शुभाशुभे पुण्य पाने सुखे-दुःखे च षट्त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयथाहितम् ॥ 239 ॥

तत्राप्यद्यं परिजात्यं शेषो न स्तः स्वतः स्वयम् ।

शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ 240 ॥ (आत्मानुशासन)

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख में से आत्मा के लिये हितकारक होने से आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख ये आचरण के योग्य हैं । शेष तीन - अशुभ, पाप, दुःख अहित कारक होने से छोड़ने के योग्य है । शुभ, पुण्य और सुख में से शुभ पुरुषार्थ का परित्याग करना चाहिये । तब शुभ पुरुषार्थ से उत्पन्न होने वाला पुण्य/सुभाग्य एवं उसका कार्य सुख (सांसारिक सुख) ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे । इस प्रकार शुभ पुरुषार्थ को त्याग करके परम पुरुषार्थ में रमण करने से अन्त में पुरुष अपना पुरुषार्थ सिद्ध (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है ।

भाग्य परम्परा से मोक्ष का कारण होने से व्यवहार से (एक दृष्टि से) मोक्ष का कारण मानने पर भी मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध (भाग्य के सद्भाव से) नहीं हो सकता

है, क्योंकि भाग्य के अभाव रूप कारण से एवं परम् पुरुषार्थ रूप कारण के सद्भाव होने पर मोक्ष रूपी कार्य सिद्ध होता है ।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फलं गलति स्वयम् ।

स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥ 146 ॥ (आत्मानुशासन)

He whose merit and demerit (Karmas) exhaust themselves without becoming fruit is a (five) ascetic. He will never have the karmic inflow and will attain liberation.

जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीण होते हैं उन्हें योगी कहा जाता है और उसके कर्मों का मोक्ष होता है किन्तु आस्रव नहीं होता है ।

पुरुषार्थहीन जीव भाग्य पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता

जह बंधे चिंततो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे चिंततो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ॥ 311 ॥ (समयसार)

जैसे बन्धन से बंधा हुआ कोई पुरुष बन्धनों के विषय में विचार करने मात्र से बन्धन मुक्त नहीं हो पाता है, वैसे ही जीव भी कर्म बन्धनों के विषय में चिंतन करने मात्र से उनसे मुक्त नहीं हो सकता है ।

पुरुषार्थी भाग्य पर विजय प्राप्त कर सकता है ।

जह बंधे छेत्तूण य बंधनबद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंध छित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ 312 ॥

जह बंधे भित्तूण य बंधण बद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे भित्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ 313 ॥

जह बंधे मुत्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं ।

तह बंधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं ॥ 314 ॥

(समयसार)

जैसे बन्धन से बंधा हुआ पुरुष उस बन्धन को काटकर मुक्त होता है वैसे ही जीव भी कर्मबन्ध को काटकर, भेदकर, तोड़कर ही मोक्ष पा सकता है और प्रकार से नहीं ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभः ।

समदुःखसुखं धीरंसोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ 115 ॥

(गीता दूसरा अध्याय सांख्ययोग)

हे पुरुष श्रेष्ठ ! सुख-दुःख में सम रहने वाले जिस बुद्धिमान पुरुष को ये विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य बनता है ।

दग्धे बीजो यथात्यन्त प्रादुर्भवति नांकुर ।

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुर ॥ (राजवार्तिक)

इस प्रकार बीज अंकुर न्यायवत् अनादि के अनन्त असत् पुरुषार्थ एवं भाग्य की परम्परा को परम पुरुषार्थ रूपी अग्नि से जलाकर भस्म कर देने के कारण, जिस प्रकार अनादि परम्परा में चले आए बीज को दग्ध कर देने पर फिर उस बीज में अनन्तकाल बीत जाने पर भी अंकुर नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाग्य को दग्ध करने के बाद उस भाग्य से भवांकुर (संसार) पैदा नहीं हो सकता है ।

उपरोक्त सिद्धान्तों से अवगत होता है कि यह संसारी जीव अनादिकाल से देवाधीन है । जब तक आत्मविश्वास, वीतराग विज्ञान एवं स्व में रमण करने रूप प्रचण्ड पुरुषार्थ को नहीं करता है तब तक वह दैव के अधीन रहता है । जब स्वयं में निहित सुसुप्तशक्तियों को उजागर करके आत्मविश्वास, स्व-पर विवेक करके दैविक शक्तियों को नष्ट करने के लिये एवं स्वशक्ति को विकसित करने के लिये पुरुषार्थ करता है, तब दैविक शक्ति क्षीण से क्षीणतर, क्षीणतम होते हुए पूर्णरूप से विलीन हो जाती है ।

सर्वं विविक्तोतीर्णं यदा स चैतन्यमलमाप्नोति ।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमाप्नः ॥ (पुरुषार्थ सिद्धि उपाय)

जिस समय परम पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त वह भाग्याधीन (अशुद्ध) आत्मा सम्पूर्ण विभावों से (शुभ, अशुभ भाग्य से) मुक्त होकर अपने सुदृढ़ निष्कम्प चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तब यह कृतकृत्य (स्वाधीन) होता है ।

अभव्य जीव अनादि से अनन्तकाल तक भाग्याधीन रहता है । मोक्षगामी जीव मिथ्यात्व अवस्था में भाग्याधीन रहता है । इसलिये वह अनादि सान्तकाल तक भाग्याधीन रहता है । सम्यक्त्व के साथ-साथ सम्यक् पुरुषार्थ का शुभारम्भ होता है । इसलिये सम्यग्दृष्टि आंशिक रूप से स्वपुरुषार्थ से दैव की शक्ति को क्षीण करते-करते चौदहवें गुणस्थान के चरण समय में दैव की शक्ति को विध्वंस करके सम्पूर्ण पुरुषार्थ स्वरूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । असम्यक् पुरुषार्थ से दैव बनते हैं और सम्यक् पुरुषार्थ से दैव का नाश होता है । इसलिये पुरुषार्थ की शक्ति कथञ्चित् दैव की शक्ति से अधिक है ।

“दैव (भाग्य) की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता”

बीजतो ह्यंकु रोत्पत्तिरङ्कुरात् पर्णसम्भवः ।

पर्णत्रालाः प्रसूयन्ते नालात् स्कन्धः प्रवर्तते ।

स्कन्धात् प्रवर्तते पुष्पं पुष्पात्रिर्वर्तते फलम् ।

फलान्निर्वर्त्यते बीजं-बीजं नाफलमुच्यते ॥ (महा भा.अ.6पृ. 5445)

ब्रह्मा जी ने कहा - मुने ! बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है, अंकुर से पत्ते होते हैं, पत्तों से नाल, नाल से तने और डालियाँ होती हैं । उनसे पुष्प प्रकट होता है । फूल से फल बनता है और फल से बीज उत्पन्न होता है और बीज कभी निष्फल नहीं बताया गया है ।

नाबीजं जायते किञ्चिन्न बीजेन बिना फलम् ।

बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥ 5 ॥

बीज के बिना कुछ भी पैदा नहीं होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता । बीज से बीज प्रकट होता है, और बीज से ही फल की उत्पत्ति मानी जाती है ।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासद्य कृषकः ।

सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥ 6 ॥

किसान खेत में जाकर जैसा बीज बोता है, उसी के अनुसार उसको फल मिलता है । इसी प्रकार पुण्य या पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है ।

यथा बीजं बिना क्षेत्रमुसं भवति निष्फलम् ।

तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति ॥ 7 ॥

जैसे बीज खेत में बोये बिना फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार दैव (प्रारब्ध) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं सिद्ध होता ।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।

क्षेत्र बीज समायोगात् ततः सस्यं समृद्ध्यते ॥ 8 ॥

पुरुषार्थ खेत है, और दैव को बीज बताया गया है । खेत और बीज के संयोग से ही अनाज पैदा होता है ।

कर्मणः फलनिर्वृतिं स्वयमश्नाति कारकः ।

प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥ 9 ॥

कर्म करने वाला मनुष्य अपने भले या बुरे कर्म का फल स्वयं ही भोगता है, यह बात संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है ।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।

कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ 10 ॥

शुभ कर्म करने से सुख और पाप कर्म करने से दुःख मिलता है । अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है । बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता ।

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम् ।

अकृति लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥ 11 ॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है, वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुःख भोगता है ।

तपसा रूप सौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।

प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥ 12 ॥

मनुष्य को तपस्या से रूप, सौभाग्य और नाना प्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं । इस प्रकार कर्म से सब कुछ मिल सकता है, परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहने वाले को कुछ नहीं मिलता ।

तथा स्वर्गश्च निष्ठा या च मनीषिता ।

सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥ 13 ॥

इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमत्ता— इन सबकी उपलब्धि होती है ।

ज्योतीषि त्रिदशा नागा यक्षाश्चन्द्रार्कमारुताः ।

सर्वं पुरुषकारेण मानुष्याद् देवतां गताः ॥ 14 ॥

नक्षत्र देवता, नाम, यक्ष, चन्द्रमा, सूर्य और वायु आदि सभी पुरुषार्थ करके ही मनुष्य लोक से देवलोक को गये हैं ।

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलावितम् ।

श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥ 15 ॥

जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तमकुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते ।

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु ।

वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥ 16 ॥

ब्राह्मण शौचाचार से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य उद्योग से तथा शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा से सम्पत्ति पाता है ।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निषिक्रयम् ।

नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥ 17 ॥

न तो दान देने वाले कंजूस को धन मिलता है, न नपुंसक को, न अकर्मण्य को, न काम से जी चुराने वाले को, न शौर्यहीन को और न तपस्या न करने वाले को ही मिलता है ।

येन लोकास्त्रयः सृष्टा दैत्याः सर्वाश्च देवताः ।

स एष भगवान् विष्णुः समुद्रे तप्यते तपः ॥ 18 ॥

जिन्होंने तीनों लोकों, दैत्यों तथा सम्पूर्ण देवताओं की भी सृष्टि की है, वे ही ये भगवान् विष्णु समुद्र में रहकर तपस्या करते हैं ।

स्वं चेत् कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत् ।

लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्ननु ॥ 19 ॥

यदि अपने कर्मों का फल न प्राप्त हो, तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाये, और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जायें ।

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते ।

वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥ 20 ॥

मनुष्य के योग्य कर्म न करके जो पुरुष केवल दैव का अनुसरण करता है, वह दैव का आश्रय लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है । जैसे कोई स्त्री अपने नपुंसक पति को पाकर भी कष्ट ही भोगती है ।

न तथा मानुषे लोके भयमस्ति शुभाशुभे ।

तथा त्रिदशलोके हि भयमल्पेन जायते ॥ 21 ॥

इस मनुष्य लोक में शुभाशुभ कर्मों से उतना भय नहीं प्राप्त होता, जितना कि देव लोक में थोड़े से पाप से भय होता है ।

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।

न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचिद् दातुमर्हति ॥ 22 ॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव किसी को कुछ नहीं दे सकता ।

यथा स्थानान्यनित्यानि दृश्यन्ते दैवतेष्वपि ।

कथं कर्म बिना दैवं स्थास्यति, स्थापयिष्यति ॥ 23 ॥

देवताओं में भी जो इन्द्रादि के स्थान हैं, वे अनित्य देखे जाते हैं । पुण्यकर्म के

बिना दैव कैसे स्थिर रहेगा, और कैसे वह दूसरों को स्थिर रख सकेगा ?

न दैवतानि लोकेऽस्मिन् व्यापारंयान्ति कस्यचित् ।

व्यासङ्ग जनयन्त्युग्रमात्माभिभवशङ्कया ॥ 24 ॥

देवता भी इस लोक में किसी के पुण्यकर्म का अनुमोदन नहीं करते हैं, अपितु अपनी पराजय की आशङ्का से वे पुण्यात्मा पुरुष में भयंकर आसक्ति पैदा कर देते हैं । (जिससे उनके धर्म में विघ्न उपस्थित हो जाये)

ऋषीणां देवतानां च सदा भवति विग्रहः ।

कस्य वाचा ह्यदैवं स्याद् यतो दैवं प्रवर्तते ॥ 25 ॥

ऋषियों और देवताओं में सदा कलह होता रहता है । देवता ऋषियों की तपस्या में विघ्न डालते हैं तथा ऋषि अपने तपोबल से देवताओं को स्थान भ्रष्ट कर देते हैं, फिर भी दैव के बिना केवल कथनमात्र से किसको सुख या दुःख मिल सकता है ? क्योंकि कर्म के मूल में दैव का ही हाथ है ।

कथं तस्य समुत्पत्तिर्यतो दैवं प्रवर्तते ।

एवं त्रिदशलोकेऽपि प्राप्यन्ते बहवो गुणाः ॥ 26 ॥

दैव के बिना पुरुषार्थ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि प्रवृत्ति का मूल कारण दैव ही है । (जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्यकर्म किये हैं, वे ही दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कारवश पुण्य में प्रवृत्त होते हैं । यदि ऐसा न हो तो सभी पुण्यकर्माँ में ही लग जायें) देवलोक में भी दैववश ही बहुत से गुण (सुखद साधन) उपलब्ध होते हैं ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।

आत्मैव ह्यात्माना साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥ 27 ॥

आत्म ही बन्धु है, आत्मा ही अपना शत्रु है, तथा आत्मा ही अपने कर्म और अकर्म का साक्षी है ।

कृतं चाप्यकृतं किञ्चित् कृते कर्मणि सिद्ध्यति ।

सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥ 28 ॥

प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ भी कोई कर्म बिना किया हुआ सा हो जाता है, और वह प्रबल कर्म की सिद्धि होकर फल प्रदान करता है । इस तरह पुण्य या पापकर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं ।

देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते ।

पुण्यशीलं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ 29 ॥

देवताओं का आश्रय पुण्य ही है । पुण्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है । पुण्यात्मा पुरुष को पाकर दैव क्या करेगा ?

वसुर्यज्ञशतैरिष्ट्वा द्वितीय इव वासवः ।

मिथ्याभिधानेनैकेन रसातलतलं गतः ॥ 34 ॥

द्वितीय इन्द्र के समान सौ यज्ञों का अनुष्ठान करके भी राजा वसु एक ही मिथ्या भाषण के दोष से रसातल को चले गये ।

पाण्डवानां हृतं राज्यं धार्तराष्ट्रैर्महाबलैः ।

पुनः प्रत्याहृतं चैव न दैवाद् भुजसश्रप्रयात् ॥ 40 ॥

महाबली धृतराष्ट्र-पुत्रों ने पाण्डवों का राज्य हड़प लिया था । उसे पाण्डवों ने पुनः बहुबल से ही वापिस लिया, दैव के भरोसे नहीं ॥ 40 ॥

पापमुत्सृजते लोके सर्वं प्राप्य सुदुर्लभम् ।

लोभमोहसमापन्नं न दैवं त्रायते नरम् ॥ 42 ॥

संसार में समस्त सुदुर्लभ सुख-भोग किसी पापी को प्राप्त हो जाये, तो भी वह उसके पास टिकता नहीं, शीघ्र ही उसे छोड़कर चल देता है । जो मनुष्य लोभ और मोह में डूबा हुआ है, उसे दैव भी संकट से नहीं बचा सकता ।

यथाग्निः पवनोद्भूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत् ।

तथा कर्म समायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥ 43 ॥

जैसे थोड़ी सी भी आग वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है ।

यथा तैलभयाद् दीपः प्रह्वसमुपगच्छति ।

तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्वसमुपगच्छति ॥ 44 ॥

जैसे तेल समाप्त हो जाने से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है ।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा ।

पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम् ॥

सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणं ।

पुरुषरह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥ 45 ॥

उद्योगहीन मनुष्य धन का बहुत बड़ा भण्डार, तरह-तरह के भोग और स्त्रियों को पाकर भी उसका उपभोग नहीं कर सकता, किन्तु सदा उद्योग में लगा रहने वाला

महामनस्वी पुरुष, देवताओं द्वारा सुरक्षित तथा गाढ़कर रखे हुए धन को भी प्राप्त कर लेता है ।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते ।
भवति मनुजलोकाद् देवलोको विशिष्टः ॥
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि ।
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥ 46 ॥

जो दान करने के कारण निर्धन हो गया है, ऐसे सत्पुरुष के पास उसके सत्कर्म के कारण देवता भी पहुँचते हैं और इस प्रकार उसका घर मनुष्य लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ देवलोक सा हो जाता है । परन्तु जहाँ दान नहीं होता, वह घर बड़ी भारी समृद्धि से भरा हो तो भी देवताओं की दृष्टि में वह श्मशान के ही तुल्य जान पड़ता है ।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं ।
व्यपनयति विमार्गे नास्ति दैवे प्रभुत्वम् ॥
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं ।
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥46 ॥

इस जीव जगत् में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता नहीं दिखाई देता । देव में इतनी शक्ति नहीं है कि उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगा दे । जैसे शिष्य गुरु को आगे करके चलता है, उसी तरह दैव पुरुषार्थ को ही आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है । संचित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहाँ चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है ।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया वै मुनिसत्तमः ।
फलं पुरुषकारस्य सदा संदृश्य तत्त्वतः ॥48 ॥

मुनि श्रेष्ठ ! मैंने सदा पुरुषार्थ के ही फल को प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूप से ये सारी बातें तुम्हें बतायी हैं ।

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा ।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥ 49 ॥

मनुष्य दैव के उत्थान से आरम्भ किये हुये पुरुषार्थ से उत्तम विधि और शास्त्रोक्त सत्कर्म से ही स्वर्ग लोक का मार्ग पा सकता है ।

लक्ष्यते द्विविधं कर्म मानुषेष्वेव तच्छृणु ।

पुराकृतं तयोरेकमैहितं त्वितरत् तथा ॥ म.भा.पृ. 5978 ॥

मनुष्य में दो प्रकार का कर्म देखा जाता है, उसे सुनो ! इनमें एक तो पूर्वकृत कर्म है और दूसरा इहलोक में किया गया कर्म है ।

लौकिकं तु प्रवक्ष्यामि दैवमानुषनिर्मितम् ।
कृषौ तु दृश्यते कर्म कर्षणं वपनं तथा ॥
रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम् ।
दैवादसिद्धिश्च भवेद् दुष्कृतं चास्ति पौरुषे ॥

अब मैं देव और दोनों में सम्पादित होने वाले लौकिक कर्म का वर्णन करता हूँ । कृषि में जो जुताई, बुवाई, रोपनी, कटनी तथा ऐसे ही और भी जो कार्य देखे जाते हैं, वे सब मानुष कहे गये हैं । दैव से उस कर्म में सफलता और असफलता होती है । मानुष कर्म में बुराई भी सम्भव है ।

सुयत्नाल्लभ्यते कीर्तिदुर्यत्नादयशस्तथा ।
एवं लोकगतिर्देवि आदिप्रभृति वर्तते ॥

उत्तम प्रयत्न करने से कीर्ति प्राप्त होती है और बुरे उपायों के अवलम्बन से अपयश । देवि ! अनादिकाल से ही जगत् की ऐसी ही अवस्था है ।

रोपणं चैव लवनं यच्चान्यत् पौरुषं स्मृतम् ॥
काले वृष्टिः सुवापं च प्ररोहः पंक्तिरेव च ।
एवमादि तु यच्चान्यत् तद् दैवतमिति स्मृतम् ॥

बीज का रोपना और काटना आदि मनुष्य का काम है, परन्तु समय पर वर्षा होना, बुवाई का सुन्दर परिणाम निकलना, बीज में अंकुर उत्पन्न होना और शस्य का श्रेणीवृद्ध होकर प्रकट होना इत्यादि कार्य दैवसम्बन्धी बनाये गये हैं । दैव की अनुकूलता से ही इन कार्यों का सम्पादन होता है ।

पञ्चभूतस्थितिश्चैव ज्योतिषामयनं तथा ।
अबुद्धिगम्यं यन्मत्यैर्हेतुभिर्वा न विद्यते ॥
तादृशं कारणं दैवं शुभं वा यदि वेतरत् ।
यादृशं चात्मना शक्यं तत् पौरुषमिति स्मृतम् ॥

पञ्चभूतों की स्थिति, ग्रहनक्षत्रों का चलना-फिरना तथा जहाँ मनुष्यों की बुद्धि न पहुँच सके अथवा किन्हीं कारणों या युक्तियों से भी समझ में न आ सके ऐसा कर्म शुभ हो या अशुभ दैव माना जाता है और जिस बात को मनुष्य स्वयं कर सकें, उसे पौरुष कहा गया है ।

केवलं फलनिष्पत्तिरेकेन तु न शक्यते ।

पौरुषेणैव दैवेन युगपद् ग्रथितं प्रिये ॥

केवल दैव या पुरुषार्थ से सिद्धि नहीं होती, प्रिये ! प्रत्येक वस्तु या कार्य एक ही साथ पुरुषार्थ और दैव दोनों में ही गुँथा हुआ है ।

तयोः समाहितं कर्म शीतोष्णं युगपत् तथा ।

पौरुषं तु तयोः पूर्वमारब्धव्यं विजानता ॥

आत्मना तु न शक्यं हि तथा कीर्तिमवाप्नुयात् ।

दैव और पुरुषार्थ दोनों के समानकालिक सहयोग से कर्म सम्पन्न होता है । जैसे एक ही काल में सर्दी और गर्मी दोनों होती हैं, उसी प्रकार एक ही समय में दैव और पुरुषार्थ दोनों काम करते हैं । इन दोनों में जो पुरुषार्थ है, उसका आरम्भ विज्ञ पुरुष को पहले करना चाहिये । जो अपने आप होना सम्भव नहीं है, उसको आरम्भ करने से मनुष्य कीर्ति का भागी होता है ।

खननान्मथनाल्लोके जलाग्निप्रापणं तथा ।

तथा पुरुषकारे तु दैवसम्पत् समाहिता ॥

जैसे लोक में भूमि खोदने से जल तथा काष्ठ का मन्थन करने से अग्नि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ करने पर दैव का सहयोग स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

नरस्याकुर्वतः कर्म दैवसम्पन्न लभ्यते ।

तस्मात् सर्वसमारम्भो दैवमानुषनिर्मितः ।

जो मनुष्य कर्म नहीं करता, उसको दैवी सहायता नहीं प्राप्त होती, अतः समस्त कार्यों का आरम्भ दैव और पुरुषार्थ दोनों पर निर्भर है ।

(महाभरते अनुशासन पर्वणि दानधर्म पर्व 5955 से 5979 तक)

कर्म त्याग का क्रम

शुभाशुभ भाव एवम् पाप-पुण्य कर्म से रहित निर्विकल्प निरंजन रूपी भगवान् आत्मा अनादि काल से संकल्प एवं कर्म से जकड़ी होती हुई, अनादि काल से भ्रमण कर रही है । उसको अपनी स्वाभाविक शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति के लिए जो क्रम है, वह क्रम अनन्तज्ञानी अनन्त तीर्थकरों ने स्वयं आचरण करके तथा दूसरे भव्य जीवों के लिए प्रतिपादन किया है । उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है । आचार्य गुणभद्र स्वामी आत्मानुशासन में इस क्रम का वर्णन करते हैं कि -

शुभाशुभे पुण्यपापे सुख-दुःखे च षट्त्रयम् ।

हितमाद्यमनुष्ठेयं शेषत्रयमथाहितम् ॥ 239 ॥ (आत्मा.शासन.)

"Good and bad (action), merit and demerit (karmas), and pleasure and pain (their fruits), are six. The first (of each) of the three (paris is beneficial and worth following; and the remaining three are injurious."

शुभ और अशुभ, पुण्य और पाप तथा सुख और दुःख - इस प्रकार से छह हुए । इन छहों के तीन युगलों में से आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख आत्मा के लिए हितकर होने से आचरण के योग्य हैं । तथा शेष तीन अशुभ, पाप तथा दुःख अहित कारण होने से छोड़ने के योग्य हैं ।

हिंसादि पाँच पाप स्वयं अशुभ स्वरूप, पापस्वरूप एवं दुःखस्वरूप हैं । आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र में एवम् सवार्थसिद्धि टीका करते हुए पूज्यपाद स्वामी भी कहते हैं -

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥ 91 ॥

"The destructive or dangerous (and) censurable (character of the 5 faults) injury, etc., in this (as also) in the next world (ought to be) meditated upon."

स्वर्ग और मोक्ष की प्रयोजक क्रियाओं का विनाश करने वाली प्रवृत्ति अपाय है । अवद्य का अर्थ गर्ह्य है । अपाय और अवद्य इन दोनों के दर्शन की भावना करनी चाहिए । शंका - कहाँ ? समाधान - हिंसा में । यथा - हिंसक निरन्तर उद्वेजनीय है । वह सदा वैर को बाँधे रहता है । इस लोक में वध, बन्ध और क्लेश आदि को प्राप्त होता है तथा परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है, इसलिए हिंसा का त्याग श्रेयस्कर है । असत्यवादी का कोई श्रद्धान नहीं करता । वह इस लोक में जिह्वाछेद आदि दुःखों को प्राप्त होता है तथा असत्य बोलने से दुःखी हुए अतएव जिन्होंने वैर बाँध लिया है उससे बहुत प्रकार की आपत्तियों को और परलोक में अशुभ गति प्राप्त होती है और गर्हित भी होती है । इसलिए असत्य वचन का त्याग श्रेयस्कर है । तथा परद्रव्य का अपहरण करने वाले चोर का सब तिरस्कार करते हैं ।

इस लोक में वह ताड़ना, मारना, बाँधना तथा हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपर के होठ का छेदना और सर्वस्वहरण आदि दुःखों को और परलोक में अशुभ गति को

प्राप्त होता है और गर्हित भी होता है । इसलिए चोरी का त्याग श्रेयस्कर है तथा जो अब्रह्मचारी है उसका चित्त मद से भ्रमता रहता है जिस प्रकार वन का हाथी, हाथिनी से जुदा कर दिया जाता है और विवश होकर उसे बन्ध, बन्धन और क्लेश आदि दुःखों को भोगना पड़ता है ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारी की होती है । मोह से अभिभूत होने के कारण वह कार्य और अकार्य के विवेक से रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नहीं करता । पर-स्त्री के आलिंगन और संसर्ग में ही इसको रति रहती है, इसलिए अब्रह्म का त्याग आत्महितकारी है । जिस प्रकार पक्षी मांस के टुकड़े को प्राप्त करके उसको चाहने वाले दूसरे पक्षियों के द्वारा पराभूत होता है तथा उसके अर्जन रक्षण और नाश से होने वाले अनेक दोषों को प्राप्त होता है जैसे ईधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती वैसे ही इसकी कितने ही परिग्रह से कभी भी तृप्ति नहीं होती । यह लोभातिरेक के कारण कार्य और अकार्य का विवेक नहीं करता, परलोक में अशुभ गति को प्राप्त होता है । तथा यह लोभी है, इस प्रकार से इसका तिरस्कार भी होता है इसलिए परिग्रह का त्याग श्रेयस्कर है । इस प्रकार हिंसा आदि दोषों में उपाय और अवद्य के दर्शन की भावना करनी चाहिए ।

दुःखमेव वा ॥ 10॥ (त.सू. अ.7)

हिंसादिक दुःख ही है ऐसा चिन्तन करना चाहिए ।

शंका — हिंसादिक दुःख कैसे है ?

समाधान— दुःख के कारण होने से ।

यथा — 'अन्न ही प्राण है' अन्न प्राणधारण का कारण है, पर कारण में कार्य का उपचार करके जिस प्रकार अन्न को ही प्राण कहते हैं या कारण होने से हिंसादिक दुःख है ।

यथा — 'धन ही प्राण है' यहाँ अन्नपान का कारण धन है और प्राण का कारण अन्नपान है । इसलिए जिस प्रकार धन को प्राण कहते हैं उसी प्रकार हिंसादिक असाता वेदनीय कर्म के कारण है और असाता वेदनीय दुःख का कारण है । इसलिए दुःख के कारण या दुःख के कारणके कारण हिंसादिक में दुःख का उपचार है । ये हिंसादिक दुःख ही है । इस प्रकार अपनी और दूसरों की साक्षीपूर्वक भावना करनी चाहिए ।

शंका— ये हिंसादिक सबके सब केवल दुःख ही हैं यह बात नहीं है, क्योंकि विषयों के सेवन में सुख उपलब्ध होता है ?

समाधान— विषयों के सेवन से जो सुखाभास होता है वह सुख नहीं है, किन्तु दाद को खुजलाने के समान केवल वेदना का प्रतिकार मात्र है ।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी स्वयंभू स्तोत्र में पुण्य उपादेय है ऐसा वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं —

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ ।

दोषाय नालं कणिका विषस्य न दूषिका शीत शिताम्बुराशौ ॥99 ॥

(स्वयंभू स्तोत्र)

आप पूजने योग्य, जिन भगवान् की पूजा करते हुए किसी भक्तजन को बहुत पुण्य का ढेर प्राप्त होता है, उसमें आरम्भ जनित पाप का कुछ अंश भक्त को दोषी नहीं बना सकता है । जिस समुद्र में ठण्डा व सुखदाई जल भरा है उसमें विष की एक कणी जल को विषमयी नहीं कर सकती है ।

यहाँ पर आचार्य प्रवर समन्तभद्र स्वामी ने पुण्य क्रिया सम्पादन के समय में यत्किञ्चित् जो पाप हो जाता है, उस पाप को दोषप्रद नहीं कहा है । आध्यात्मिक दृष्टि व निश्चय नय से भले ही दोषप्रद है किन्तु संसारी जीव सतत् केवल पाप ही संग्रह करता रहता है पुण्य नहीं । पुण्य क्रियाओं से पाप का निरोध होता है, आत्म विशुद्धि होती है, असंख्यात गुणित कर्म निर्जरा होती है, इसलिए गृहस्थ अपेक्षा तथा सरागसंचयी मुनि की अपेक्षा पुण्य क्रियाएँ एवं पुण्य कर्म हेय नहीं है । पुण्य क्रियाएँ परम्परा से मोक्ष के लिए कारण हैं, परन्तु पुण्य के उदय से जो धन सम्पत्ति, विभुति, भोग सामग्रियों की उपलब्धि होती है, उसमें ममत्व भाव रखकर आसक्तिपूर्वक भोगने से कर्मबन्ध होता है । परन्तु पुण्य से प्राप्त योग्य साधनों से आत्मकल्याण में लगने से मोक्ष मार्ग प्रशस्त हो जाता है । मिथ्यादृष्टि, पुण्य फल प्राप्त करके आसक्तिपूर्वक भोगों को भोगता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि पुण्य सामग्री प्राप्त करके मोक्ष मार्ग को प्रशस्त करता है अर्थात् पुण्य के फल को नहीं भोगना चाहता है । इसलिए पुण्य एवं पुण्य क्रियाएँ हेय नहीं हैं किन्तु पुण्य के फल को आसक्ति पूर्वक भोगना हेय है । आचार्य श्री ने कहा भी है —

“यद्यप्यसद्भूत व्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापे परस्पर भिन्ने भवतस्तथैवाशुद्ध निश्चयेन भावपुण्यपापे भिन्न भवतस्तथापि शुद्ध निश्चयनयेन पुण्यपाप रहित शुद्धात्मनः सकाशाद्विलक्षणे सुवर्णलौहनिगलवद्बन्ध प्रति समाने एव भवतः । एवं नय विभागेन योऽसौ पुण्यपापद्वयं समानं न मन्यते स निर्मोह शुद्धात्मनो

विपरीतेन मोहन मोहितः सन् संसारे परिभ्रमति इति । अत्राह प्रभाकर भट्ट । तर्हि ये केचेन पुण्यपापद्वयं समानं कृत्वा तिष्ठन्ति तेषां किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति । भगवानाह । यदि शुद्धनुभूति लक्षणं त्रिगुप्तिगुप्त वीतरागनिर्विकल्प परमसमाधि लब्ध्वा तिष्ठन्ति तदा समंतमेव । यदि पुनस्तथाविधामवस्थामलभमाना अपि संतो गृहस्थावस्थायां दानपूजादिकं त्यजन्ति तपोधनावस्थयां षड्भावशयकादिकं च त्यक्त्योभय भ्रष्टाः सन्तः तिष्ठन्ति तदा दूषणमेवेति तात्पर्यम् ।”

(परमात्मप्रकाश गाथा 55 टीका)

यद्यपि सद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं और अशुद्ध निश्चय से भावपुण्य और भावपाप ये दोनों भी आपस में भिन्न हैं तो भी शुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप रहित शुद्धात्मा से दोनों ही भिन्न हुए बन्ध रूप होने से दोनों समान ही हैं । जैसे सोने की बेड़ी और लोहे की बेड़ी, ये दोनों ही बन्ध का कारण हैं- इससे समान हैं । इस तरह नय विभाग से जो पुण्य पाप को समान नहीं मानता, वह निर्माही शुद्धात्मा से विपरीत जो मोह कर्म उससे मोहित हुआ संसार में भ्रमण करता है । ऐसा कथन सुनकर प्रभाकर भट्ट बोले, यदि ऐसा ही है, तो कितने ही परमतवादी पुण्य-पाप को समान मानकर स्वच्छन्द होते रहते हैं, उनको तुम दोष क्यों देते हो ?

तब योगीन्द्र देव ने कहा - जब शुद्धात्मानुभूति स्वरूप तीन गुप्ति से गुप्त वीतराग निर्विकल्प समाधि को पाकर ध्यान में मग्न हुए पुण्य पाप को समान मानकर जानते हैं, तब तो जानना योग्य है । परन्तु जो मूढ़ परम समाधि को न पाकर भी गृहस्थ अवस्था में दान-पूजादि शुभ क्रियाओं को छोड़ देते हैं और मुनि पद में छह आवश्यक कर्मों को छोड़ते हैं, वे दोनों बातों से भ्रष्ट हैं । वे न तो यती हैं, न श्रावक हैं । वे निन्दा योग्य ही हैं । तब उनको दोष ही है ऐसा जानना ।

यहाँ शिष्य शंका करता है कि आचार्य भगवन् ! ध्यान तो मोक्ष का मार्गभूत है अर्थात् मोक्ष का कारण है और जो मोक्ष को चाहने वाला पुरुष है, उसको पुण्य बन्ध कारण होने से व्रत भी त्यागने योग्य है अर्थात् व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है और पुण्य बन्ध संसार का कारण है, इसलिए मोक्षार्थी व्रतों का त्याग करता है और अपने तप, श्रुत और व्रतों को ध्यान की पूर्णता के कारण कहे, सो यह आपका कथन कैसे घटता है ? (सिद्ध होता है) अब इस शंका का उत्तर दिया जाता है कि - केवल

व्रत ही त्यागने योग्य है ऐसा नहीं किन्तु पाप बन्ध के कारण जो हिंसादि भेदों के धारक अव्रत हैं वे भी त्यागने योग्य हैं । सो ही पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि हिंसा आदि अव्रतों से पाप का बन्ध होता है और अहिंसादि व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है, तथा मोक्ष जो है वह पाप व पुण्य इन दोनों के नाश से होता है, इस कारण मोक्ष को चाहने वाला पुरुष जैसे अव्रतों का त्याग करता है, वैसे ही अहिंसादि व्रतों का भी त्याग करे । विशेष यह है कि मोक्षार्थी पुरुष पहले अव्रतों का त्याग करके इसके पश्चात् व्रतों का धारक होकर निर्विकल्प समाधि (ध्यान) रूपआत्मा के परम पद को प्राप्त होकर तदनन्तर एकदेश व्रतों का भी त्याग कर देता है । यह भी उन्हीं श्री पूज्यपाद स्वामी ने समाधिशतक में कहा है कि “मोक्ष को चाहने वाला पुरुष अव्रतों का त्याग करके व्रतों में स्थित होकर आत्मा के परम पद को पावे और उस आत्मा के परम पद को प्राप्त होकर उन व्रतों का भी त्याग करे ।”

इस पूर्व कथन में विशेष यह है कि मन, वचन, काय की गुप्ति रूप और निज शुद्धात्मा के ज्ञानस्वरूप जो निर्विकल्प ध्यान है उसमें व्यवहार रूप जो एक देशव्रत है उनका त्याग किया है और जो सम्पूर्ण शुभ तथा अशुभ को निवृत्तिरूप निश्चय व्रत है, उनको स्वीकार ही किया गया है अर्थात् त्याग नहीं किया गया है । प्रसिद्ध जो अहिंसादि महाव्रत है वे एक देशव्रत कैसे हो सकते हैं ? ऐसी शंका करो तो समाधान रूप उत्तर यह है कि अहिंसा महाव्रत में यद्यपि जीवों के घात (मारने) से निवृत्ति (रहितता) है, तथापि जीवों की रक्षा करने में प्रवृत्ति है । इसी प्रकार सत्यमहाव्रत में यद्यपि असत्य का त्याग है तो भी सत्य वचन में प्रवृत्ति है और अचौर्यमहाव्रत में यद्यपि नहीं दिये हुए पदार्थ को ग्रहण करने का त्याग है, तो भी दिये गये पदार्थों को ग्रहण करने में प्रवृत्ति है । इत्यादि एक देश प्रवृत्ति की अपेक्षा से ये पाँचों महाव्रत हैं । इन एक देश रूप व्रतों का मन, वचन और काय की गुप्ति स्वरूप जो विकल्परहित ध्यान है उस समय में त्याग है और समस्त शुभ तथा अशुभ की निवृत्ति रूप जो निश्चय व्रत है, उसका त्याग नहीं है ।

प्रश्न - त्याग शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर - जैसे हिंसा आदि रूप पाँच अव्रतों में रहितपना है उसी प्रकार जो अहिंसा आदि पंचमहाव्रत रूप एक देश व्रत है उनमें रहितपना है । यही यहाँ त्याग शब्द का अर्थ है । इन एक देशव्रतों का त्याग किस कारण से होता है ? ऐसा पूछो तो उत्तर यह है कि मन, वचन और काय इन तीनों की गुप्तिरूप जो अवस्था है, उसमें

प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप जो विकल्प है उसका स्वयं ही अवकाश नहीं है, अर्थात् मन, वचन और काय की गुप्ति रूप ध्यान में कोई उत्तर का भी विकल्प नहीं होता और अहिंसादि महाव्रत विकल्परूप है इसीलिए वे त्रिगुप्ति ध्यान में नहीं रह सकते हैं और जो दीक्षा के पश्चात् दो घटिका (घड़ी) प्राणकाल में ही भरतचक्रवर्ती मोक्ष पधारे हैं उन्होंने भी जिन दीक्षा को ग्रहण करके क्षणमात्र (थोड़े समय तक) विषय और कषायों की रहिततारूप जो व्रत का परिणाम है उसको करके तत्पश्चात् शुद्धोपयोगरूप जो रत्नत्रय उस स्वरूप जो निश्चय नाम का धारक और वीतराग सामायिक नाम का धारक निर्विकल्प ध्यान है उसमें स्थिर होकर केवल ज्ञान को प्राप्त हुए हैं। परन्तु भरत जी के थोड़े समय व्रत परिणाम रहा इस कारण लोग भरत जी के व्रत परिणाम को नहीं जानते हैं। अब उसी श्रीभरत जी की दीक्षा के विधान का कथन करते हैं।

श्री वीर वर्द्धमान स्वामी तीर्थंकर परमदेव के समवशरण में श्रेणिक महाराज ने प्रश्न किया कि 'हे भगवन ! श्री भरत चक्रवर्ती ने जिनदीक्षा को ग्रहण करने के पीछे कितने काल में केवलज्ञान उत्पन्न किया ? इस पर गौतमस्वामी गणधर देव ने उत्तर दिया कि हे श्रेणिक राजन् ! बंध के कारणभूत जो केश (बाल) हैं उनको पाँच मुष्टियों से उखाड़ते ही अर्थात् पंच मुष्टि लोंच करने के अनन्तर ही श्री भरत चक्रवर्ती केवलज्ञान को प्राप्त हुए।' (वृहद् द्रव्य संग्रह पृ. 181, 182)

तत्राप्यद्यं परित्याज्यं शौषो न स्तः स्वतः स्वयम् ।

शुभं च शुद्धे त्यक्त्वान्ते प्राप्नोति परमं पदम् ॥ 240 ॥ (आत्मा. शासन)

"Then, again the first (good-activity) also is to be given up. The remaining (two sets) Cease to exist by themselves. By giving up the good (activity), and attaining the summit of purity one gets the supreme status (liberation).

पूर्व लोक में जिन तीन को-शुभ, पुण्य और सुख को हितकारक बतलाया है उनमें भी प्रथम का (शुभ का) परित्याग करना चाहिए। ऐसा करने से शेष रहे पुण्य और सुख ये दोनों स्वयं ही नहीं रहेंगे। इस प्रकार शुभ को छोड़कर और शुद्ध स्वभाव में स्थित होकर जीव अन्त में उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

सुखं-दुखं वा स्यादिह विहित कर्मोदयवशात् ।

कुतः प्रीतिस्तापः कुत इत विकल्पाद्यति भवेत् ।

उदासीनस्तस्य प्रगलति पुराणं न हि नवं,
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥263 ॥

(आत्मा.शासन)

"In this world pleasures and pain arise out of the fruition of past Karmas. If one becomes unattached to Considerations as to whom he should love and whom he should, hate then his past Karmas fall off, and a new one does not bind him. He, learned (asectic) shines forth like a jewel."

संसार में पूर्वकृत कर्म के उदय से जो भी सुख अथवा दुःख होता है उससे प्रीति भी क्यों, इस प्रकार के विचार से यदि जीव उदासीन होता है- राग और द्वेष से रहित होता है तो उसका पुराना कर्म तो निजीर्ण होता है और नवीन कर्म निश्चय से बन्ध को प्राप्त नहीं होता है। ऐसी अवस्था में यह संवर और निर्जरा से सहित जीव अतिशय निर्मल मणि के समान प्रकाशमान होता है स्व औप पर को प्रकाशित करने वाले केवलज्ञान से सुशोभित होता है।

यस्य पुण्यं च पापं च निष्फल गलति स्वयम् ।

स योगी तस्य निर्वाणं न तस्य पुनरास्रवः ॥246 ॥

"He, whose merit and demerit (Karmas) exhaust themselves without bearing fruit is a (true) asectic. He will never have the Karmic inflow, and will attain liberation."

जिस वीतराग के पुण्य और पाप दोनों फलदान के बिना स्वयं अविपाक निर्जरा स्वरूप से निर्जीर्ण होते हैं, वह योगी कहा जाता है और उनके कर्मों का मोक्ष होता है, किन्तु आश्रव नहीं है।

शुद्धरूप से शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिकोण से भगवान् आत्मा निरास्रव निर्बंध तथा संवर, निर्जरा, मोक्ष विकल्प से रहित होने पर भी अनादिकाल से कर्म के आस्रव एवं बंध के कारण संसार अवस्था में परतन्त्र होकर अनन्त दुःख अनुभव कर रही है। जब तक यह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है, तब तक मोक्ष की बात तो दूर ही है परन्तु मोक्ष के कारणभूत संवर एवं निर्जरा को भी नहीं कर पाता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आंशिक संवर एवं निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है। उत्तरोत्तर आध्यात्मिक सोपान का आरोहण करता जाता है, तब उत्तरोत्तर संवर एवं निर्जरा होती जाती है।

यह संवर, निर्जरा विशेषतः पाप कर्मों की होती है परन्तु पुण्य कर्मों की नहीं होती है क्योंकि भाव विशुद्धि से प्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग घात नहीं होता है। सिद्धान्त शास्त्र कषायपाहुड़ के चूर्णिसूत्र में यतिवृषभाचार्य स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं -

“सुभागं कम्माणमणुभागघादोणत्थि”

-शुभ कर्मों का अनुभागघात नहीं होता।

(जय धवला पुस्तक 13 गाथा 115 की चूर्णिका 26 पृ. 121)

भाव विशुद्धि के माध्यम से पुण्यकर्म के अनुभाग घात तो नहीं होता है परन्तु वृद्धि होती है उस समय में पाप कर्मों का अनुभाग क्षीण होता जाता है।

“अणुभाग खंडयमप्पसत्थ कम्मंसाणमणंतभागा।”

(कषाय पाहुड़ पुस्तक 12 गाथा 94 चूर्ण सूत्र 129 पृ. 161)

अणुभाग कंडयमप्पसत्थाणं चेव कम्माणं होइ पसत्थ कम्माणं विसोहीए अणुभागबडिड मोत्तूण तग्घादाणुववत्तीदो ॥

अनुभाग काण्डक अप्रशस्त कर्मों का ही होता है, क्योंकि विशुद्धि के कारण प्रशस्त कर्मों की अनुभाग वृद्धि को छोड़कर उसका घात नहीं बन सकता।

“णवरि विसोहीए अणंतगुणाए बडिडदि, सुहाणं कम्मंसाणमणंत गुणवडिडबन्धो, असुहाणं कम्माणमणंतगुणहाणि बंधो, बंधे पुण्णे पलिदोवमस्स संखेज्जदि भागेण हायदि ॥”

(कषायपाहुड़ पुस्तक 13 गाथा 114 चूर्ण 28 पृ. 22)

इतनी विशेषता है कि वह प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। शुभ कर्मांशों का (अनुभाग की अपेक्षा) अनंतगुणवृद्धि के लिए बन्ध होता है तथा अन्तर्मुहूर्त काल तक होने वाले एक स्थिति बन्ध के पूर्ण (समाप्त) होने पर पल्योपम के संख्यातवें भाग कम स्थिति बंध करता है।

“पडिसमयमणंत गुणाए विसोहीए वडिडमाणो अधापवत्तकरणो सुभाणं कम्माणं सादादीणमणंतगुण वडिदीए अमुभागबन्धं कुणइ। असुभाणं पंचकम्माणं पंचणाणावरणादीणमणंतगुण हाणीए अणुभागबंधमोवडिडदि। अण्णं च टिदिबंधे अंतोमुहुत्तकाल-पडिबद्धे पुण्णं अण्णं टिदिबंधमाटवेमाणो पलिदोवमस्स संखे ज्जदि भागेण हाइदूण बंधइ विसोहि परिणामस्सटिदिबंधवुडिड विरुद्ध सहावतादो त्ति।”

(कषायपाहुड़ पुस्तक 13 गाथा 114 चूर्ण 29 पृ. 22)

प्रति समय अनंतगुणी विशुद्धि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अधःप्रवृत्तकरण में स्थित जीव सातावेदनीय आदि शुभ कर्मों का अनंतगुणी वृद्धि के लिए हुए अनुभाग बन्ध करता है। पाँच ज्ञानावरणादि अशुभ कर्मों का अनंतगुणी हानिरूप से अनुभाग बन्ध का अपवर्तन करता है तथा अन्य अन्तःमुहूर्त काल सम्बन्धी स्थिति बन्ध के पूर्ण होने पर अन्य स्थिति बन्ध का आरम्भ करता हुआ पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति को घटाकर बाँधता है, क्योंकि विशुद्धि रूप परिणाम स्थिति बन्ध की वृद्धि के विरुद्ध स्वभाव वाला होता है।

असुहाणं पयडीणं अणंतभागा रसस्स खंडाणि।

सुहपयडीणं णियमाणत्थि त्ति रसस्स खण्डाणि ॥80 ॥

अप्रशस्त प्रकृतियों के अनन्त बहुभाग का घात होता है। प्रशस्त प्रकृतियों के अनुभाग का घात नियम से नहीं होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में जीव अनन्तकाल रहते हुए भी जीव पुण्यानुबंधीपुण्य का सम्पादन कभी भी नहीं कर पाता है। चतुर्थ गुणस्थान से पुण्यानुबंधी पुण्य का सम्पादन प्रारम्भ होता है, साथ-साथ मिथ्यात्व गुणस्थान से असंख्यातगुणि पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान से असंख्यातगुणित पापकर्मों की निर्जरा भी होती है। पंचमगुणस्थान में प्रशस्तप्रकृतियों का अनुभाग चतुर्थगुणस्थान से अधिक होता है एवं चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थान में पाप कर्मों की निर्जरा असंख्यात् गुणित अधिक होती है। छठे गुणस्थान में पंचम गुणस्थान से अधिक पाप कर्मों की निर्जरा अधिक से अधिक होती है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर गुणस्थानों यही क्रम चलता रहता है। उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पाप कर्मों का क्षय होता जाता है तथा विशिष्ट पुण्य कर्मों का विशेषतः क्षय नहीं होता है। तेरहवें गुणस्थान प्राप्त करते-करते सम्पूर्ण घातिकर्म रूपी पापकर्मों का क्षय हो जाता है। वहाँ पर विशिष्ट पुण्यकर्म अमृत के समान अनन्त अनुभाग को उदय में लिये हुए आते हैं।

अनेक पुण्यकर्म का तीव्र उदय 13वें गुणस्थान में होते हुए भी आत्मा के अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य रूपी अनुजीवी गुणों का घात नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि विशिष्ट पुण्यकर्म आत्मा के घातक नहीं है। भले पुण्यकर्म रहते हुए सम्पूर्ण मोक्ष नहीं मिलता है तो भी जीवन-मुक्त होने के लिए अनन्त चतुष्टय का अनुभव करने के लिये कोई बाधक नहीं है। यदि बाधक होता है तो जीवनमुक्त तेरहवें गुणस्थान में अनन्त चतुष्टय का अनुभव जीव नहीं कर सकता था। इस अपेक्षा जैन

धर्म में पुण्य को साक्षात् बंध एवं संसार का कारण कहा है क्योंकि पुण्य की सत्ता चौदहवें गुणस्थान तक है और चौदहवें गुणस्थान तक संसार अवस्था अर्थात् बंध अवस्था है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी पुण्य पर पदार्थ होने से और पर पदार्थ का संयोग अशुद्ध अवस्था एवं वैभाविक अवस्था को उत्पन्न करने के कारण पुण्य बंध हेय एवं संसार का कारण है। यदि एकान्ततः सातिशय पुण्यबंध संसार का कारण होता तब मिथ्यादृष्टि से अविरतसम्यग्दृष्टि अधिक संसारी होता, उससे पंचम गुणस्थानवर्ती अधिक से अधिक संसारी होते क्योंकि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में अधिक से अधिक पुण्य बंध होता है, परन्तु आगम सिद्ध सिद्धान्त यह है कि उत्तरोत्तर गुणस्थानों में पुण्य का अनुभाग अधिक होने पर उत्तरोत्तर गुणस्थानवर्ती जीव पूर्व-पूर्व गुणस्थानवर्ती जीवों से परीत से परीत संसारी है।

कर्मक्षय क्रम

असंयत सम्यकदृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन चार गुण स्थानों में से किसी एक गुणस्थान में मोहनीय की सात प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होकर क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने के लिये सम्मुख होता हुआ अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में अध-प्रवृत्तकरण को प्राप्त होकर अपूर्वकरण के प्रयोग द्वारा क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान में अधः प्रवृत्तकरण को प्राप्त होकर अपूर्वकरण के प्रयोग द्वारा क्षपक अपूर्वकरण गुणस्थान संज्ञा का अनुभव करके और वहाँ पर नूतन परिणामों की विशुद्धिवश, पापप्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को कृष करके तथा शुभकर्मों के अनुभाग की वृद्धि करके अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति द्वारा अनुवृत्तितबादरसाम्पराय क्षपक गुणस्थान पर आरोहण करके तथा वहाँ आठ कषायों का नाश करके तथा नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से नाश करके छः नोकषायों का पुरुषवेद में संक्रमण द्वारा नाश करके तथा पुरुषवेद का क्रोध संज्वलन में, क्रोध संज्वलन का मान संज्वलन में, मान संज्वलन का माया संज्वलन में और माया संज्वलन का लोभ संज्वलन में क्रम से बादरकृष्टि विभाग के द्वारा संक्रमण करके तथा लोभ संज्वलन को कृष करके सूक्ष्म-साम्पराय क्षपकत्व का अनुभव करके समस्त मोहनीय का निर्मूल नाश करके क्षीणकषाय गुणस्थान पर आरोहण करके, मोहनीय के भार को उतारकर क्षीणकषाय गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला का नाश करके तथा अन्तिम समय में पाँच ज्ञानावरण,

चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का अन्त करके तदनन्तर ज्ञानदर्शन स्वभाव रूप केवल ज्ञान पर्याय को प्राप्त होता है।

कर्म का अभाव दो प्रकार का है - यत्न साध्य और अयत्न साध्य। इनमें से चरम देह वाले के नरकायु तिर्यचायु और देवायु का अभाव यत्न साध्य नहीं होता क्योंकि उससे उनका सत्व उपलब्ध नहीं होता। यत्न साध्य अभाव इससे आगे कहते हैं-असंयतसम्यक् दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में सात प्रकृतियों का क्षय करता है। पुनः निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृन्धि, नरकगति, तिर्यचगति, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरन्द्रिय जाति, नरकगति, प्रायोग्यानुपूर्वी, तिर्यचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, आतप उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण नाम वाली सोलह कर्म प्रकृतियों का अनिवृत्तिबादर-साम्पराय गुणस्थान में एक साथ क्षय करता है।

इसके बाद उसी गुणस्थान में आठ कषायों का नाश करता है। पुनः वहीं पर नपुंसकवेद और स्त्रीवेद का क्रम से क्षय करता है तथा छः नोकषायों को एक ही प्रहार के द्वारा गिरा देता है। तदनन्तर पुरुषवेद संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान और संज्वलनमाया वहाँ पर क्रम से अत्यन्त क्षय को प्राप्त होते हैं तथा लोभ संज्वलन सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान के अन्त में विनाश को प्राप्त होता है। निद्रा और प्रचला क्षीणकषायबीतरागछद्मस्थगुणस्थान के उपान्त्य समय में प्रलय को प्राप्त होते हैं।

पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तराय कर्मों का उसी गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय होता है। कोई एक वेदनीय, देवगति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजसशरीर, कार्माणशरीर, पाँच बन्धन, पाँच संघात, छहसंस्थान, औदारिकशरीर अंगोपांग, वैक्रियिकशरीरअंगोपांग, आहारकशरीर अंगोपांग, छहसंहनन, पाँच प्रशस्त वर्ण, पाँच अप्रशस्त वर्ण, दो गन्ध, पाँच प्रशस्त रस, पाँच अप्रशस्त रस, प्रशस्त और अप्रशस्त आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, अप्रशस्तविहायोगति अपार्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भंग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशः कीर्ति, निर्माण और नीच गोत्र नाम वाली 72 प्रकृतियों को अयोग केवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में विनष्ट करता है तथा कोई एक वेदनीय, मनुष्य आयु, मनुष्य गति, पंचेन्द्रियजाति, मनुष्यगति प्रायोग्यानुपूर्वी, त्रस बादर, पर्याप्त, सुभग आदेय, यशः, कीर्ति, तीर्थकर और उच्चगोत्र नामवाली तेरह प्रकृतियों का अयोग केवली गुणस्थान के अन्तिम समय में वियोग होता है।

(स्वार्थसिद्धि टीका 10 अध्ययय प्रथम सूत्र, पृ. 256)

7

विभिन्न दर्शनों में वर्णित कर्म सिद्धान्त

जीवन में उत्थान-पतन, सुख-दुःख, हानि-लाभ, सर्व जीव के लिए अनुभवगम्य होने के कारण उसके हेतु भूत कर्म भी अनुभवगम्य स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है। इसलिये प्रायः प्रत्येक दार्शनिक को कर्म सिद्धान्त को कुछ न कुछ रूप से मानना व स्वीकार करना ही पड़ा है। हम निम्न में वैदिक दर्शन, बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन से कुछ कर्म सिद्धान्त की सूक्तियाँ उद्धृत कर रहे हैं।

भाग्नाशस्य करण्डपीडिततनोम्लानेन्द्रियस्य क्षुधा
कृत्वाऽऽखुविवर स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः ।
तृप्तस्तत्पिशितेन सत्व रमसौ तेनैव यातः पथा
लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौक्षये कारणम् ॥85 ॥

सज्जनों ! देखो, जिस पिटारे में साँप बन्द था और भूख से व्याकुल था, उस पिटारी में रात्रि में चूहे ने प्रवेश किया और उसमें जाकर वह उस भूखे साँप का आहार बन गया। वह साँप भी उसके माँस से तृप्त होकर उसी छिद्र के मार्ग से निकल भागा। इससे मालूम होता है कि प्राणियों की वृद्धि तथा क्षय होने में भाग्य ही कारण है। (भर्तृहरि शतक)

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावणो वारणः ।
इत्येश्वर्यवलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परेः संगरे ।
तद् व्यक्तं वरमेवदैवशरणंधिग्धिवृथा पौरुषम् ॥89 ॥

साक्षात् बृहस्पति जिसके नेता हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, देवगण जिसके सैनिक हैं, स्वर्ग जिसका किला है, ऐरावत जिसका हाथी है, इस तरह सर्व विध ऐश्वर्य तथा बल से सम्पन्न इन्द्र भी जब युद्ध में शत्रुओं से हार गया तो इससे यही प्रतीत होता है कि दैव ही रक्षक ठीक है, निरर्थक पौरुष को अनेक बार धिक्कार है।

खल्वाटो दिसेश्वरस्य किरणैः सन्तापिते मस्तके
घाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्न सशब्दं शिरः
प्रायोगच्छति यत्र भाग्य रहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ॥ 91 ॥

गंजा (जिसके सिर पर बाल नहीं) हुआ आदमी सूर्य की किरणों से बचने के लिए छाया युक्त स्थान को खोजता हुआ ताड़ के पेड़ के नीचे आया, वहाँ भी एक फल के गिरने से आवाज के साथ उसका सिर फट गया। ठीक है भाग्यहीन पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं-वहीं विपत्तियाँ भी पहुँचती हैं।

शशि दिवाकर योग्रहपीडनं गज भुजंगमयोरपि बन्धनम् ।

मति मताञ्चविलोक्य दरिद्रतां विधिरहोबलवानितिमेमतिः ॥ 92 ॥

सूर्य चन्द्रमा का राहू द्वारा ग्रसा जाना, हाथी और साँप का बाँधा जाना और विद्वानों की दरिद्रता आदि को देखकर मैं यही समझता हूँ कि भाग्य ही बलवान है।

सृजति तावदशेषगुणाकरं, पुरुषरत्नमालङ्करणं भुवः ।

तदपि तत्क्षणभंगि करोति, चेदहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥93 ॥

ब्रह्मा की कितनी बड़ी मूर्खता है कि वह गुणों के समस्त आकार और पृथ्वी के भूषण स्वरूप जिस पुरुष रत्न को उत्पन्न करता है उसी को थोड़ी देर में नष्ट होने वाला बना देता है।

नमस्यायो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा,

विधिर्वन्द्य सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः ।

फलं कर्मायत्तं किममर गणैः किञ्च विधिना

नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥95 ॥

हम लोग देवताओं को नमस्कार करते हैं, पर वे भी दुष्ट विधि के ही आधीन हैं इसलिए यदि हम विधाता को नमस्कार करते हैं तो वह विधाता भी स्वतन्त्रतया हमको फल देने में समर्थ नहीं है, कर्म के अनुसार ही फल देता है, इसलिए जब फल कर्म के ही अनुसार मिलता है तब हमें क्या मतलब देवताओं से और क्या मतलब विधाता से ? उस कर्म को ही क्यों न नमस्कार करें जिस पर विधाता का भी कोई वश नहीं चलता।

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड भाण्डोदरे

विष्णुर्येन दशावतार गहने क्षिप्तो महासंकटे ।

रुद्रो येन कपाल पाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः

सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मे नमः कर्मणे ॥96 ॥

जिसने ब्रह्माण्ड रूपी बर्तन के भीतर ब्रह्मा को कुम्हार की तरह नियुक्त किया, विष्णु को दशावतार रूप ग्रहण करने रूप महा विपत्ति में डाल दिया, जिसने महादेव

आदि पर पदार्थ अपना नहीं है, उसे 'स्व' अर्थात् अपना मानना ।

सुखस्यदुःखस्य न कोऽपि दाता, परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अहं करोमीति वृथाऽभिमानः स्वकर्मसूत्रेग्रथितो हि लोकः ॥ सूक्तिकण - 6/6

(वनवास के लिए कैकेयी को दोषी ठहराने वाले निषादराज गुह को दिया गया लक्ष्मण जी का उपदेश) सुख और दुःख को देने वाला कोई और नहीं है । कोई अन्य सुख-दुःख देता है - यह समझना कुबुद्धि है । "मैं ही करता हूँ" - यह मनुष्य का वृथा अभिमान है क्योंकि संसार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों की डोरी में बँधे हुए हैं ।

यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,

एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति ॥ तै. आ. ना. 10/9

जिस प्रकार सुपुष्पित वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है, उसी प्रकार पुण्य कर्म की सुगन्ध भी दूर-दूर तक फैल जाती है ।

(1) रागो रजो न च पन रेणु वुच्चति,

रागस्सेतं अधिवचनं रजोति ।

दोसो रजो न च पन रेणु वुच्चति,

दोसस्सेनं अधिवचनं रजो ति ॥ (विसुद्धिमग्ग - 12/63)

राग ही रज (धूल) है, रेणु (धूल) रज नहीं है । रज यह राग का ही नाम है ।

(2) सम्मा आरब्धं सब्बासंपत्तानं मूलं होति । (विसुद्धिमग्ग-14/137)

सम्यक् प्रकार (अच्छी तरह) से आरम्भ किया गया कर्म ही सब सम्पत्तियों का मूल है ।

(3) यथापि मूले अनुपद्दवे दल्हे,

छिन्नो पि रुक्खो पुनरेव रूहति

एवमपि तण्हानुसये अनूहते,

निब्बत्तति दुक्खमिदं पुनप्पुनं ॥ (विसुद्धिमग्ग-16/62)

जैसे सुदढ़ मूल (जड़) के बिल्कुल नष्ट हुए बिना कटा हुआ वृक्ष फिर भी उग जाता है, वैसे ही तृष्णा एवं अनुशय (मल) के समूल नष्ट हुए बिना यह दुःख भी बार-बार उत्पन्न होता रहता है ।

(4) उभो निस्साय गच्छन्ति, मनुस्सा नावा च अण्णवे ।

एवं नामञ्च रूपञ्च, उभो अञ्जोञ्जनिस्सिता ॥ (विसुद्धि-18/36)

जिस प्रकार मनुष्य और नौका -दोनों एक दूसरे के सहारे समुद्र में गति करते हैं, उसी प्रकार संसार में नाम और रूप दोनों अन्योन्याश्रित हैं ।

(5) उपधिनिदाना पभवंति दुक्खा । (सूक्तिकण - 2/4/19)

दुःखों का मूल उपाधि है ।

(6) यो वे अविद्धा उपधिं करोति । (सूक्तिकण - 2/4/20)

जो मूर्ख है वही उपाधि करता है ।

(7) यं अकुसलं तं अभिनिवज्जेय्यासि,

यं अकुसलं तं समादाय वत्तेय्यासि,

इदं खो, तात, तं अरियं चक्कवत्तिवतं । (दीर्घनिकाय - 3/3/1)

'जो बुराई है उसका त्याग करो और जो भलाई है उसको स्वीकार कर पावन करो' - तात, यही आर्य (श्रेष्ठी) चक्रवर्ती व्रत है ।

(8) पाणातिपातो अदिन्नादानं, मुसावादो च वुच्चति ।

परदारगमनं चैव, नप्पसंसन्ति पण्डिता ॥ (दीर्घनिकाय - 3/8/1)

जीवहिंसा, चोरी, झूठ और परस्त्रीगमन - ये कलुषित कर्म हैं । इन कर्मों की पंडितजन प्रशंसा नहीं करते ।

(9) छन्दागति गच्छन्तो पापकम्मं करोति,

दोसागतिं गच्छन्तो पापकम्मं करोति,

मोहागति गच्छन्तो पापकम्मं करोति,

भयागति गच्छन्तो पापकम्मं करोति । (दीर्घनिकाय-3/8/2)

मनुष्य राग के वश होकर पापकर्म करता है, द्वेष के वश होकर पापकर्म करता है, मोह के वश होकर पापकर्म करता है, भय के वश होकर पापकर्म करता है ।

(10) अप्पमत्ता सतीमन्तो, सुसीला होथ भिक्खवो । (दीर्घ-2/3/17)

भिक्षुओं ! सदैव अप्रमत्त, स्मृतिवान् (सावधान) और सुशील-(सदाचारी) होकर रहो ।

(11) पच्चवेक्खित्वा पक्खवेक्खित्वा कायेन कम्मं कातव्वं ।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कातव्वं ।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कातव्वं ॥

2/11/2 ॥ (मज्झिमनिकाय)

अच्छी तरह देख-परखकर काया से कर्म करना चाहिए ।

अच्छी तरह देख-परखकर वचन से कर्म करना चाहिए ।

अच्छी तरह देख-परखकर मन से कर्म करना चाहिए ।

(12) यो खो, महाराज, कायसमाचारो अत्तव्याबाधाय-पि संवत्तति,
परव्याबाधाय पि संवत्तति, उभयव्याबाधायपि संवत्तति,
तस्स अकुसला धम्मा अभिवड्ढन्ति, कुसला धम्मा परिहायन्ति ।
(मज्झिमनिकाय) -2/38/1)

महाराज ! जो कायिक आचरण अपनी पीड़ा के लिये होता है, पर पीड़ा के लिये होता है, दोनों की पीड़ा के लिये होता है, उससे अकुशल धर्म (पाप) बढ़ते हैं, कुशल धर्म नष्ट हो जाते हैं ।

(13) उपनीयति जीवितमप्पमायु,
जरुरपनीतस्स न सन्ति ताणा ।

एतं भयं मरणे पेक्खमानो,

पुञ्जानि कयिराथ सुखावहानि ॥ 1/1/3 ॥ (संयुक्तनिकाय)

जीवन बीत रहा है, आयु, बहुत थोड़ी है, बुढ़ापे से बचने के लिये कोई उपाय नहीं है । मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिये ।

(14) अच्छेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो ।

वयोगुणा अनुपुव्वं जहन्ति ।

एतं भयं मरणे पेक्खमानो,

पुञ्जानि कयिराथ सुखावहानि ॥1/1/4 ॥ (संयुक्तनिकाय)

समय गुजर रहा है, रातें बीत रही हैं, जिन्दगी के जमाने एक पर एक निकल रहे हैं, मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिए ।

(15) नाफुसन्तं फुसति, फुसन्तं च ततो फुसं ॥1/1/22 ॥ (संयुक्तनिकाय)

नहीं छूने वाले को नहीं छूता है, छूने वाले को ही छूता है अर्थात् जिसकी कर्म के प्रति आसक्ति नहीं है, उसको उस कर्म का विपाक फल नहीं लगता है, आसक्तिपूर्वक कर्म करने वाले को ही विपाक फल का स्पर्श होता है ।

(16) छन्दजं अघं, छन्दजं दुक्खं,

छन्दविनया अघविनयो, अघविनयो, दुक्खविनियो ॥1/1/34 ॥

इच्छा बढ़ने से पाप होते हैं, इच्छा बढ़ने से दुःख होते हैं । इच्छा को दूर करने से पाप दूर हो जाता है, पाप दूर होने से दुःख दूर हो जाता है ।

(17) पुञ्जानि परलोकस्मिं, पत्तिट्ठा होन्ति पाणिनं ॥1/1/43 ॥

परलोक में केवल पुण्य ही प्राणियों का आधार होता है ।

(18) सत्थो पवसतो मित्तं, माता मित्तं सके घरे ।

सयं कतानि पुञ्जानि, तं मित्तं सांपरायिकं ॥1/1/53 ॥

हथियार राहगीर का मित्र है, माता अपने घर का मित्र है अपने किये पुण्य कर्म ही परलोक में मित्र हैं ।

(19) आलस्यं च पापतो च, अनुट्ठानं असंयमो ।

निद्रा तन्द्रा च ते छिद्दे, सव्वसो तं विवज्जये ॥1/1/76 ॥

आलस्य, प्रमाद, उत्साहहीनता, असंयम, निद्रा और तन्द्रा- ये छह जीवन के छिद्र हैं, इन्हें सर्वथा छोड़ देना चाहिये ।

(20) अत्तानं चे पियं जज्जा, न नं पापेन सयुंजे ॥1/3/4 ॥

जिसको अपनी आत्मा प्रिय है, वह अपने को पाप में न लगाये ।

(21) उभो पुज्जं च पापं च, यं मच्चो कुरुते इध ।

तं हि तस्स सकं होति, तं व आदाय गच्छति ॥1/3/4 ॥

मनुष्य जो भी पाप और पुण्य करता है, वही उसका अपना होता है । उसे ही लेकर परलोक से आता है ।

(22) हन्ता लभति हन्तारं जेतारं लभते जयं ॥ 1/3/15 ॥

मारने वाले को मारने वाला मिलता है, जीतने वाले को जीतने वाला ।

(23) यादिसं वपते बीजं, तादिसं लभते फलं ॥ 1/11/10 ॥

जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल पाता है ।

(24) मनोमयं गेहसितं च सव्वं ॥4/35/94 ॥

यह सारा गृह बन्धन अर्थात् संसार मन पर ही खड़ा है ।

(25) मिच्छादिट्ठकस्स, भिक्खवे,

द्विन्नं गतीनं अज्जतरा पाटिकंख-

निरयो वा तिरच्छानयोनि वा ॥2/3/7 ॥

भिक्षुओं ! मिथ्या दृष्टि आत्मा की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है - नरक अथवा तिर्यन्व ।

(26) सम्मादिट्ठकस्स, भिक्खवे,

द्विन्नं गतीनं अज्जतरा गति पाटिकंखा - देवा वा मनुस्सा वा ॥2/3/8 ॥

भिक्षुओ ! सम्यग्दृष्टि आत्मा की इन दो गतियों में से कोई भी एक गति होती है ।
देव अथवा मनुष्य

(27) पण्डितो जीवलोकस्मि, पापानि परिवज्जये ॥5/3 ॥ (उदान की सूक्तियाँ)
पण्डित वह है जो जीते जी पापों को छोड़ देता है ।

(28) सचे भायथ दुक्खस्स, सचे वो दुक्खमप्पियं ।

माकत्थ पापकं कम्मं, आवि वा यदि वा रहो ॥ 5/4 ॥ (उदान की सूक्तियाँ)
यदि सचमुच ही तुम दुःख से डरते हो और तुम्हें दुःख अप्रिय है, फिर प्रकट
या गुप्त किसी भी रूप में पाप कर्म मत करो ।

(29) सचे च पापकं कम्मं करिस्सथ करोथ वा ।

न वो दुक्खा पमुत्यत्थि, उपेच्च पि पलायतं ॥5/4 ॥ (उदान से)
यदि तुम पाप कर्म करते हो या करना चाहते हो तो दुःख से छुटकारा नहीं हो
सकेगा, चाहे भाग कर कहीं भी चले जाओ ।

(30) छन्नमतिवस्सति, विवटं नातिवस्सति ।

तस्मा छन्नं विवरेथ, एवं तं नातिवस्सति ॥5/5 ॥

छिपा हुआ (पाप) लगा रहता है, खुलने पर नहीं लगा रहता है । इसलिये छिपे
पाप को खोल दो, आत्मालोचन के रूप में प्रकट कर दो, फिर वह नहीं लगा रहेगा ।

(31) अरियो न रमती पापे, पापे न रमती सुची ॥5/6 ॥

आर्यजन पाप में नहीं रमते, शुद्धजन पाप में नहीं रमते ।

(32) सुकरं साधुना साधु, पापेन दुक्करं ।

पापं पापेन सुकरं, पापमरियेहि दुक्करं ॥5/8 ॥

साधु पुरुषों को साधु कर्म (सत्कर्म) करना सुकर है, पापियों को साधु कर्म करना
दुष्कर है ।

(33) तण्हाय विप्पहानेन, सववं द्विन्दति बन्धनं । (संयुक्त निकाय-1/1/6.5)
तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सब बन्धनस्वयं ही कट जाते हैं ।

“कर्मों के फल”

येन-येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः ।

तेन-तेन शरीरेण तत्-तत् फलमुपाश्रुते ॥3 ॥ (पृ. 5449 महाभारत)

मनुष्य जिस-जिस (स्थल या सूक्ष्म) शरीर से जो-जो कर्म करता है, उसी -

उसी शरीर से उस-उस कर्म का फल भोगता है ।

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम् ।

तस्यां तस्यामवस्थायां भुङ्क्ते जन्मनि-जन्मनि ॥4 ॥

जिस-जिस अवस्था में वह जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, प्रत्येक जन्म
की उसी-उसी अवस्था में वह उसका फल भोगता है ।

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह ।

ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥5 ॥

पाँच इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता है । वे पाँचों इन्द्रियों
और छठा मन-ये उस कर्म के साक्षी होते हैं ।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।

अनुव्रजे दुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ 6 ॥

अतः मनुष्य को उचित है कि यदि कोई अतिथि घर पर आ जाय तो उसको
प्रसन्न दृष्टि से देखे - उसकी सेवा में मन लगावे । मीठी बोली बोलकर उसे संतुष्ट
करें । जब वह जाने लगे तो उसके पीछे पीछे कुछ दूर तक जाय और जब तक वह
रहे, उसके स्वागत-सत्कार में लगे रहें- ये पाँच काम करना गृहस्थ के लिये पाँच
प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ कहलाता है ।

यो दद्यादपरिक्लष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।

श्रान्तायादृष्ट्यापूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥7 ॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिक को प्रसन्नतापूर्वक अन्न दान करता है, उसे महान्
पुण्य फल की प्राप्ति होती है ।

स्थाण्डिलेषु शयानानां गृहाणि शयनानि च ।

चीर बल्कलसंवीते वासांस्या भरणानि च ॥ 8 ॥

जो वानप्रस्थी वेदी पर शयन करते हैं, उन्हें जन्मान्तर में उत्तम गृह और शय्या
की प्राप्ति होती है । जो चीर और बल्कल वस्त्र पहनते हैं, उन्हें दूसरे जन्म में उत्तम
वस्त्र और उत्तम आभूषणों की प्राप्ति होती है ।

वाहनानि च यानानि योगात्मनि तपोधने ।

अग्नीनुपशयानस्य राज्ञः पौरुषमेव च ॥9 ॥

जिसका चित्त योगयुक्त होता है, उस तपोधन पुरुष को दूसरे जन्म में अच्छे-
अच्छे वाहन और यान उपलब्ध होते हैं तथा अग्नि की उपासना करने वाले राजा

को जन्मान्तर में पौरुष की प्राप्ति होती है ।

रसानां प्रतिसंहारे सौभाग्यमनुगच्छति ।

आमिषप्रतिसंहारे पशून् पुत्राश्च विन्दति ॥10॥

रसों का परित्याग करने से सौभाग्य की और मांस का त्याग करने से पशुओं तथा पुत्रों की प्राप्ति होती है ।

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।

दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥12॥

जो अतिथि को पैर धोने के लिये जल, बैठने के लिये आसन, प्रकाश के लिये दीपक, खाने के लिये अन्न और ठहरने के लिये घर देता है, इस प्रकार अतिथि का सत्कार करने के लिये इन वस्तुओं का दान 'पञ्चदक्षिण' यज्ञ कहलाता है ।

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते ।

उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥14॥

प्रजानाथ ! मनुष्य दान से धन पाता है, मौन व्रत के पालन से दूसरों से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त करता है, तपस्या से भोग और ब्रह्मचर्य-पालन से जीवन (आयु) की प्राप्ति होती है ।

रूपमैश्वर्यमारोग्यमहिं साफलमश्नुते ।

फलमूलाशिनो राज्यं स्वर्गः पर्णाशिनं भवेत् ॥15॥

अहिंसा धर्म के आचरण से रूप, ऐश्वर्य और आरोग्यरूपी फल की प्राप्ति होती है । फल-मूल खाने वाले को राज्य और पत्ते चबाकर रहने वाले को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

प्रायोपवेशिनो राजन् सर्वत्र सुखमुच्यते ।

गवाढ्यः शाकदीक्षायां स्वर्गगामी तृणाशनः ॥16॥

राजन ! जो आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठता है, उसके लिये सर्वत्र सुख बताया गया है । शाकाहार की दीक्षा लेने पर गोधन की प्राप्ति होती है और तृण खाकर रहने वाला पुरुष स्वर्ग लोक में जाता है ।

स्त्रियस्त्रिषवणं स्नात्वा वायुं पीत्वा क्रतुं लभेत् ।

स्वर्गं सत्येन लभते दीक्षया कुलमुत्तमम् ॥17॥

स्त्री सम्बन्धी भोगों का परित्याग करके त्रिकाल स्नान करते हुए वायु पीकर रहने से यज्ञ का फल प्राप्त होता है । सत्य से मनुष्य स्वर्ग को और दीक्षा से उत्तम कुल

को पाता है ।

सलिलाशी भवेद् यस्तु सदाग्निः संस्कृतो द्विजः ।

मनुं साधयतो राज्यं नाकपृष्ठमनाशके ॥ 18॥

जो ब्राह्मण सदा जल पीकर रहता है, अग्निहोत्र करता है, और मन्त्र साधना में संलग्न रहता है, उसे राज्य मिलता है और निराहारव्रत करने से मनुष्य स्वर्ग लोक में जाता है ।

उपवासं च दीक्षायामभिषेकं च पार्थिव ।

कृत्वा द्वादश वर्षाणि वीरस्थानाद् विशिष्यते ॥19॥

पृथ्वीनाथ ! जो पुरुष बारह वर्षों तक के लिए व्रत की दीक्षा लेकर अन्न का त्याग करता है और तीर्थों में स्नान करता रहता है, उसे रणभूमि में प्राण त्यागने वाले वीर से बढ़कर उत्तम लोक की प्राप्ति होती है ।

अधीत्य सर्ववेदान् वै सद्यौ दुःखाद् विमुच्यते ।

मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोकमुपाश्नुते ॥20॥

जो सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन कर लेता है, वह तत्काल दुःख से मुक्त हो जाता है तथा जो मन से धर्म का आचरण करता है, उसे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।

योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥21॥

खोटी बुद्धि वाले पुरुषों के लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्य के जीर्ण हो जाने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणनाशक रोग के समान सदा कष्ट देती रहती है, उस तृष्णा का त्याग कर देने वाले पुरुष को ही सुख मिलता है ।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।

एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥22॥

जैसे बछड़ा हजारों गौओं के बीच में अपनी माता को ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार पहले का किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचानकर उसका अनुसरण करता है ।

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।

स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुरा कृतम् ॥23॥

जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा न होने पर भी अपने समय का उल्लंघन नहीं करते ठीक समय पर फूलने-फलने लग जाते हैं, वैसे ही पहले का किया हुआ कर्म भी समय पर फल देता ही है ।

जीर्यन्ति जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।

चक्षुः श्रोत्रे च जीर्येते तृष्णौका नतु जीर्यते ॥ 24 ॥

मनुष्य के जीर्ण (जराग्रस्त) होने पर उसके केश जीर्ण होकर झड़ जाते हैं, वृद्ध पुरुष के दाँत भी टूट जाते हैं, नेत्र और कान भी जीर्ण होकर अन्धे-बहरे हो जाते हैं । केवल तृष्णा ही जीर्ण नहीं होती है । (वह सदा नयी-नवेली बनी रहती है) ।

येन प्रीणानि पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।

प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥25 ॥

येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ॥25 ॥

मनुष्य जिस व्यवहार से पिता को प्रसन्न करता है, उससे भगवान् प्रजापति प्रसन्न होते हैं । जिस व्यवहार से वह माता को संतुष्ट करता है उससे पृथ्वी देवी की भी पूजा हो जाती है तथा जिससे वह उपाध्याय को तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है ।

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ 26 ॥

जिसने इन तीनों का आदर किया, उसके द्वारा सभी धर्मों का आदर हो गया और जिसने इन तीनों का अनादर कर दिया, उसकी सम्पूर्ण यज्ञादिक क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।

यन्मन्त्रे भवति वृथोपयुज्यमाने यत् सोमे भवति वृथाभिषूयमाणे ।

यच्चाग्नौ भवति वृथाभिहूयमाने तत् सर्वं भवति वृथाभिधीयमाने ॥28 ॥

भीष्म जी कहते हैं - युधिष्ठिर ! वेद मन्त्रों का व्यर्थ (अशुद्ध) उपयोग (उच्चारण) करने पर जो पाप लगता है, सोमयाग को दक्षिणा आदि न देने के कारण व्यर्थ कर देने पर जो दोष लगता है तथा विधि और मन्त्र के बिना अग्नि में निरर्थक आहुति देने पर जो पाप होता है, वह सारा पाप मिथ्याभाषण करने से प्राप्त होता है ।

इत्येतदृषिणा प्रोक्तमुक्तवानस्मि यद् विभो ।

शुभाशुभफलप्राप्तौ किमतः श्रोतुमिच्छसि ॥29 ॥

राजन् ! शुभ और अशुभ फल की प्राप्ति के विषय में महर्षि व्यास ने ये सब बातें बतायी थीं, जिन्हें मैंने इस समय तुमसे कहा है । अब और क्या सुनना चाहते हो ।
(श्री महाभारते दानधर्म पर्व सप्तमोऽध्यायः)

8

कर्मों के विचित्र फल

धनहीन अवस्था

दानी को दान के करने से जो पापी मनुष्य हटाता है ।

चोरी करता है हँस-हँस के और धर्म से जी चुराता है ॥

हे गौतम ऐसा जीव सदा, धनहीन अवस्था पाता है ।

जीवन भर कष्ट उठाता है, मरकर दुर्गति में जाता है ॥ (गौतम पृच्छा)

भोग रहित धनी

साधु मुनियों की सेवा में जो प्राणी जाता रहता है ।

शास्त्र आदि द्वारा कुछ सेवा भी कर पाता है ॥

किन्तु दान देकर वह ऐसा फिर पीछे पछताता है ।

अगले भव में धन तो मिलता है पर न भोगने पाता है ॥

अपुत्रक

हरे-भरे वृक्षों को जो जालिम नर कटवाता है ।

वह अगले भव में जाकर के नहीं पुत्र देखने पाता है ॥

बाँझ

दे देकर गर्म दवाएँ जो गर्भों को दुष्ट गलाते हैं ।

और गर्भवती हिरणी आदि जीवों को जो मारकर खाते हैं ॥

ऐसे दयाहीन आत्मा जिस-जिस योनि में जाते हैं ।

वहाँ बाँझ का चोला पा करके सारी आयु पछताते हैं ॥

बालक जीवित नहीं रहना

हे गौतम जो पापी अन्डों को हँस-हँस कर खूब चबाते हैं ।

वे कर लें लाखों यत्न पर बालक नहीं जीने पाते हैं ॥

काना

जो दुष्ट भाव से अज्ञानी पर नारी को ताकता रहता है ।

और अवगुण साधु मुनियों के गिन-गिन कर हर्षाता है ॥

ऐसा पापी यहाँ से मरकर जिस-जिस भी योनि में जायेगा ।
हो कितना ही होशियार मगर काना ही बनता जायेगा ॥

गर्भपात

फलदार वृक्षों पर पत्थर जो पापी जन बरसाते हैं ।
तथा गर्भवतियों को मार-मार जो निर्दयी सताते हैं ॥
हे गौतम वो तड़फ-तड़फ कर बस गर्भ में ही मर जाते हैं ।
मिलते हैं करोड़ों कष्ट और आगे नरकों में जाते हैं ॥

अंधा

जो शहद के छत्ते के निचे अज्ञानी आग लगाता है ।
वो जहाँ-जहाँ भी जाता है एकदम अंधा हो जाता है ॥

गूंगा

अरहन्त देव गुरु जैन धर्म की जो निंदा को करता है ।
वो पापी गूंगा होता है और नरक में जाकर गिरता है ॥

बहरा

ऋषि मुनियों की निंदा सुनकर जो मन में खुशी मनाता है ।
और धर्म कथा होती हो तो चालाकी से सो जाता है ॥
औरों का भेद लेने के लिए ऊपर से मीठा बनता है ।
वह नर बहरा होता है और अंदर ही अंदर सड़ता है ॥

कोढ़ी

जो मोर, साँप, बिच्छू आदि जीवों को मार भगाता है ।
अपने लालच के खातिर वह जंगल में आग लगाता है ॥
वह देह मनुष्य की पाकर भी बिलकुल कोढ़ी हो जाता है ।

अंग जलना

जो पक्षी और पशुओं को भूखे प्यासे तड़फाता है ।
लेता है काम उनसे ज्यादा अंग-अंग जलता रहता है ॥

पथरी रोग

जो पुत्री बहन मौसी से छिप-छिपकर पाप कमाते हैं ।
हे गौतम वह पथरी के रोग से आयु भर दुःख पाते हैं ॥

अयोग्य सन्तान

जो ईर्ष्यालु दो प्रेमियों में नाहक रंजिस डलवाता है ।
वह चोर चकार संतानों को पाकर के कष्ट उठाता है ॥

युवा पुत्र की मृत्यु

रखकर अमानत गैरों की जो दयाहीन नट जाता है ।
पश्चात्ताप नहीं करते और दुखियों को धमकाता है ॥
धर्मी होकर मुकर जाना, यह काम नहीं इन्सानों का ।
परके धन को यों दबा लेना यह कारण है जवान पुत्र मरने का ॥

बाल विधवा

ऊपर से सती कहाती है अन्दर से पाप कमाती है ।
बचपन में विधवा होती है और शील में दाग लगाती है ॥

वेश्या

सास श्वसुर की लज्जा से ऊपर से शील कमाती है ।
कुछ धर्म ध्यान भी करती है माला भी रोज फिराती है ॥
पर मन से इच्छा विषयों को दिन रात उसे तड़फाती है ।
वह वेश्या होती है गौतम जो भोग भोगना चाहती है ॥

विधुर

जो नियम गुरु से लेकर के जल्दी से तोड़ गिराते है ।
चलते हैं धर्म विरुद्ध नहीं थोड़ा भी वे शमाते हैं ॥
चरती गायें अरु भैंसों को डंडे से मार भगाता है ।
वह स्त्री सुख नहीं पा सकता जो दयाहीन कहलाता है ॥

नपुंसक

बैलों को जो बेरहम जानकर खस्सी जो करवाते हैं ।
स्वारथ में अंधा होकर वह नामर्द बन जाता है ॥

धनी

निर्दोष अन्न जल मुनियों को श्रद्धा से जो वह देता है ।
दुखियों की रक्षा में पैसा पानी तरह बहाता है ॥

ऐसा दानी नर तन पाकर धनवान खूब बन जाता है ।
मिट्टी के हाथ लगाता है वह भी सोना बन जाता है ॥

सुन्दर शरीर और निर्मल बुद्धि

नव बाड़ सहित ब्रह्मचर्य व्रत को जन भक्त कमाता है ।
पापों को करके नाश तपस्या से जो जिस्म सुखाता है ॥
वह रोग रहित तीक्ष्ण बुद्धि बल से सुख शांति पावेगा ।
खूब सूरत मिले शरीर और आयु भर शोभा पावेगा ॥

मनोरथ सिद्धि

प्राणी मात्र पर दया भाव रखने से और रखाने से ।
होते हैं मनोरथ सिद्ध सभी पर उपकारी बन जाने से ॥

अजर-अमर

जिन पुत्रों के अनुसार जो तप में जोर लगाता है ।
वह जनम मरण का नाम मिटाकर अजर अमर हो जाता है ॥

निर्भय

जो प्राणी भयभीतों को अभयदान दिलाता है ।
दुष्टों के जाल में फँसे हुएों को जो जाकर छुड़वाता है ॥

बलवान

जो रोगी वृद्ध तपस्वी की भक्ति से सेवा करता है ।
वह होता है बलवान सूर जग सारा उससे डरता है ॥

सुस्वर

सारी आयु तक नर नारी जो सच्चा व्रत निभाते हैं ।
उनकी वाणी सुनकर दुश्मन तक भी खुश हो जाते हैं ॥

आज्ञा

तन मन धन से जो धरमी जन पर हित के कार्य करते हैं ।
उनकी वाणी लगती प्यारी जो चुगली से डरते हैं ॥

नीच जाति

उत्तम कुल में जन्म ले, जो करता अहंकार ।
नीच घरों में उसी का होता है अवतार ॥

मनुष्य - भव

शुभ सरल भाव रखने से और भक्ति में मन को लाने से ।
नर का चोला यूँ मिलता है जीवों के प्राण बचाने से ॥

पराधीन

मैं करोड़ पति हूँ, राजा हूँ, योद्धा हूँ शस्त्रधारी हूँ ।
वह दास पराया बनता है जो कहता मैं बलचारी हूँ ॥

माता-पिता का वियोग

पशुओं के बच्चों की माँ को जो निर्दयी मार गिराते हैं ।
अगले भव में वे माता-पिता का सुख जरा नहीं पाते हैं ॥

अकस्मात् लक्ष्मी प्राप्त

जो गुप्त दान दे-दे करके दानी मन में हर्षाता है ।
हे गौतम ऐसे धर्मवीर अकस्मात् लक्ष्मी पाता है ।

वैरकारी वचन

जो स्वाद में फँस के पंचेन्द्रिय जीवों को भी खा जाते हैं ।
मित्र भी उनके वचनों को सुनकर शत्रु बन जाते हैं ॥

स्त्री - वियोग

जो व्यभिचार परनारी से जबरन कुकर्म कमाते हैं ।
परलोक में उन दुष्टों के फिर कर्म ये अगाड़ी आते हैं ॥

सुभग

हे गौतम जो सच्ची श्रद्धा से धर्म में रत रहते हैं ।
वह सब को ही प्रिय लगते हैं जो हँसकर सिर को देते हैं ॥

दुर्बल

शक्ति या अभिमान में जो रहते हैं चूर ।
हे गौतम उनसे सदा शक्ति रही है दूर ॥

अज्ञान

हे गौतम ज्ञान का करते हैं अभिमान
उनको अगले जन्म में नहीं मिलता है ज्ञान ॥

कीर्ती

शील धर्म अखंड जो पाले चतुर सुजान ।
इन्द्र नरेन्द्र झुकते सदा करते हैं गुणगान ॥

पागल

लापरवाही से या जल्दी से बिन देखे कदम उठाते हैं ।
पाँवों से करते जीव हनन वह नर पागल बन जाते हैं ॥

रोगी

जो जालिम नगरी को अग्नि से जलाकर भस्म बनाता है ।
ऐसे पापी सोलह रोगों में पड़कर सड़ जाता है ॥

धर्म-द्रव्य के भोग का दुष्परिणाम

जिष्णुद्धार-पदिट्टा-जिणपूया-तित्थवंदणवसेसधणं ।

जो भुञ्जति सो भुञ्जति, जिणदिट्ठं णरयगदिदुक्खं ॥ (रयणसार-32)

जो व्यक्ति जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिन पूजा और तीर्थ-यात्रा के अवशिष्ट धन को भोगता है, वह नरक गति के दुःख को भोगता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है ।

पुत्रकलत्तविदूरो, दारिद्यो पंगुमूकबहिरंधो ।

चांडालादिकुजादो, पूयादाणादि दव्वहरो ॥ 33 ॥

पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला पुत्र-स्त्री रहित, दरिद्री, लंगड़ा, गूंगा, बहरा, अन्धा और चाण्डाल आदि कुजाति में उत्पन्न होता है ।

इच्छिदफलं ण लब्भदि, जदि लब्भदि सो ण भुञ्जदे णियदं ।

वाहीणमायरो सो, पूयादाणादि दव्वहरो ॥ 34 ॥

पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला इच्छित फल को प्राप्त नहीं करता है । यदि प्राप्त करता है तो वह उसे भोग नहीं पाता, यह निश्चित है । वह व्याधियों का घर (बन जाता है) ।

गदहत्थपादणासिय-कण्णउरंगुल विहीणदिट्ठीए ।

जो तिक्खदुक्खमूलो, पूयादणादि दव्वहरो ॥ 35 ॥

जो पूजा, दान आदि के द्रव्य का अपहरण करने वाला है, वह हाथ, पैर, नाक, कान, छाती और अंगुली से हीन (विकलांग), दृष्टिहीन, और तीव्र दुःख का भागी होता है ।

धर्म-कार्यों में विघ्न डालने वाले का फल

खय-कुट्ट-मूल-सूला, लूय भयंदर-जलोयरक्खिसिरो ।

सीदुणहवाहिरादी, पूयादाणांतरायकम्मफलं ॥ 36 ॥

क्षय, कुष्ठ, मूल, शूल, लूता (एक वातिक रोग अथवा मकड़ी का फरना, भगंदर, जलोदर, नेत्ररोग, सिर के रोग, शीतोष्ण से होने वाला सन्निपात आदि व्याधियाँ, ये सब पूजा, दान आदि में अन्तराय डालने के कर्म फल हैं ।

णरइ-तिरियाइ-दुगदी, दारिछ-वियलंग-हाणि-दुक्खाणि ।

देव-गुरु-सत्थवंदण-सुदभेद-सज्झयविद्यणफलं ॥ 37 ॥

नरक गति, तिर्यञ्च गति, दुर्गति, दरिद्रता, विकलांग, हानि और दुःख-यह सब देव-वंदना, गुरु-वंदना, शास्त्र वंदना, श्रुत वेद और स्वाध्याय में विघ्न डालने के फल हैं ।

पूजा और दान का फल

पूयफलेण तिलोक्के सुरपुज्जो हवदि सुद्धमणो ।

दाणफलेण तिलोए, सारसुहं भुञ्जदे णियदं ॥

शुद्ध मन वाला श्रावक पूजा के फल से तीनों लोकों में देवों से पूज्य होता है और दान के फल से तीनों लोकों में निश्चय से सारभूत सुख को भोगता है ।

सुपात्र दान से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति

दिण्णदि सुपत्तदाणं, विसेसदो होदि भोगसग्गमही ।

णिव्वाणसुहं कमसो, णिद्दिट्ठं जिणबरिदेहिं ॥

(यदि) सुपात्र को दान दिया जाता है (तो उसके फल स्वरूप) विशेष रूप से भोगभूमि और स्वर्ग प्राप्त होता है और क्रमशः निर्वाण सुख मिलता है, ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है ।

सुपात्र-दान का उत्तम फल

खेत्तविसेसो काले, वविद सुवीयं फलं जहा विउलं ।

होदि तहा तं जाणह, पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥

जैसे उत्तम क्षेत्र में, उपयुक्त काल में बोये हुए उत्तम बीज का विपुल फल मिलता है, उसी प्रकार उत्तम पात्रों को दिये उस दान के फल को जानो ।

सप्त क्षेत्रों में दिये दान का फल

इह णियसुवित्तवीयं, जो वपदि जिनुत्तसत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं, भुञ्जदि कल्लाणपंचफलं ॥

इस लोक में जो पुरुष जिनेन्द्र देव द्वारा कथित सप्त क्षेत्रों में अपने (नीतिपूर्वक उपार्जित) श्रेष्ठ धनरूपी बीज को बोता है, वह त्रिभुवन के राज्यरूपी फल को और पंच कल्याणक रूप फल को भोगता है ।

सुपात्र दान का फल

मादु-पिदुपुत्तं-मित्तं, कलत्त, धण, धण्ण-वत्थु-वाहण-विहवं-
संसारसारसोक्खं, सव्वं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥

माता, पिता, पुत्र, मित्र, स्त्री, गाय आदि पशु, अनाज, मकान, वाहन, वैभव और संसार के उत्तम सुख- यह सब सुपात्र-दान का फल जानो ।

सत्तंगरज्ज-णवणिहि-भंडार-सडंगबल-चउहस रयणं ।

छण्णवदि सहस्सिस्थी, विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥

सप्ताङ्ग राज्य, नवनिधि, कोष, छह प्रकार की सेना, चौदह रत्न, छियानवे हजार स्त्रियाँ और वैभव यह सब सुपात्र दान का फल जानो ।

सुकुल-सुरुव-सुलक्खण-सुमदि-सुसिक्खा-सुसील-सुगुण-सुचरितं ।

सयलं सुहाणुभवनं, विहवं जाणह सुपत्तदाणफलं ॥

उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम लक्षण, उत्तम बुद्धि, उत्तम शिक्षा, उत्तम स्वभाव, उत्तम गुण, उत्तम चरित्र, सकल सुखों का अनुभव और वैभव (यह सब) सुपात्र-दान का फल जानो ।

विभिन्न दुखों के कर्म

यत्रत्यं विमलं गृहीतमुदकं तत्र क्षिपेन्नादराद्

या स्त्री जीवदयान्विता गुणवती सञ्जायते सदृशी ।

दुर्गन्धा मलिना कुटुम्बरहिता दारिद्रणी रोगिणी ।

निःश्रीका विधवा क्षुधातुरवपुः पापात्मिका नामिका ॥ 10 ॥

(श्रा.चार.सं. पृष्ठ 207)

जो स्त्री जीवदया से युक्त और गुणवती है, उसने जहाँ का जल ग्रहण किया हो उस निर्मल जल की (जिवानी) को वहाँ आदर से छोड़ना चाहिए । जहाँ कहीं निरादर

से नहीं फेंकना चाहिए । जो जिवानी को निरादर से फेंकती है वह भव भव में दुर्गन्ध, मलिन, कुटुम्ब-रहित, दरिद्रिणी, रोगिणी, लक्ष्मी-रहित, विधवा, क्षुधातुर शरीर वाली, पापिनी इत्यादि नामों को धारण करने वाली होती है ।

बन्ध्या होने का कर्म

या देवार्चनमाचरेद् ऋतुमती गेहस्य वस्तु स्पृशेत् ।

कन्दर्पाभिमता चतुर्थदिवसे स्नानस्य शुद्धिं विना ॥

सा दुःखं सहते सुतं न लभते प्राप्नोति दौर्भाग्यतां ।

बध्नाति प्रथितं नपुंसकपदं बन्ध्या भवेन्नान्यथा ॥ 12 ॥

जो रजस्वला स्त्री देव-पूजन करे, घर की वस्तु स्पर्श करे और चौथे दिन स्नान की शुद्धि के विना काम-वासना से अभिभूत होती है अर्थात् रजस्वला की अवस्था में ही पति के साथ सहवास करती है, वह पुत्र को नहीं पाती हैं, प्रत्युत दुःख सहती है, दुर्भाग्य को पाती है और प्रथित (दीर्घ काल तक भोगे जाने वाले) नपुंसकवेद को बाँधती है, अथवा बन्ध्या होती है, यह कथन अन्यथा नहीं हो सकता ।

गर्भपात का दोष- जिस स्त्री के चित्त में शुद्धि नहीं है, न वस्त्रों में शुद्धि है न वचन में शुद्धि है, न घर में शुद्धि है और न देह में शुद्धि है वह स्त्री यदि देवादि के विषय में पूजन करती है तो उस स्त्रीके गर्भपात का दोष प्राप्त होता है ।

कुष्ठ रोग होने का कर्म

सन्मार्जयित्वा क्रियते न खण्डनं क्षुधाकुलव्याकुलया तथा स्त्रिया ।

साऽनन्तसंसारमटत्यसारतां कुष्ठेन देहावयवेषु कृत्यते ॥ 14 ॥

जो स्त्री भूख से आकुल-व्याकुल हो सन्मार्जन करके धान्यादि का खण्डन (उखली में कूटना) नहीं करती है, वह स्त्री असारता को प्राप्त होकर अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करती है और कुष्ठ (कोढ़) रोग से शरीर के अंगों में गलन पाती है अर्थात् कोढ़ से उसके अंग गल-गलकर छिन्न-भिन्न होते हैं ।

नीच योनियों को प्राप्त करने का कर्म

मनसि वपुषि वाचि जीवरक्षामकृतवती विदधाति पीषणं या ।

शुनकमाहिषसर्प शूकराणां भवमिह सा लभते सरासभानाम् ॥ 16 ॥

जो स्त्री मन में, शरीर में और वचन में जीव रक्षा का भाव न रखकर अन्नादि को पीसती है, वह स्त्री इस संसार में कूकर, भैंसा, साँप, सूकर और गर्दभो की

सभी नीच योनियों को प्राप्त करती है ।

वेश्या होने का कर्म

तपोधनानां तपसा सदृशं स्पर्धा दधानो कुरुते तपो यः ।

स चेत्कषायं मनसो न मुञ्चेन्नतो भवेदन्यभवे हि वेश्या ॥ 52 ॥

जो साधु स्पर्धा को धारण करता हुआ महातपस्वीजनों के सदृश तप को करता है और अपने मन की कषाय को नहीं छोड़ता है तो वह अन्य भव में वेश्या होता है ।

बाघ गधादि बनने का कर्म

क्रोधाद् व्याघ्रो भवति मनुजो मानतो रासभश्च,
मायायाः स्त्री धनविरहिता लोभतः सर्पयोनिः ।

कामात्पारावतभवसमुत्पत्तिसम्बन्ध भावो,
मोहनमोही परिजन सुतस्त्रीसुता बान्धवेषु ॥ 70 ॥

क्रोध करने से मनुष्य व्याघ्र होता है, अभिमान से रासभ (गदर्भ), मायाचार से धन रहित स्त्री, लोभ से सर्पयोनि, कामवासना से कबूतरों के भव में उत्पत्ति की परम्परा और मोह से परिजन पुत्र, स्त्री, पुत्री और बन्धुजनों में मोहित रहने वाला उत्पन्न होता है ।

रोगी आदि होने का कर्म

मत्तो हस्ती भवति मदतोऽहंकृतो निन्दितात्मा,
मन्त्राकृष्टैर्गदपरिवृतो हीन सत्त्वोऽपवृत्तैः ।

श्रुत्वा दुःखं गुरुपरिजने दण्डकान् मत्सरान् वा,
भस्मीचक्रे विवुधगतिना दण्डकारण्यभूमिः ॥ 71 ॥

मद करने से मनुष्य मदोन्मत्त हाथी होता है अहंकार करने से निन्दितात्मा (निन्दायोग्य) होता है, मंत्रों से आकर्षण, वशीकरण प्रयोग करने वाला रोगों से ग्रस्त और अपवृत्तों (कदाचारों) से सत्त्वहीन पुरुष होता है ।

दासी होना का कर्म

या दालिवर्त्तनपदादि पदे न दक्षा या रन्धने न निपुण परिपाक काले ।
या देहशौचमविधाय ददाति दानं या भाण्डभाजन शुची करणे न शुद्धा ॥ 33 ॥
या पर्वणि क्षपति कङ्कशिखां शिरोन्तं याऽनर्चिते सति जिने कुरुतेऽन्नपानम् ।
यो भोगभुञ्जनकृते नियमं निहन्ति सा नायिका भवति कर्मकारी भवाब्धौ ॥

जो भोजन-पाक के समय दाल-भात आदि के रांधने में दक्ष नहीं है नानाप्रकार के व्यंजन, पकवान आदि के बनाने में निपुण नहीं हैं, जो देह की शुद्धि के बिना दान देती है, जो भाँड-बर्तनादि के समारजन में कुशल नहीं है, जो चतुर्दशी आदि पर्व के दिन शिर पर कंकपत्र लगाती और चोटी संवारती है, जो जिन-पूजन को किये बिना ही खान-पान करती है जो भोगों को भोगने के लिए अपने व्रतों को नियमों को भंग करती है, वह स्त्री संसार समुद्र में कर्म करी दासी होती है ।

चाण्डालिनी होने का कर्म

आत्मनाथं परित्यज्य परनाथभिलाषिणी
असत्या जायते या स्त्री सा चाण्डालव्रजं भवेत् ॥ 38 ॥

जो स्त्री अपने स्वामी को छोड़कर परस्त्री के स्वामी की अभिलाषा करती है, वह असती होने के पाप से चाण्डाल के कुल को प्राप्त होती है ।

योच्छिष्टेन घृतादिना सह घृताद्यंसत्करोत्याकुला,
देवानामनिवेद्य या कदशनं शुद्धन्नमाभाषते ।
डिम्भानां न करोति छित्तमशुभं या भोजनं कुर्वतां,
तस्या जन्मनि जन्मनि प्रभवति प्रायेण चेटीक्रमः ॥ 39 ॥

जो स्त्री उच्छिष्ट (जूठे) घी आदि के साथ अच्छे घी आदि को मिलाती है, जो आकुल-व्याकुल होकर और देवों को नैवेद्य निवेदन नहीं करके स्वयं भोजन करती है, जो कदन्न (खोटे एवं सदोष अन्न) को शुद्ध अन्न कहती है, जो अशुभ भोजन करने वाले बालकों की शुद्धि नहीं करती है, उसके जन्म-जन्म में प्रायः चेटी-क्रम अर्थात् दासी होने की परम्परा चलती रहती है ।

मलिनवचो -मलिनमनोमलिन शरीरैश्च सङ्घवात्सल्यम् ।

यौ स्त्रीपुंसौ कुरुतस्तौ मालिन्यं कुलं यातः ॥ 40 ॥

जो स्त्री पुरुष मलिन वचनों से, मलिन मन से और मलिन शरीर से संघ का वात्सल्य करते हैं, अर्थात् खोटे मन, वचन, काय से संघ (साधर्मी) बन्धुओं को खिलाते-पिलाते हैं वे दोनों ही स्त्री-पुरुष मलिन (नीच) कुल को प्राप्त होते हैं ।

विष्टा में कीड़ा होने का कर्म

नय शास्त्रं जनन्नपि जैनागमवेदकोऽपि यः पुरुषः ।

व्यवहारं चोरयति प्रभवति गूथे कृमिः सोऽर्थी ॥ 41 ॥

जो पुरुष न्याय नीति के अथवा नय विषय के शास्त्रों को जानता हुआ भी और जैनागम का वेत्ता होकर भी व्यवहार को चुराता है, अर्थात् अपना व्यवहार सम्बन्धी कर्तव्य पालन नहीं करता है वह स्वार्थी विद्या में कीड़ा पैदा होता है ।

नीचकुल में जन्म लेने का कर्म

यः परधर्मः कथयति नात्मचित्ते प्रबोधमुपनयति ।

सञ्जायते स पापी भवे-भवे नीचकुलमयते ॥ 42 ॥

जो पुरुष पर (अन्य मत) के धर्म को अथवा दूसरे के लिए धर्म को कहता है और स्वयं अपने चित्त में प्रबोध को प्राप्त नहीं होता है, वह भव-भव में नीचकुल को प्राप्त होता है ।

जड़ता (मूर्खता) के कर्म

शास्त्रावज्ञावाहनं क्षार-वाक्यं सर्वज्ञोक्तं निन्दितं येन चक्रे ।

वायो प्राप्तिर्विस्मृतिर्मूकभावो ग्राहो जाड्यं जायते तस्य चित्ते ॥ 205 ॥

जो पुरुष शास्त्रों की अवज्ञा, सवारी पर चढ़ना अथवा दूसरों से बोझा डुवाना, तीखे वचन और सर्वज्ञ भाषित वाक्य की निन्दा करता है, उसको वायु रोग की प्राप्ति, विस्मृति, मूकता, ग्रह-ग्रहणता और चित्त में जड़ता होती है ।

वातला प्रकृतिर्यस्य तस्य कुंठा मतिर्भवेत् ।

पित्तला प्रकृतिर्यस्य तस्य तीव्रा मतिर्भवेत् ॥ 206 ॥ (पृ. 229)

जिस पुरुष की वायु प्रधान प्रकृति होती है, उसकी बुद्धि कुंठित होती है । तथा जिस पुरुष की प्रकृति पित्त प्रधान होती है, उसकी बुद्धि तीव्र होती है ।

अशुद्धचित्तेन करोति पूजां जिनेश्वराणां गुणसागराणाम् ।

अशौचदेहेन ददाति दानं मुनीश्वराणां परमार्थहितो ॥ 207 ॥

त्रिंशत्कोट्याः कोटि वारिनिधिनां स्थितेः समारव्याता ।

जीवस्य तस्य महती ज्ञानावरणीयकर्मणोऽभ्युदये ॥ 208 ॥

जो गुणों के सागर ऐसे जिनेश्वरों की अशुद्ध चित्त से पूजा करता है और अशुचि देह से मुनिश्वरों को परमार्थ के निमित्त दान देता है उस जीव के ज्ञानावरणीय कर्म की तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, ऐसे तीव्र कर्म का उसके उदय होने पर मनुष्य अत्यन्त मन्द बुद्धि वाला मूर्ख होता है ।

पाप कर्म के फल

पापेन गेहं बहुछिद्रजर्जरं पापेन रोगालपितं कलेवरम् ।

पापेन पुत्राश्चिरजन्मवैरिणो भवन्ति पापेन तत्रा कुटुम्बिनः ॥348 ॥ (पृ. 243)

पाप से अनेक छिद्रों से जर्जरित गृह प्राप्त होता है, पाप से रोग ग्रसित शरीर मिलता है, पाप से चिरकाल तक वैर रखने वाले पुत्र होते हैं और पाप से कुटुम्बी वैरी होते हैं ।

यद्यद्वस्तु विरुद्धं तत्तत्सर्वं च पापतो भवति ।

इति विज्ञाय जिनेन्द्र -प्रोक्तो धर्मोऽत्र संसेव्यः ॥353 ॥

संसार में जो वस्तु अपने को प्रतिकूल प्राप्त होती है, वह सब पाप से होती है ऐसा जानकर इस लोक में जिनेन्द्र भाषित धर्म का सेवन करना चाहिए ।

कर्म फल के उदाहरण

वार्तानिष्ठीवनं श्लैष्मो जृम्भणं कोपकर्तृता ।

कृपणत्वं कदर्यत्वं क्लीबत्वं मलिनात्मा ॥31 ॥

एते दोषा विधीयन्ते मुनि भुक्तिक्षणे यया ।

सा याति नरकं घोरं पुराऽमृतवती यथा ॥32 ॥

जो स्त्री मुनि के भोजन के समय वार्तालाप, निष्ठीवन, श्लेष्म क्षेपण करती है, (जंभाई लेती है) और क्रोध करती है, कृपणता कदर्यता (कंजूसी), क्लीबता (हीन भावना) और मलिनता रखती है वह घोर नरक को जाती है । जैसे कि पूर्वकाल में अमृतवती रानी मुनि से घृणा करने से नरक में गयी है ।

अशुद्ध शरीर से पूजा करने से करकण्डु को चर्म रोग

परिलिप्तपङ्कहस्तो गोपचरोऽपूजयाज्जिनेशादीन् ।

स च करकण्डनामा नृपतिरभूदित्युपाख्यानम् ॥43 ॥

पंक (काद-कीचड़) से लिप्त हस्तवाले ग्वाले के जीव ने जिनदेव आदि की पूजा की थी, वह इस भव में करकण्डु नामका राजा हुआ जिसके हाथ खुजली को खुजाते रहते थे, यह उसका कथानक प्रसिद्ध है । पूजा के कारण राजा बना परन्तु अशुद्धि के कारण खुजली हुई ।

सीता का लोकापवाद होने का कर्म

रूपवती पूर्वभवे चकारचित्ते मुनीश्वरावज्ञाम् ।

सा सीता सज्जाता सत्यपि लिप्ता कलङ्केन ॥44॥

सीता के जीव ने पूर्वभव में रूपवती होने के कारण मुनीश्वर की अवज्ञा की थी, इस कारण इस भव में सती होते हुए भी वह कलंक से लिप्त हुई, अर्थात् उसका लोक में अपवाद फैला ।

द्रौपदी का अपमान होने का कर्म

मुनीश्वरं चित्रवती निनिन्द गवान्धिता पूर्वभवान्तरे या ।

सा द्रौपदी प्राप-कचापनोदं दुःशासनाद् भीमसमीपसंस्था ॥45॥

द्रौपदी के पूर्व भव के जीव चित्रवती ने पूर्व भवान्तर में गर्व से अन्धी होकर मुनिराज की निन्दा की थी उसके फल से द्रौपदी इस भव में भीम के समीप स्थित होने पर भी दुःशासन से केशों के आकर्षण को प्राप्त हुई, अर्थात् दुःशासन ने उसे चौटी पकड़ कर खींचा ।

राजीमति का राज्यभंग का कर्म

मुनेः समाधि युक्तस्य या धृते वृत्तखण्डनम् ।

राज्यातिखण्डनां सेति पुरा राजीमती यथा ॥46॥

जो स्त्री समाधि युक्त मुनि के चरित्र का खण्डन करती है वह पूर्वभव में राजीमती के समान राज्यभंग को प्राप्त होती है ।



